अपनी स्नेहशीला छोटी बहिन
आचार्या मेधा
के लिए —

अभया

मनु और मनुवाद : एक तार्किक समीक्षा

डॉ० अरुणकुमार

प्रकाशक -
'श्यामा – यदुवंश न्यास' की
ओर से कोषाध्यक्ष,
वसु विक्रम, ६७१ लाल बाग,
फैजाबाद, उ० प्र०, २२४००१

मूल्य – रू० 125/– मात्र

प्रथम संस्करण –५०० प्रति

लेज़र कम्पोज़िंग - दिशा कम्प्यूटर कैम्पस,
बछड़ा रोड, फैजाबाद, उ०प्र०,
फोन नं० 814193

मुद्रक – रघुवंशी आफसेट प्रेस,
गद्दोपुर, फैजाबाद, उ०प्र०,
फोन नं० 812194

समर्पण

'मान्यवर' कांशीराम और कुमारी मायावती

तथा

अन्यान्य अनवादियों

के

इस आशा से कि वे मनु को समझ सकेगें

और

अपनी ऊर्जा और नेतृत्व का उपयोग

देश, जाति और धर्म की रक्षार्थ

करेगें

(क) शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् , — १०.६५

(ख) आर्योभवेद्गुणैः ... इति निश्चयः — १०.६७

(ग) येप्यतीताः स्वधर्मेभ्यः परपिण्डोपजीविनः ।
द्विजत्वमभि कांक्षन्ति तां शूद्रानिवाचरेत् ।। ८.१०२

निवेदन

'मनु और मनुवाद-एक तार्किक समीक्षा, के शीर्षक से इस पुस्तक को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए, जहां कार्य को पूरा कर पाने का सन्तोष है, वहीं थोड़ा दुःखी भी हूं कि आज बीसवीं शताब्दी ईस्वी के अन्तिम दशक में शिक्षा के प्रचार–प्रसार के युग में भी मुझे मनु के समर्थन में कुछ कहने की आवश्यकता पड़ी है, कुछ लिखने के लिए बाध्य होना पड़ा है। मुझे स्मरण है कि आज से ३० से भी अधिक वर्ष पूर्व एक समाचार छपा था कि राजस्थान उच्च–न्यायालय के परिसर में महानतम और आद्य न्याय शास्त्र प्रणेता 'भगवान' मनु की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना होने वाली है। फिर समाचार आया कि मनु को जातिवादी और 'वर्ण' जैसी गर्हित व्यवस्था की अवधारणा को शास्त्रीय आयाम देकर समाज में सुप्रतिष्ठित कराने का दोषी घोषित करते हुए ही, कुछ भ्रमित व्यक्ति उनकी प्रतिमा की प्रतिष्ठापना का विरोध कर रहे हैंऔर अन्ततः पढ़ने को मिला कि उस प्रस्तावित प्रतिमा की प्रतिष्ठापना नहीं की जा सकी थी। उस समय मुझे क्षोभ हुआ था और विश्वविद्यालय से शोध कार्य छोड़ कर नया–नया ही निकला होने के कारण, उत्साह में मैंने, इस विरोध के विरोध में दो लेख स्थानीय समाचार पत्रों में भेजे थे। उस समय वे प्रकाशित नहीं हो सके थे और बाद मे समझ में आया था कि 'हितवाद' में मार्क्सपंथियों का बोलवाला था और 'नागपुर टाइम्स' में श्री अनन्त गोपाल शेवड़े जी ने मेरे लेखों को सम्भवतः ब्राह्मणवाद का पक्षधर समझ कर ही, प्रकाशित करना उचित न समझा होगा।

ईस्वी सन् १९५५ में 'इतिहास' में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करके, गुरुवर डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय के निर्देशन में 'महाभारत में वर्णित राजनीतिक परिस्थिति और राजनयिक विचार' पर शोध के सम्बन्ध में समसामयिक ग्रन्थों का अध्ययन करते समय, सभी स्मृतियों और अन्यान्य समाज शास्त्रीय और राजनय के ग्रन्थों का पारायण किया था। तभी पुस्तकालय में किन्हीं डा० एन.एन. सिंह (?) का मनु पर लिखा गया शोध प्रबन्ध (संस्कृत विभाग) भी पढ़ा था। पांच वर्ष तक कार्य करने के बाद भी मैं अपना शोध प्रबन्ध पूरा नहीं कर सका था और मुझे ईस्वी संन १९६० के प्रारम्भ में ही भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण में नियुक्ति स्वीकार करके नागपुर आ जाना पड़ा था। वहां आने के बाद प्रारम्भिक कुछ वर्षों में पुराना पढ़ा हुआ अभी विस्मरण नहीं हो सका था, अतः पूर्व उल्लिखित दोनों लेख लिख सका था। इन लेखों के प्रकाशित न हो सकने पर इच्छा हुई थी कि मनु की तात्विक विवेचना करते हुए एक पुस्तक ही लिख डालूं, परन्तु बढ़ते पारिवारिक उत्तरदायित्वों के निर्वहन और पुरातत्व के सभी क्षेत्रों का सम्यक् ज्ञान उपार्जित करने के साथ ही कार्यालय के दायित्वों को पूरा करने में पूरी तरह से व्यस्त रहने के कारण यह इच्छा कभी पूरी नहीं हो सकी। फिर मैं सोचने भी लगा था कि यदि आवश्यकता ही होती तो देश में इतने बड़े विद्वान हैं, प्राध्यापक हैं, वे ही मनु पर कुछ न कुछ तो लिख ही डालते। इस इच्छा के पूरी न होने का एक अन्य कारण भी था। यदि एक ओर पुरातत्व के उत्खननों और उनकी आख्याओं

के अध्ययन,संयोजन और लेखन में व्यस्त रहने के कारण, किसी अन्य विषय पर सोचने का समय कम ही मिल पाता था, तो दूसरी ओर, इस मनन—चिन्तन की कमी को अन्यान्य विचारकों की पुस्तकों को पढ़ कर पूरा करने के साधन भी नहीं, उपलब्ध होते थे। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के मण्डलीय पुस्तकालयों में मनु जैसे समाज शास्त्रीय विषयों की पुस्तकों का नितान्त अभाव ही रहता है।

ईस्वी सन १९९३ के अन्त में भारतीय पु. सर्वेक्षण से अवकाश ग्रहण कर लेने के बाद मैं अपने पैतृक निवास स्थान, फैजाबाद आ गया था। आते ही रुग्ण पत्नी की दीर्घ और कठिन परिचर्या के सात—आठ महीनों में समाचार पत्र पढ़ने और सोचते रहने के अतिरिक्त कुछ और करना असम्भव ही था। फिर भी उन दिनों समाचार पत्रों में *'तिलक तराजू तलवार, उन्हें मारो जूते चार'* जैसे उद्‌घोष के साथ ही मनु और मनुवाद की आलोचना, निन्दा और भर्त्सना करने वाला कोई न कोई वक्तव्य लगभग नित्य ही पढ़ने को मिला करता था। अतः मैंने ईस्वी सन १९५१ में बी.ए. की पाठ्य पुस्तक के रूप में ली गई मनुस्मृति (कुल्लूक की टीका सहित) खोज निकाली और उसका अनेक बार पारायण किया। उन दिनों मेरे सतीर्थ और मित्र डा० कान्ति प्रसाद नौटियाल यहीं उप कुलपति थे। उनकी सहायता से विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में मनु सम्बन्धी पुस्तकों की खोज करवाई थी, पर वहां भी उनका नितान्त अभाव ही था। इसके अतिरिक्त यहां दो स्नातकोत्तर महाविद्यालय, एक गुरुकुल तथा अनेक पाठशालाऐं हैं पर कहीं भी कोई वांछित पुस्तक नहीं मिल सकी थी।

इसी बीच में अपनी *'देवयान, संस्कृति का विकास और वेद'* पुस्तक को पूरा करने में व्यस्त हो गया था। पुस्तक पूरी हुई और जब कम्प्यूटर पर टाइप सेटिंग हो ही रही थी, कि २७—२८ मई, १९९६ को संसद में विश्वास मत सम्बन्धी कार्यवाही का प्रसारण देखने और सुनने का अवसर मिला। अब तक तो आलोचकों के वक्तव्य ही पढ़ा करता था, पर इस बार वक्तव्यों को सुनने का ही नहीं, वक्तव्य देते समय वक्ताओं की मुख—मुद्रा को भी देखने का अवसर मिला था। मैं स्तब्ध रह गया था— इतनी घृणा, इतना द्वेष और यह सब का सब घोर अज्ञान पर ही आधरित! मैं अपने को रोक नहीं पाया था और दो चार दिनों में ही लोक सभा में की गई सभी समाज शास्त्रीय आलोचनाओं का, न कि राजनीतिक आरोपों का, उत्तर लिख डाला था। जब उसके समाचार पत्रों में प्रकाशन की कोई अन्य व्यवस्था न हो सकी, तो उसे स्वयं ही मुद्रित करवा कर, सोलह पृष्ठों के 'पत्रक' के रूप में वितरित करवाया था। उसके बाद अन्यान्य विद्वानों के व्यक्त—अव्यक्त विचारों और कथनों—वक्तव्यों के अवलोकन करके, पुस्तक को यथा सम्भव पूर्ण बनाने की इच्छा को तिलांजति देकर इसे, 'where Angels fear to tread' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए ही, पूरा कर सका हूँ।

यदि सामाजिक न्याय के तथाकथित पक्षधर नेता अपने अज्ञान में ही, मनु और मनुवाद को गाली देते हुए ही, अपनी चुपड़ी सिद्ध करने में प्राण—पण से जुटे हुए हैं, तो ज्ञानियों में भी स्पष्ट रूप से दो पक्ष हैं। एक ओर तो मार्क्सपंथी साम्यवादी—समाजवादी हैं, जो अपनी छद्‌म कूटनीति के अन्तर्गत ही सामाजिक

न्याय के मनोमोहक और 'चारुवाक' तर्कों की आड़ में अपने 'God that Failed' को जिताना और जिलाना चाहते हैं। दूसरी ओर अन्य विद्वान निष्पक्ष और सत्य निष्ठ होते हुए भी, मनु का समर्थन करने में संकोच करते हैं। आज कल, वर्तमान समय में गालियों की शीर्ष त्रिपुटी में 'कम्यूनल', 'संघ परिवार' के साथ ही 'मनुवाद' अथवा 'ब्राह्मणवाद' तीसरी सबसे बड़ी गाली बन चुका है। सम्भवतः इसी भय से श्री शेवड़े ने भी मेरे लेख को छापना उचित नहीं समझा होगा।

इन्हीं विद्वानों की अन्य कोटि भी है। इन्होंने मनु को पढ़ा और पढ़ाया तो है, पर सम्भवतः उनकी मान्यताओंपर यथेष्ट मनन—चिन्तन का समय नहीं निकाल पाए हैं। मुझे बहुत स्पष्ट स्मरण है कि ईस्वी सन १६५५ में एम.ए. कर चुकने के वाद, जब मैं अपने गुरुजनों से परामर्श करके शोध के लिए कोई उचित विषय खोज रहा था, तब गुरुवर डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने 'प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था में ब्राह्मणों की स्थिति' और 'महाभारत में वर्णित राजनीतिक परिस्थिति ओर राजनयिक विचार' जैसे दो विषय बता कर गुरुणां गुरु पं. क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय जी की सम्मति ले लेने की आज्ञा दी थी। पंडित जी मुझसे बहुत स्नेह करते थे और उन्होंने मुझे अपने घर के पास ही एक कमरा दिला कर, अपने निजी पुस्तकालय में पढ़ने की अनुमति दे रखी थी। संध्या समय मैंने दोनों विषय दिखा कर जब उनकी सम्मति जाननी चाही थी, तब उन्होंने कहा था कि कल वे डा० पाण्डे से चर्चा कर लेंगे। दूसरे दिन, जब मैं डा० पाण्डे के कक्ष के पिछले भाग में उनकी पुस्तकें और नोट—कार्डस व्यवस्थित कर रहा था, तब पंडित जी आए थे, कहा था 'गोविन्द, कभी किसी अब्राह्मण को ब्राह्मण पर शोध कार्य करने के लिए मत कहना' और लौट गए थे। उन्होंने मुझे नहीं देखा था। नित्य की भांति जब मैं उनके घर गया तब उन्होंने मुझे बताया कि उन्होंने डा० पाण्डेय से चर्चा कर ली है और मुझे महाभारत पर ही काम करना चाहिए, वही सुविधा पूर्ण होगा। उनका कहना बहुत अंशों में सर्वथा उचित था, उस समय मुझमें साधारण संस्कृत समझने की योग्यता तो अवश्य थी, परन्तु वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों को समझ सकने की क्षमता कदापि नहीं थी। परन्तु आज लगता है कि विद्या और शोध के क्षेत्र में ऐसा छिपाव और अविश्वास क्यों? मुझे तो निश्चित ही यह छिपाव और अविश्वास मनु के मन्तव्यों के विषय में स्वतंत्र चिन्तन—मनन का अभाव ही सूचित करता है।

यह तो हुई चालीस वर्षों से भी पुरानी बात। अब कल की ही बात लें। वसिष्ठ, विश्वामित्र और स्वामी रामदास का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए ठीक ही कहा गया है कि शुद्ध ब्राह्मण समाज के सुख दुःख से कभी भी निरपेक्ष नहीं हो सकता था—*लोकस्याप्यायने युक्तान्* (मनु ३.२१३)। वह उसकी सर्वाङ्गीण उन्नति और सुरक्षा के लिए सदैव चिन्तित और सतत प्रयत्नशील रहा करता था। परन्तु 'वाक' ही उसका शस्त्र था— *वाक्शस्त्रं वै ब्राहाणस्य तेन हन्यादरीन्* (वही ११. ३३)। यतः *'विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते'* (वही ११.३५), ऋषि विश्वामित्र ने समर्थ होते हुए भी, स्वयं शस्त्र पाणि होकर नहीं, वरन भगवान श्री

राम को प्रशिक्षित करके ही आसुरी शक्तियों का नाश करवाया था। इसीप्रकार, गुरू समर्थ रामदास ने भी शिवाजी महाराज को अपने उद्‌बोधन से ही हिन्दू–द्वेषी विधर्मी राक्षसों से टकराने की प्रेरणा दी थी। आगे, परशुराम, पुष्यमित्र शुङ्ग, सिन्ध के 'चाच', काबुल के ब्राह्मण राजवंश और पेशवाओं का उल्लेख ('Cast aspersions', *इन्डियन एक्सप्रेस,* नई दिल्ली, जुलाई 8, 1996) वास्तव में ब्राह्मण का नहीं, वरन् क्षत्रियों के निर्वीय हो चुकने की स्थिति में, ब्राह्मण्य छोड़कर, क्षत्रिय वर्ण धर्म को स्वीकार करने वाले व्यक्तियों के उदाहरण माने जा सकते हैं। ये सभी *'विधाता शासिता वक्ता* अर्थात् उद्‌बो धक–उत्प्रेरक न होकर, कर्म कुशल क्षत्रिय ही माने जाने चाहिए। इन्हें ब्राह्मण कहना –मानना, मनु के मन्तव्यों के विपरीत, जन्मना वर्ण की मध्यकालीन जाति प्रथा की स्वीकृति ही अधिक प्रतीत होती है।

पुनः, ३० जुलाई (१९९६) को फैजाबाद रेडियो स्टेशन से उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द पर एक लघु वार्ता प्रसारित हुई थी। विद्वान वार्ताकार डा० प्रकाश द्विवेदी ने प्रेमचन्द पर ब्राह्मण विरोध का आरोप लगाते हुए कहा था कि उन्हें पं० मदन मोहन मालवीय जैसे श्रेष्ठ ब्राह्मण नहीं दिखे, दिखे तो केवल 'गोदान' के दातादीन–मातादीन और *'नमक के दरोगा'* के एक पात्र अलोपीदीन। यदि १९९६ में ऐसे विद्वान वार्ताकार प्रेमचन्द के इन पात्रों के चरित्र चित्रण को ब्राह्मणों (?) की निन्दा मानते हैं, तो उनसे मुन की सार्थक समीक्षा करने की आशा करनी व्यर्थ होगी। ऐसी आशा करने पर निराशा ही हाथ लगेगी। सम्भवतः उन्हें ज्ञात नहीं होगा कि स्वयं मनु ने ही विद्या और संस्कार विहीन तथा परजीवी होकर भी ब्राह्मणत्व का अहंकार पूर्व आडम्बर करने वालों– *द्विजत्वमभिकांक्षन्ति*– के साथ शूद्रवत् व्यवहार करने की आज्ञा दी थी– *तांश्च शूद्रानिवाचरेत्* (८.१०२)। अब यदि मुंशी प्रेमचन्द द्वारा ऐसे *'जातिमात्रोपजीवी'* ब्राह्मणों के 'शूद्रवत्' आचरण का चित्रण करके, उनकी जीवन पद्धति को उजागर करने को ब्राह्मण विरोध कहा जाता है, तो मैं नहीं समझता कि सामाजिक न्याय के पक्षधरों को बहुत अधिक दोष दिया जा सकता है।

ऐसी ही एक घटना मेरे साथ भी घटी थी और मुझे भी ब्राह्मण विरोधी कहा गया था। ईस्वी सन १९८१ के उत्तरार्ध में मुझे सारनाथ संग्रहालय का प्रभारी बनाकर भेजा गया था। वहां वर्षों से दैनिक वेतन भोगी के रूप में त्रिपाठी परिवार के दो युवक रात्रिकालीन चौकीदारी किया करते थे। आगरे से मेरे परिवार के आ जाने के दूसरे ही दिन प्रातः काल द्वार खटखटाए जाने पर मेरी पत्नी ने देखा तो उन्हीं दोनों युवकों को खड़े पाया। पूछने पर उन्होंने बताया था कि वे अपने अधिकारी और उसके परिवार का शुभ करने के लिए ही, नित्य अपना ब्राह्मण मुख दिखाते रहें है और आज भी इसी लिए ही आए हैं। यह सुन कर मैं बाहर आ गया था और आगे से उन्हें इस प्रकार आकर हमारा अपशकुन करने से वर्जित कर दिया था। कार्यालय में दिन भर कानाफूसी होती रही थी और कार्यावधि समाप्त होने पर उन्हीं दोनों युवकों के पिता, जो कि संग्रहालय के स्थाई कर्मचारी थे, मेरे पास आए थे और, अपने लड़कों के उदास होने की चर्चा करके, उन्होंने मेरे

कथन का औचित्य जानना चाहा था। मैंने उन्हें बताया कि मातृमुख से सुनी परम्परा के अनुसार स्नान–ध्यान करके तिलक लगा चुके ब्राह्मण और बुहारी लेकर परिष्कार करते हुए शूद्र का अर्थात् *'प्रशस्तानां स्वकर्मसु'*–अपने अपने नियत कर्मो का यथोचित निर्वहन करने वालों का ही मुख देखना शुभ होता है, इसके विपरीत अशुभ। मैंने यह भी कहा था कि सरकारी नौकरी में नियुक्ति के पद के अनुरूप ही श्रेष्ठ और अवर का निर्धारण होता है, जन्म से नहीं और प्रातः आंखे खुलते ही मुझे अकर्मण्य लोगों का–अविद्वान ही नहीं, मूर्ख भी, ब्राह्मणों का मुंख देखना कदापि अच्छा नहीं लगता है। इसके बाद कार्यालय के सभी 'जन्मना' ब्राह्मण परिचरों और अन्य कर्मचारियों ने मुझे ब्राह्मण विरोधी शूद्र घोषित कर दिया था।

दूसरी ओर, आगरा मण्डल में रहते हुए घटी एक घटनाआज भी मेरी स्मृति में सुरक्षित है। नकली सामान के साथ असली के मूल्य की रसीद ले आने पर शूद्रवर्गीय भण्डारी बाबू को तत्कालीन अधीक्षण पुरातत्व विद, श्री बृज मोहन पाण्डेय ने डांट दिया था और परिणाम स्वरूप उन्हें अनुसूचित जाति आयोग के समक्ष हुई झूठी शिकायत की सफाई देने पड़ी थी। बाद में पटना और लखनऊ मण्डलों में रहते हुए चतुर्थ वर्गीय क्षत्रिय कर्मचारियों को 'बाबू साहब' न कहे जाने पर बुरा माना जाना,अगड़े और तगड़े–पिछड़े का आपसी विद्वेष और तनाव तथा अनुसूचित वर्ग के अधिकारियों का घोर अज्ञान, जिज्ञासा का अभाव और अयोग्यता के साथ ही उनकी भयंकर एंठ,सभी कुछ बहुत पास से देखने का अवसर मिला है। कह सकता हूं कि 'तमाशा घुस कर देखा' है।

ऊपर मनु के सम्बन्ध में अन्यान्य आधुनिक विद्वानों और विचारकों की व्याख्याओं की अनुपलब्धता का उल्लेख किया जा चुका है। इधर सुना है कि भण्डारकर प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, पूना से मनु के पाठालोचन का प्रयास हो रहा है और शीघ्र ही संशोधित संस्करण प्रकाशित होने वाला है। परन्तु वहीं से प्रकाशित महाभारत तथा प्राच्यविद्या संस्थान, बड़ोदरा से प्रकाशित रामायण का अध्ययन कर चुकने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि यद्यपि ऐसे संस्करणों में उस उस ग्रन्थ के नाम पर प्रचलित सभी वचन और संदर्भ एक ही स्थान पर मिल जाते हैं, परन्तु स्वीकृत पाठों के सम्बन्ध में अनिश्चितता तब भी समाप्त नहीं हो पाती है। सम्पादक अपने दृष्टि कोण और क्षमता के अनुरूप ही पाठ स्वीकृत करते हैं और उनमें संशोधन का पर्याप्त अवकाश रहता है और अनेक बार अनुसूचित पाद टिप्पणियों में रखे गए पाठ स्वीकृत पाठों की अपेक्षा श्रेष्ठ होते हैं (सी.ए. लेविस, १६६०:१८६–१६६)। अनेक बार परिशिष्ट में डाल दिए गए तथा कथित प्रक्षिप्त अंश किसी विलुप्त प्राय किन्तु प्राचीन परम्परा का सन्धान देते प्रतीत होते हैं, जिन्हें सुरक्षित रखने के लिए ही स्थान–अस्थान पर टांक दिया गया है (अरुणकुमार १६८३:८६–१०७, विशेष रूप से पृ. १०५ पर टिप्पणी संख्या ६०–६१)। इस प्रकार कोई भी पाठ उठा लें,किसी में कुछ कम, किसी में कुछ अधिक तो हो सकता है, परन्तु इससे लेखक के मूल मन्तव्यों पर कोई विशेष और महत्व पूर्ण अन्तर पड़ने की सम्भावना नगण्य ही होती हैं। उदाहरण के लिए, मनु स्मृति में एक स्थान पर *'उद्वेजन करैर्दण्डै श्चिह्नयित्वा प्रवासयेत्'* (८.३५२)

में **'छिन्नयित्वा'** पाठ भी मिलता है। इन दोनों में से कोई भी पाठ स्वीकार किया जाए— 'लाञ्छित करके' अथवा 'अंगभंग करके', मनु के मूल कथ्य में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार संशोधित संस्करण में संकर जातियों के नामों की वर्तनी में सम्भवत: कुछ अन्तर पड़े, पर उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में मनु की मूल सिद्धान्तों में किसी विशेष और महत्वपूर्ण अन्तर पड़ने की सम्भावना अत्यन्त क्षीण ही है। इसी लिए ,संशोधित संस्करण की प्रतीक्षा में समय नष्ट करना व्यर्थ समझ कर, इस पुस्तक को *'कुल्लूकभट्ट कृतमन्वर्थमुक्तावली संवलिता'* मनुस्मृति (बम्बई १९४६) तथा पं. हरिश्चन्द्र कृत आर्यभाषानुवाद सहित पुस्तक, जिसमें अन्यान्य प्रतियों में मिलने वाले अतिरिक्त श्लोक भी दे दिये गए है (दिल्ली १९५६), के ही आधार पर पूरा किया गया है ।

मनु के पारायण, इन और इन जैसी अनेक स्वानुभूत घटनाओं तथा समाचार पत्रों में प्रकाशित होने वाले वक्तव्यों और लेखों के आधार पर ही पुस्तक पूरी की गई है। इसमें मनु के मन्तव्यों को, जैसा और जितना मैंने समझा है, वैसा ही प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। लिखते समय स्थान स्थान पर मनु की मान्यताओं का औचित्य प्रतिपादित करने के लिए उनकी आलोचना करने वालों अथवा उनकी मान्यता के विरूद्ध आचरण करते हुए ही देश और जाति को पतन के अतलर्गत में ढ़केलने वालों की आलोचना ही नहीं, कटु आलोचना करनी पड़ी है। इसी के आधार पर मेरी राजनीतिक प्रति बद्धता का अनुमान करने वाले पाठकों को मैं अपनी ओर से आश्वस्त करना चाहूंगा कि मेरी न तो किसी राजनीतिक दल से प्रतिबद्धता है और न ही मैं इतिहास की व्याख्या करने वाले किसी प्रचलित सिद्धान्त से ही बंधा हुआ हूं। पिछले ३६ वर्षो से मेरा कार्यक्षेत्र पुरातत्व और उसमें भी उत्खनन ही रहा है और उसमें केवल निर्जीव और सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रमाणों के आधार पर ही जीवित और जीवन्त सत्ता—व्यक्ति और समाज—का अनुमान करना ही सिखाया जाता है— कम से कम मैंने यही समझाा और सीखा है। अत: मैंने जो भी लिखा है वह पूरी बौद्धिक निष्ठा से लिखा है। यदि मेरी कोई प्रतिबद्धता रही है तो वह तर्क को ऋषि पद पर प्रतिष्ठित करने वाली आर्ष सांस्कृतिक परम्परा के प्रति ही है। और जो भी उसको अक्षुण्ण रखना चाहता है, उसके लिए प्रयत्नशील है, मैं उसी का समर्थक था, हूं और रहूंगा।

आर्ष परम्परा को मान्य सत्य और तर्क के प्रति समर्पित एक अन्य अत्यधिक वरिष्ठ जन का आभारपूर्ण उल्लेख करना मैं अपना पवित्र कर्तव्य समझता हूं। श्री सीताराम गोयल महोदय ने अपनी कर्मठता और अपूर्व संगठन क्षमता से भारतीय आर्ष परम्परा को उद्घाटित करने, उसकी तार्किक सम्पोषणा करने और उसके उज्ज्वल स्वरूप की पुनर्स्थापना करने के लिए दिल्ली में एक प्रकाशकीय न्यास— Voice of India— स्थापित किया है। इसके तत्वाधान में आर्ष परम्परा का मण्डन तथा विधर्मी विरोधियों की दुरभिसंधि को प्रकट करके, उनका प्रत्याख्यान करने वाले अनेक महत्व पूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। इस संस्थान द्वारा प्रकाशित पुस्तकों से मुझे हिन्दू समाज 'पुरुष' के शरीर के रोग—Psora—को

द्वारा प्रकाशित पुस्तकों से मुझे हिन्दू समाज 'पुरुष' के शरीर के रोग–Psora–को पहचानने में अपूर्व सहायता मिली है। दुर्भाग्य से इनके द्वारा प्रकाशित प्रायः सभी पुस्तकें अंग्रेजी में हैं, और अंग्रेजी में प्रवीणता के अभाव के कारण ही देश का बहुजन समाज उन अनेक तथ्यों से नितान्त अनभिज्ञ ही रह जाता है, जिन्हें जान लेने पर हमारे अनेक मंत्राी पद प्राप्त सांसद वैसी अनर्गल बातें न करते जैसी कि २७–२८ मई और बाद में भी सुनने को मिलती रही हैं। इसी एक तथ्य के आधार पर, जहां मैं श्री सीताराम जी गोयल और उनके द्वारा प्रकाशित सभी लेखकों का ऋण स्वीकार करके, आभार मानता हूं, वहीं उनके अनेक तथ्यों को हिन्दी में दुहराने का औचित्य भी सिद्ध करना चाहूंगा।

पहले मैं इस पुस्तक को अंग्रेजी में ही लिखना चाहता था। अपनी पहली पुस्तक मे ऐसा लिख भी चुका था। परन्तु अंग्रेजी में इतनी पुस्तकों के होते हुए भी हमारी वर्तमान पीढी ही नहीं, 'छत्राक' की तरह उग जाने वाले अधिसंख्य 'स्वयम्भू' राष्ट्र नेताओं के भी अंग्रेजी भाषा के आधे–अधूरे ज्ञान को देखते हुए ही, इसे हिन्दी में ही लिखने का निश्चय करना पड़ा हैं। एक कारण और भी था। हमारे इस अभागे (स्वतंत्रा) परतंत्रा देश में मात्रा १ या २ प्रतिशत के सूचना प्राप्ति के अधिकारां का निर्वहन करने की घोषणा करने वाले अंग्रेजी के प्रचार–माध्यम, अभी भी भारतीय होना तो दूर, 'इन्डियन' भी नहीं हो सके हैं; वे अभी भी अपने 'एंग्लो–इन्डियन' उद्‌भव के दोगले–पन को न भूल कर, भारत और भारतीयता को अपमानित और लाञ्छित करने का न तो कोई अवसर ही छोड़ते हैं, और न उनका प्रतिवाद ही प्रकाशित करते हैं और तब भी अपने को 'स्वतंत्रा और निष्पक्ष' कहलाने का दम्भ पालते हैं। यथा, लखनऊ से प्रकाशित होने वाले दैनिक समाचार पत्रा 'पायोनियर' में उत्तर प्रदेश में भा.ज.पा. सरकार बनने पर उसके मंत्रियों के श्री राम जन्मभूमि पर जाने की श्री माधव राव सिन्धिया द्वारा की गई निन्दा; इस्लाम के आने बाद ही भारत वर्ष में सभ्यता का प्रकाश होने और केरल के किसी इस्लामी मंत्राी का दीप प्रज्ज्वलित करके किसी समारोह के उद्‌घाटन को इस्लाम विरोधी कहना और फिर संसद में श्री गुलाम रसूल कार का अपने को सूफी सम्प्रदाय का बता कर, हिन्दुत्व का संरक्षक बताना; श्री इकबाल मसूद (३१ मई, १६७६) तथा श्री एजाज अशरफ के राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को लाञ्छित करने वाले लेख 'The lost Brother hood' (एजेण्डा) में निबद्ध और प्रचारित अनेक मिथ्या और भ्रामक तथ्यों का सप्रमाण प्रत्याख्यान और पंजीकृत डाक द्वारा भेजे गए मेरी सभी लेखों को उस पत्रा के सम्पादकों ने प्रकाशित न करके, भारतीय संस्कृति के प्रति अपना पूर्वाग्रह ही नहीं, उसे अन्यथा पारिभाषित करके, उसको नष्ट करने का अपना दुरा ग्रह ही स्पष्ट किया है। तभी विचार आया था कि यतः यह पुस्तक केवल विद्वानों के लिए ही नहीं है, और न इससे अंग्रेजी के वे सामान्य पाठक, जो 'पायोनियर' जैसे अंग्रेजी संचार माध्यमों के मनो–मस्तिष्क को जड़ बना देने वाले प्रचार से प्रभावित होकर सोचने समझने की शक्ति खो चुके हैं, ही लाभान्वित हो सकेंगे। अतः इस पुस्तक को भारतीयता से जुड़े और उसे समझने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए हिन्दी में ही लिखना उचित प्रतीत हुआ है। अब यह

पुस्तक आपके समाने हैं ।

इस प्रबन्ध के प्रथम प्रारूप को मेरे कनिष्ठ पुत्रा, चि. भुवन विक्रम तथा पुत्रा वधू, सौ. सुश्री ने पढ़ा था । इन दोनों ने ही क्रमशः १६८८ और १६६२ में प्राचीन भारतीय इतिहास में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करके, १६६५ में पुरातत्व में विशेष योग्यता अर्जित की है । इन दोनों ने ही निकट भूत में अर्जित ज्ञान और अपने 'नोट्स' के आधार पर अनेक स्थलों पर समाजशास्त्रीय संदर्भ देकर, इस पुस्तक को वर्तमान स्वरूप में ले आने में भरपूर सहयोग दिया है । और भी, पांचवें अध्याय में 'ऋण और ब्याज' तथा ब्राह्मण और शूद्रों को सहचार की चर्चा के अंश को पढ़ते समय, उन्होंने ही भाई भगवान सिंह की पुस्तक में सारस्वत सभ्यता के उद्योग और व्यापार के सम्बन्ध में प्रकट किए गए विचारों की ओर मेरा ध्याान आकर्षित किया था और तभी मैं मनु को सारस्वत सभ्यता से जोड़ने की घृष्टता कर सका हूं । इसके लिए वे दोनों ही साधुवाद के पात्रा होते हुए भी, केवल आशीर्वाद ही चाहते हैं । वहीं सही, ईश्वर उन्हें यशस्वी करे ।

अन्त में, धर्माधर्म में मेरी सहचारिणी, श्रीमती कुमुद ने न केवल अनेक प्रारूपों को पढ़ते हुए उसकी भाषा ही सुधारी है, वरन् उपभोक्तावाद की संस्कृति के पनपने से उपजी असत्य निष्ठा और भाव—निरपेक्षता की वर्तमान स्थिति के कारण उत्पन्न होते रहने वाले निराशा और हताशा के क्षणों में, कार्य रुकने पर, कोंच कोंच कर,उत्साहित भी किया है । अतः *'कार्येषु दासी कर्णेषुमंत्री'* कुमुद को धन्यवाद देना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूं!

मेरी दृष्टि बालपन से ही अत्यन्त क्षीण थी और अब पिछले चार वर्षों में ऋण १८ से ऋण २० हो गई है । ऐसी स्थिति में दो, दो पुस्तकों का, संगणक पर टंकित होते समय, तीन, तीन, चार—चार बार संशोधन करना अत्यन्त कष्ट कर कार्य था । परन्तु किसी की सहायता भी नहीं मिल सकती थी । मेरे परिवार में मेरे अतिरिक्त अन्य कोई भी संस्कृत नहीं जानता है और इन दोनों ही पुस्तकों में संस्कृत के अत्यधिक उद्धरण हैं । अतः संशोधन करने में भरपूर और यथाशक्ति सावधानी रखने पर अर्धरेफ केसाथ के अनुस्वार के अतिरिक्त भी अनेक त्राुटियों का रह जाना असम्भव नहीं है । ऐसी सभी त्राुटियों के लिए क्षमा मांगते हुए, सहृदय और विद्वान पाठकों से अनुरोध करना चाहूंगा कि वे कथन की ऐसी सभी भूलों को अनुमान से सुधारते हुए, कथ्य पर ही अधिक ध्यान दें । यदि यह पुस्तक मनु के सम्बन्ध में प्रचारित कुछ भ्रमों का किंचित भी उच्छेद करने में सफल हो सकेगी, तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूंगा ।

पौष शुक्ल प्रतिपदा, सं० २०५३
(अनघ विकम का ३ रा जन्म दिवस) **अरुणकुमार**

संदर्भ ग्रन्थ संकेत सूची:-

अथर्व : अथर्व वेद, अजमेर

ऐ. उ. : ऐतरेय उपनिषद, गोरखपुर

ऐ.ब्रा. : ऐत रेय ब्राह्मणम्, सायण भाष्य समेतम्, पूना १६७६.

ऋ : ऋग्वेद, अजमेर

क.उ. : कठ उपनिषद, गोरखपुर,

का.सं : काठक संहिता,

गो. ब्रा. : गोपथ ब्राह्मणम्, पं. विजयपाल, वहालगढ़, १६८०

: गोपथ ब्राह्मण भाष्यम् पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, (सं) डा. प्रज्ञादेवी, मेघा देवी,इलाहाबाद १६७६

छां. उ. : छान्दोग्य उपनिषद, गोरखपुर

तै.ब्रा. : तैत्तिरीय ब्राह्मणम्, सायण भाष्य समेतम्, पूना, १६७६

तै.सं : तैत्तिरीय संहिता, बहालगढ १६८२.

ध. सू : धर्म सूत्र

बृ.उ. : बृहदारण्यक उपनिषद, गोरखपुर,

म.भा : महाभारत, गोरखपुर

मु. उ. : मुण्डक उपनिषद, गोरखपुर

यजु. : यजुर्वेद, अजमेर

श.ब्रा. : शतपथ ब्राह्मणम्, 'रत्न दीपिका' हिन्दी टीकयोपेतम्, पं. गंगा प्रसाद उपाध्याय, दिल्ली, १६६७

श्वे. उ. : श्वेताश्वतर उपनिषद, गोरखपुर

श्रौ, सू. : श्रौत सूत्र.

साम : साम वेद, अजमेर.

कालिदास, : रघुवंशम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्,

कौटिल्य, अर्थशास्त्रम् (ed)- R.P. Kangle, मुम्बई १६६०

श्रीमद्भगवद्गीता, गोरखपुर,

धातुपाठ, बहालगढ़ १६६६

: क्षीरतरंगिणी (पाणिनीय धातुपाठस्य... व्याख्या), बहालगढ, १६८५

बाणभट्ट, : कादम्बरी, मुम्बई

: हर्षचरितम्, मुम्बई

श्रीमद् भागवत पुराण, गोरखपुर,

मनुस्मृति, कुल्लूकभट्ट कृतया मन्वर्थमुक्तावल्या समन्विता, मुम्बई १६४६, आर्यभाषानुवाद सहिता पं. हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, दिल्ली—१६५६

यास्क निरुक्त,

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणम्, गोरखपुर

सूर्य सिद्धान्त, भाषानुवादसहित, उदय नारायण सिंह, बहालगढ़ १९८६

अग्रवाल, डा० वासुदेव शरण, १९५५, पणिनि कालीन भारतवर्ष, वाराणसी

अरुण कुमार, १९९६, देवयान, संस्कृति का विकास और वेद, फैजाबाद.

उपाध्याय,पं० गंगा प्रसाद, १९८६, जीवात्मा, दिल्ली.

उप्रेती, डा० जयदत्त, १९८५, वेद में इन्द्र, दिल्ली, वाराणसी.

जगदीश्वरानन्द सरस्वती,स्वामी, १९८३, शुक्रनीतिसार, बहालगढ़

जिज्ञासु, पं० ब्रह्मदत्त, १९७९, अष्टाध्यायी भाष्य, प्रथमावृत्ति, बहालगढ़.

दयानन्द सरस्वती, स्वामी, १९४७,अष्टाध्यायी भाष्यम्, अजमेर

१९७०,सत्यार्थ प्रकाश, दिल्ली.

भगवद्दत्त पं०, १९६४, निरुक्त शास्त्रम् , बहालगढ़

१९९४, भारत वर्ष का बृहद् इतिहास, भाग१ दिल्ली.

भगवान सिंह, डॉ० १९९१ (१९८७–२भाग), हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य, दिल्ली

मीमांसक, पं० युधिष्ठिर,१९७७, जैमिनीय मीमांसा भाष्यम्, भाग१, बहालगढ़

१९८४, संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग१, बहालगढ़

१९९१, वैदिक सिद्धान्त मीमांसा भाग १, बहालगढ़

१९९३, जैमिनीय मीमांसा भाष्यम्, भाग७, बहालगढ़

मीमांसक,पं० युधिष्ठिर तथा पं० विजयपाल,१९८४, अग्नि होत्र से लेकर अश्वमेघ पर्यन्त श्रौत यज्ञों का परिचय,बहालगढ़

यदुवंश सहाय, १९९१(१९७१), महर्षि दयानन्द, इलाहाबाद,

लेविस,सी.ए; १९६०,' सभा पर्व के दिग्विजय आख्यान का भौगोलिक प्रकरण: पूना के आलोचनात्मक संस्करण द्वारा स्वीकृत कुछ पाठों का समालोचन',हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, वर्ष १३, अंक १–२ (जनवरीजून) १८९–१९६.

विद्यानन्द सरस्वती, स्वामी, १९७६; अनादि तत्व दर्शन, गाजियाबाद

१९८८, भूमिका भास्कार, मुम्बई

विद्यालंकार,पं० विश्वनाथ, १९७५–९२, अथर्ववेद भाष्यम्,९ भाग,बहालगढ़

सुन्दर लाल,पं० १९७०, भारत में अंग्रेजी राज (प्र.वि.), २ भाग, दिल्ली.

शर्मा,डा० राम विलास,१९७९–८१, भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी, भाग३, दिल्ली

शास्त्री, आचार्य उदयवीर, १९७६, 'पाणिनि काल चर्चा' (संस्कृत),(सं) डा० आर. सुब्रह्मण्यम् तथा एन. रमेशन्,हैदराबाद.

१९८४–१ : वैशैषिक दर्शनम्, गाजियाबाद

१९८४–२ : पातञ्जल योग दर्शनम्, गाजियाबाद

१९८९ : सांख्य दर्शनम्, गाजियाबाद.

१९९१ : न्याय दर्शनम्, दिल्ली

Acton. Lord. 1905. The Study of History, London.

Aiyangar, K.V.R..1941, Rajadharma, Madras.

1949. Aspects of the Social and Political System of Manusmrti, Lucknow.

1952. Some ASpects of the Hindu View of Life According to Dharmasastras, Baroda.

Antonini, S.. and G. Stacul.

1972. The protohistoric Graveyards of Swat (Pakistan), Rome.

Arunkumar, 1983. 'On the location of Hastinapura'. Journal of the Oriental Institute, Baroda. xxxIII. Nos. 1-2. Sept- Dec.. pp 189-107.

Arun Shourie, 1994, Missionaries in India (Continuities, Changes, Dilemmas). Delhi.

Aurobindo. 1956. On the Veda. Pondicherry.

Ayn Rand, 1957. Atlas Shrugged. New Yerk.

Capitalism. The Unknown Ideal. New York.

Bhuvana Vikrama and Arunkumar. n.d.. 'The End of the Harappa Civilisation: A literary Confirmation.' Dr. G.C. Pande Felicitation Volume (In press).

Bury, J.B., n.d..A History of Greece, New York.

Chakrabarti. D.K., n.d., The External Trade of The Indus civilisation,

Choudhury, S.B.. 1955. Ethnic Settlements in Ancient India, Calcutta.

Curie. P.M., 1989. The Shrine and Cult of Muin-ul-din Chisti of Ajmer, Delhi.

Dani. A.H., 1967. 'Timargarh and Gandhara Grave Culture'. Ancient Pakistan, III: 1-386.

Dharmpal, 1983. The Beautiful Tree. Indigenous Indian Education in the Eighteenth Century. Delhi.

DiBiona, Joseph. 1984. One Teacher, One School. Delhi.

Eaton, Robert M., 1978. The Sufis of Bijapur 1300-1700 (Social Roles of Sufis in Mediaeval India), Princeton.

Elliot, H.M.. and J. Dowson.

1867-77, History of India as told by its Own Histrians, 8 Vols,. London (Delhi: rept).

Fairservis, W.A., Jr., 1992, 'Allahdino: An Excavation of a Small Harappan site,' in Harappan Civilisation: A Contem -porary Perspsctive, (ed.) G.L.Possehl, Delhi.

Fritjof Capra, 1984 (1976), The Tao of Physics, Bantam.

Gharpure, J.R., 1957, Teachings of Dharmasastras, Lucknow.

Goel, Sita Rama, 1989, History of Hindu-Christian Encounters, Delhi

199, Hindu Temples: What Happened to Them, Pt. II, the Islamic Evidence, Delhi.

1993, Genesis of Nehruism, Vol. I, Commitment to Communism, Delhi.

Graves, Robert, 1962, The Greek Myths, Pelican.

Ishwar Sharan, 1991, The Myth of St. Thomas and the My lapore Shiva Temple, Delhi.

Ishwari Prasad, 1936, A Histiry of Qarunah Turks in India, Vol. I, Allahabad.

Karim, Abdul, 1959, Social History of Muslims in Bengal, Dacca.

Koenraad Elst, 1991, Negationism In India. Concealing the Record of Islam, Delhi.

1993, Indigenous Indians, Agastya to Ambedkar, Delhi.

Kulkarni, J., 1991, Historical Truths and untruths Exposed, Thane.

Lal. B.B., 1979, 'Kalibangan and Indus Civilisation,' in Essays In Indian Protohistery, (ed.), Agrawal, D.P.,and D.K.Chakrabarti, Delhi.

Lal, K.S,, 1990, Indian Muslims: Who a re They? Delhi.

1992, The legacy of the Muslim Rule In India, Delhi.

Mackay, E.J.,1943, Chanhudaro Excavations, New Haven.

Majumdar, R.C., 1922, Corporate life In Ancient India, Calcutta.

1960, (ed.) The Classical Accounts of India, Calcutta.

1965, (ed.) British Paramountcy and Indidan

Rennaisance, Bombay.

Malik, Subhash C., 1968, Indian Civilisation: The Formative Period, Simla.

Nilakantha Sastri, 1937, The Cholas, 2 Vols., Madras

Pargiter, F.E., 1972 (1922). Ancient Indian Historical Tradition, Delhi-Varanasi.

Patawardhan, M.V., 1964, 'A new Interpretation of the word Varna, Sum. Pap., 26 th International Congress of Orientalists, Delhi: pp. 194-5.

Pochhammer, Wilhelm Von,1961, India's Road to Nationhood.A Political History of the Sub-continent, Bombay.

Popenoe, Paul, 1941, Modern Marriage, NewYark.

Prabhu, P.N., 1979, Hindu Social Organisation, Bombay.

Priolkar, A.R., 1991 (1961), The Goa Inquisition. Delhi.

Puri, B.N., 1957, India in the Time of Patanjali, Bombay.

Qanungo, K.R., 1968, Historical Essays, Agra.

Oureshi, I.H., 1971 (1942). Administration of the Sultanate of Delhi, Delhi.

Ramanujam, p., 1980 The Justice Party, Madras.

Ram Swrup. 1983, Understanding Islam Through Hadis.
· Religious Faith or Fanaticism, Delhi.
1984, 29. 1: review of DiBiona, Times of India. Delhi.
1984, 28.10: review of Dharampal, Organiser, Delhi.

Ratanagar, Shereen,
1981, Encounters, The Westerly Trade of the Harappan Civilisation, Delhi.

Raux, George, 1968, Ancient Iraq, Pelican.

Rao, S.R., 1979-1985, Lothal 1955-62. 2 vols., Delhi.
1991, Dawn and Devolution of Indus Civilisation. Delhi.

Rizvi, S.A.A., 1975, Religion and Intelectual History of the Muslim Rule In Akbar's Reign, Delhi.
1978, Histery of Sufism in India, 2 Vols Delhi.

Roy, S.B., 1976, 'Panini and Katyayana- A Chronological Analysis:
In (ed.) Drs. Subrahmanyam, R., and

N. Rameshan, Hyderbad.

Sethna, K.D., 1989, Ancient India In a New Light, Delhi.

Sircar, D.C., 1942, Select Inscriptions, Vol. 1, Calcutta.

Smith, V.A., 1962, Akbar the Great Moghul, Delhi.

Subrahmanyam, R., and N., Rameshan, (ed.)1976, Sri M. Somasekhara Sarma Commomeration Volume, Hyderabad.

Yerby, Frank, Gillian

विषय सूची

१.मनु का महत्व

वेदानुमोदित आर्ष परम्परा में 'मनुस्मृति' का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इसे स्वीकार करके ही अर्वाचीन युग के अप्रतिम मनीषी और चिन्तक, ऋषि कल्प स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संवत १९१३ मेंप्रकाशित 'सत्यार्थ प्रकाश' नामक महान ग्रन्थ में इसे पदे–पदे उद्धृत करके ही अपनी स्थापनाओं का औचित्य सिद्ध करते हुए,उन्हें पूर्णता प्रदान की थी। मनु स्मृति की 'पुष्पिका' में इसे 'धर्म शास्त्र'– *इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगु प्रोक्तायां संहितायां*– भी कहा गया है। मगर इधर 'धर्म' जैसे महत्वपूर्ण शब्द को अत्यधिक लाञ्छित किया जा रहा है। पाश्चात्य भाषाओं में इस शब्द की अवधारणा का नितान्त अभाव होने के कारण ही, अनुवादकों ने इसका 'रिलीजन'–religion– अर्थ ही ग्रहण किया है। अब 'रिलीजन' की विद्वेष जनक विविधताओं के कारण तथा विधर्मियों और विदेशियों की वाहवाही लूटने में ही कृतकृत्यता का अनुभव करने वाले पाश्चात्य शिक्षा में दीक्षित और उनसे प्रभावित एतेद्दशीय अज्ञ जन भी 'धर्म निरपेक्ष' कहलाने मे अभिमान मानते हुए, इसके विविध सार्थक आयामों की अनदेखी करके, इसे लाञ्छित करने में अग्रणी हो रहे हैं। अतः आगे कुछ कहने से पहले इस बहु आयामी शब्द के अर्थ और अभिप्राय को समझ लेना आवश्यक है।

'धृञ धारणे' धातु (धातुपाठ १.६४१) से निष्पन्न 'धर्म' शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। यथा– किसी वस्तु या व्यक्ति की योग्यतानुसारी शक्ति अथवा कार्यक्षमता–कर्तव्य– को 'धर्म' कहा गया है– *योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः* (उपाध्याय १९८६:३२ में इसे पतञ्जलि मुनि कृत योगसूत्र का वचन कहा गया है, पर हमें यह वहां नहीं मिल सका है)। नैयायिक धर्म और अधर्म को आत्मा का गुण मानते हैं– *आत्मगुणौ धर्माधर्मौ*। वैशेषिक दर्शन में 'जिससे अभ्युदय–लौकिक समृद्धि तथा निःश्रेयस अर्थात पारलौकिक उन्नति, मोक्ष,सिद्ध हो सके, उसे ही धर्म' कहा गया है– *यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्म* (१.१.२)। तैत्तिरीय आरण्यक में धर्म को सम्पूर्ण जगत की पीठिका– *धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा*– कहा गया है। इसी बात को दुहराते हुए ही, महाभारत में 'प्रजा को धारण करने वाले, उसका योगक्षेम वहन करने वाले, विधि–विधानों को ही, धर्म, कहा गया है – *धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः* (१२.१०६. ११)। मनुस्मृति में धृति, क्षमा, दम,अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध को सूची बद्ध करते हुए ही,इन दस को धर्म का लक्षण बताया गया है (६.९२; और भी देखें ,श्रीमद्‌भागवत् ११.१७.२१)। प्रतीत होता है कि इसी सूची के आधार पर ही पतञ्जलि मुनि ने योगसूत्रों में यम–नियमों का (२.२९.३२) का अनुशासन करते हुए, इन्हें जाति, देश और काल के सीमा की बन्धनों से मुक्त बता कर, इन्हें सभी अवस्थाओं में पालनीय 'सार्वभौम महाव्रत' (२.३१) कहा है।

इस सभी परिभाषाओं और व्याख्याओं का फलितार्थ यही प्रतीत होता है

कि सृष्टि— चाहे वह जड़ पदार्थों की हो अथवा चेतन प्राणियों की— के विकास का मूल और प्रेरक तत्व ही 'धर्म' है। इसी तत्व की सामर्थ्य से ही वस्तु या व्यक्ति वह हो पाता है, जो वह होता है। कुछ अधिक विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह 'धर्म' ही है जिसे ब्रह्माण्ड में ब्रह्म (बौद्धों के त्रिरत्न में संग्रहीत 'धर्म' से इसी ब्रह्म का तात्पर्य ग्रहण किया जाता है परन्तु यतः धर्म शब्द नपुंसक लिंगी है, इसके प्रयोग से ही बौद्धों द्वारा ईश्वर को अस्वीकार किए जाने की मान्यता को बल मिला है), जड़ जगतमें विभिन्न पदार्थों के विविध गुण—धर्म, दर्शन में आध्यात्म, आचरण शास्त्र में कर्तव्य और सामान्य जीवन में विधि विधान के रूप में देखा जाता है। इसी दृष्टि से मीमांसाशास्त्र में इसे 'क्रिया में उत्प्रेरक वचन में लक्षित होने वाले, निःश्रेयस कार्य के साधक, अर्थ ही को धर्म'— *चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः* (१.१.२)— कहा गया है। विधि—विधान के परे, अपने आत्म विकास के विभिन्न सोपानों पर चढ़ता हुआ व्यक्ति, अपनी तात्कालिक स्थिति के कर्म और गुण के अनुसार ही धर्म के स्वरूप का बोध कर सकता हैं। ज्यों ज्यों वह उन्नति करता हुआ ऊपर चढ़ता जाता है, उसे सीमित व्यक्ति निष्ठ स्वरूप के स्थान पर, समिष्ट—निष्ठ धर्म का प्रतिभान होता जाता है, उसका उत्तरदायित्व बढ़ता जाता है और उसी अनुपात में उसका धर्म कठोर से कठोरतर होता जाता है। दूसरे शब्दों में, उस दिक्काल में परिच्छिन्न व्यक्ति को दिक्कालातीत सत्ता की स्वतंत्र अनुभूति होने लग जाती है और उससे तादात्म्य स्थापित करता हुआ ही वह अपनी क्षमता के अनुरूप उसके उत्तरदायित्वों को स्वीकार करने लग जाता है। यद्यपि विभिन्न निचले सोपानों पर खड़ा प्रत्येक व्यक्ति अपने परिस्थिति— जन्य इस धर्म को सत्य समझता है, और किन्हीं अर्थों में ठीक ही समझता है, परन्तु विधि—निषेधों को शास्त्र बद्ध करने की आवश्यकता इसलिए होती है क्योंकि बहुत थोड़े ही व्यक्ति यह समझने में सक्षम हो पाते हैं कि उन्हीं की तरह ही, दूसरे भी सीमित किन्तु आवश्यक सत्य के समझ सकते हैं।

इन विविध विधि—निषेधों का स्वरूप श्रुति, स्मृति और अन्यान्य शास्त्रों में अपने समग्र आयामों में प्रस्फुटित हुआ है। अतः आगे बढ़ने से पहले इनके अर्थों और उनके पारस्परिक अन्तर को भी समझ लेना अनुचित न होगा। आर्ष परम्परा की मान्यता है कि सृष्टि के आदि में परमात्मा द्वारा दिया गया ज्ञान ही वेद के रूप में निबद्ध होकर हमें प्राप्त होता है। योगदर्शन में इसी मान्यता को सूत्रबद्ध करते हुए लिखा गया हैकि 'वहां, उस ईश्वर में सर्वोत्कृष्ट सर्वज्ञता का मूल उत्स विद्यमान है'— *तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्* (१.२५), और 'कालातीत होने के कारण ही, वह पहलों का भी गुरु हैं' — *पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्* (१.२६)। गुरु उपदेष्टा होता है, अतः गुरुमुख से पढ़ा गया 'श्रुत' ही होता है। उसे ही वेद के संहिता बद्ध रूप में 'श्रुति' कहा गया है।

गुरुमुख से श्रुत उपदेश—श्रुति—को शिष्य स्मृति में धारण करता है, अतः जो कुछ भी शिष्य ने सुना, समझा और हृदयंगम करके धारण कर लिया, उसे

ही संग्रथित होने पर **'स्मृति'** का नाम दिया जाना उचित ही प्रतीत होता है। जब यही शिष्य अपने अन्यान्य प्रशिष्यों को अपना स्मरण—धारण किया हुआ ही पढ़ाते हैं—*शासु अनुशिष्टौ* (धातुपाठ २.६८)—तो उसे ही **'शास्त्र'**—*शास्ति शासति,शिष्यतेऽनेनेति*— कहा जाता है।

मनु ने **धर्म के सम्यक् परिज्ञान** के लिए वेद, स्मृति, शास्त्र—सम्मत, सदाचार और अन्तरात्मा की पुकार—*वेद स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः* (२.१२)—इन चार की आवश्यकता बताई है। इसी अध्याय के प्रथम श्लोक में 'धर्म के निर्णय का आधार' राग—द्वेष से मुक्त सज्जन विद्वानों के स्वतः स्फूर्त आचरण—*विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः। हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मः*—ही बताया है। ऊपर उद्धृत दोनों बचनों तथा अन्यत्र भी अनेकशः कहे जाने से जिस —किसी को प्रिय लगने वाले का निषेध और साधु पुरुषों की व्यापक आत्मा की तुष्टि— *साधूनामात्मनस्तुष्टि* (२.६) ही यहां अभिप्रेत प्रतीत होती है। मित्र मिश्र के 'वीरमित्रोदय' में 'सच्छूद्राचार' के परिगण किए जाने से भी इस प्रसंग में 'सत्' शब्द पर बल दिए जाने की भावना की पुष्टि होती है (आयंगर, १९४१:१५६)। कहा भी गया है कि अर्थ और काम में आसक्त व्यक्तियों को धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता है— *अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म ज्ञानं न विधीयते* (२.१३)। एसे लोगों के लिए अपने प्रति किए जाने पर अच्छा लगने वाला व्यवहार—*आत्मौपम्येन प्रमाणमधिगच्छति* (म.भा.१३.११३.६) करने और अपने प्रति किए जाने पर अप्रिय लगने वाला व्यवहार न करने— *आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्*—का ही उपदेश दिया गया है।

मनु वेद को ही सब सत्य विद्याओं का पुस्तक मानते हैं—*सर्व ज्ञानमयो हि सः* (२.७), उसी को सभी धर्मों का मूल उत्स बताते हैं— *वेदोऽखिलो धर्म मूलं* (२.६)। उनका कहना है कि धर्म के सम्बन्ध में होने वाली सभी जिज्ञासाओं और शंकाओं का समाधान उसी के प्रामाण्य को स्वीकार करके ही किया जा सकता है— *धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः* (२.१३)। इसी लिए उन्होंने अपनी स्मृति में व्याख्यायित धर्म की वेदानुकूलता पर अत्यधिक बल दिया है— *यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे* (२.७)। उनके इस कथन का समर्थन स्वयं वैदिक वाङ्मय से भी होता है। तैत्तिरीय संहिता (२.२.१०.२) में कहा गया है कि 'जो कुछ भी मनु ने कहा है, वह भेषज के समान लाभकारी है'—*यद्वै किंचन मनुरब्रवीत् तद्भेषजम्*। ताण्ड्य ब्राह्मण में भी यही बात दुहराई गई है— *मनुर्वै यत्किंचिदवदत्तद्भेषजमृतायै* (२३.१६.—१७)। परवर्ती स्मृतिकार बृहस्पति ने भी वेदार्थ का अनुसरण करने के लिए मनु की प्रशंसा करते हुए उसके विरुद्ध कथन करने वाली स्मृतियों की निन्दा की है— *वेदार्थ प्रतिबद्धत्वात् प्रमाण्यं तु मनोः स्मृतम्। मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते* (संस्कारकाण्ड १३; मेघातिथि ने मनु २.६ की अपनी व्याख्या में भी इसे उद्धृत

किया है)।

मनु ने स्वयं भी कहा है कि 'अभीष्ट कारण में प्रत्यक्ष अर्थ के विरुद्ध, असंगत एवं असम्भव अर्थ का प्रतिपादन करने वाली स्मृति वेद विरुद्ध कहलाती है— *विरुद्धाच विगीता च दृष्टार्थादिष्ट कारणे। स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद्या चैषाऽसंभवश्रुति:* (२.१८—१६)। उनका कहना है कि जो स्मृतियां वेद विरुद्ध होती हैं अथवा जिनका दार्शनिक दृष्टिकोण दूषित होता है, वे सभी निष्फल होती हैं— *या वेद बाह्या: स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टय:। सर्वास्ता निष्फला:* (१२.६५)। एसे ग्रन्थ बनते और बिगड़ते रहते हैं; निष्फल और ऋत विरोधी होने के कारण ही इनमें कोई स्थायित्व नहीं होता है— *उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च निष्फलान्यनृतानि च* (१२.६६)। स्मृति को तो श्रुति का ही अनुगमन करना चाहिए —*श्रुतेरिवार्थ स्मृतिरन्वगच्छत्* (कालिदास, रघुवंश, २.२)

किंकर्तव्यमूढ़ता की स्थिति के उत्पन्न होने पर— *कथं स्यादिति चेद्भवेत*, विद्वान और शिष्ट— *शिष्टा: खलु विगतमत्सरा: निरंहंकारा: कुम्भीधान्या: अलोलुपा: दम्भदर्प लोभ क्रोधविवर्जिता:* (बौधायन ध.सू. १.४.६), *शिष्ट: पुन: अकामात्मता* (वसिष्ठ ध.सूत्र १.६)— ब्राह्मण जिसे धर्म—कर्तव्य बतावे, उसी को निश्शंक होकर धर्म मान लेना चाहिए (१२.१०८)। कर्तव्य समझ कर ही सांग वेद का अध्ययन कर चुके ब्राह्मण संज्ञक व्यक्ति ही शिष्ट कहलाते हैं। वे ही श्रुति को प्रत्यक्ष कर सकने में समर्थ होते हैं— *धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेद: सपरिबृहंण:। ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेया: श्रुति प्रत्यक्ष हेतव:* (१२.१०२)। एसे '*साक्षात्कृत धर्मा* ब्राह्मणों को यास्क मुनि ने 'ऋषि' कहा है।

विकल्प प्रस्तुत करते हुए, मनु ने कहा है कि '*दशावरा*' दश श्रेष्ठ पुरुषों की अथवा '*त्र्यवरा*—तीन ही श्रेष्ठ सदाचार शील वृत्तस्थ पुरुषों की '*परिषद*' भी धर्म की व्यवथा कर सकने में समर्थ होती है (१२.११०)। इन परिषदों के गठन के सम्बन्ध में बताते हुए कहा गया है कि तीनों वेदों के विद्वान, नैयायिक, मीमांसक, नैरुक्ताचार्य, धर्म शास्त्र का ज्ञाता तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथ वानप्रस्थ आश्रम के कुल दस व्यक्तियों से 'दशावरा' और तीन वेद के पारंगत विद्वानों से 'त्र्यवरा' परिषद का गठन होना चाहिए (१२.१११—११२; देखें, याज्ञवल्क्यस्मृति, आचारकाण्ड६)। मनु ने बल पूर्वक कहा है कि धर्म का शुद्ध और निर्भ्रान्त ज्ञान प्राप्त करने के लिए विविध वेदमूलक शास्त्रों की, प्रत्यक्ष अनुमान का आश्रय लेकर ही, विवेचना करनी चाहिए— *प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्म शुद्धिमभीप्सतो* (१२.१०५) क्यों कि जो वेदशास्त्रों के अविरोधी तर्क द्वारा आर्ष धर्मोपदेश की विवेचना करता है, वही धर्म के तत्त्व को समग्र रूप में ग्रहण कर पाता है— *आर्षधर्मोपदेशं च वेद शास्त्राऽविरोधिना। यस्तर्केणानुसंधते स धर्मं वेद नेतर:* (१२.१०६)। विश्व की सभी सांस्कृतिक परम्पराओं और उनमें पल्लवित हुए सभी पंथों और सम्प्रदायों, जिनमें किसी एक ही पुस्तक और उसकी भी किसी एक व्यक्ति द्वारा प्रचारित की गई व्याख्या व्यवस्था को ही अन्तिम सत्य

मानते हुए उस पर विश्वास करना ही सिखाया जाता है, और बताया जाता है कि पांथिक विश्वास के अनुबन्धों में क्षेत्र में तर्क,का प्रवेश निषिद्ध है, के विपरीत, आर्ष परम्परा में ही वेद—शास्त्र का अनुगमन करने वाले 'तर्क' को अभूतपूर्व—ऋषि तुल्य— स्थान दिया गया था। यास्क ने निरुक्त में एक इतिहास प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि पूर्वकाल में ऋषियों के पृथिवी से उत्क्रमण कर जाने के बाद, मनुष्यों ने देवों के पास जाकर पूछा था, कि अब हमारा निर्देशक ऋषि कौन होगा— *को न ऋषिर्भविष्यतीति?* इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ही, देवों ने उन्हें तर्क (रूप) ऋषि दिया था— *तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छत्* (१३.१२)।

मनु से आगे कहा है कि 'एक भी वेदविद् जिसको धर्म कहें, उसे मानना चाहिए, सहस्रों मूर्खों द्वारा चिल्ला—चिल्ला कर बताए गए को नहीं— *एकोऽपि वेदविद धर्मं व्यवस्येद्.... स विज्ञेय परो धर्मो। नाज्ञानामुदितोऽयुतैः* (१२.११३)। ब्रह्मचर्या आदि ब्रतों से शून्य, केवल ब्राह्मण के घर जन्म लेने वाले यदि सहस्रों भी क्यों न एकत्र हो जाएं, तब भी उस भीड़ को 'परिषद' नहीं कहा जा सकेगा—— *अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्। सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते* (१२.११४)। तामसी वृत्ति के अज्ञानी मूर्ख, धर्म को न जानते हुए भी, यदि किसी कार्य के धर्मयुक्त होने का निर्णय करेंगें तो उनका वह पाप युक्त कर्म शतगुणा होकर, उन्हीं पर पलट पड़ेगा— *यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः। तत्पापं शतधा भूत्वां तद्वक्तृननुगच्छति* (१२.११५)। इस सबको कहने के पीछे मनु की दृष्टि यही प्रतीत होती है कि वही जो अपने और दूसरे के धर्म को जानता है और अपने कर्तव्यों का निरस्वार्थ भाव से निष्ठा पूर्वक निर्वहन करता है, वही समाज के विविध घटकों का निर्देशन करने के योग्य और समर्थ है। अतः जो अपने कर्तव्यों को भली भंति न जान—मान कर, केवल अर्थ और काम की आसक्ति में आकण्ठ मग्न हैं, उनके हाथों में समाज के नेतृत्व— निर्देशन का अधिकार, जैसा कि आज कल वर्तमान समय में हो रहा है, निश्चय ही नहीं होना चाहिए, नहीं दिया जाना चाहिए।

इस प्रकार, उन्नतिशील समाज की प्रगति सुनिश्चित करा सकने में समर्थ मन्तव्यों का प्रतिपादन करने वाले **मनु के महत्व** को समाज—शास्त्रियों और न्याय विदों द्वारा प्रशंसा पूर्वक स्वीकार किए जाने का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। परन्तु कभी कभी सन्देह व्यक्त किया जाता है मनु और अन्याय स्मृति शास्त्र भी समाज से कट कर, अरण्यों में निवास करने वाले असंपृक्त चिन्तकों का सैद्धान्तिक व्यायाम और बुद्धि विलास मात्र हैं और दैनिक जीवन में इनका प्रायोगिक व्यवहार न होकर, लोक परम्परा को ही वरीयता दी जाती थी (कोएनराड एल्स्ट १६६३:३२६—३२७)। परन्तु, जैसा कि आगे दिखाया जाएगा, स्थानीय प्रचलन और कुल परम्परा के अनुसार न्याय निर्णय करना भी तो मनु के विधान के अन्तर्गत आ जाता है। अस्तु! इन तथाकथित अरण्यवासी और अव्यवहारिक प्रशंसकों के अतिरिक्त, लोक जीवन से प्रत्यक्षतः सुसम्बद्ध व्यक्तियों द्वारा भी मनु

को मान्यता और महत्व दिए जाने के उदाहरणों का अभाव नहीं है। लोक रुचि को परख कर जन जन में पारस्परिक सहयोग, सौमनस्य और समरसता की भावना को भरने वाले 'साहित्य' कार और उसे अक्षुण्ण रखने में समर्थ शासक, दोनों ही मनु के महत्व को स्वीकार करने में कुछ पीछे नहीं रहे हैं। उत्तर भारत में संस्कृत के अग्रणी रचनाकर, कविकुलगुरु कालिदास ने अपने महाकाव्य में मनु द्वारा स्थापित मर्यादा का उल्लंघन न करने, उसके ऋजु पथ से किंचित मात्र भी न हटने की रघुवंश के नृपतियों की प्रतिज्ञा का उल्लेख — *रेखामात्रमपि क्षुण्णादा मनोर्वत्मनः परम्। न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः* (१.१७)— करके मनु का अभिनन्दन ही किया है। दूसरी ओर, दक्षिण भारत के तमिलनाडु में आज अंग्रेजों की दुरभिसंधि, कुटिल प्रेरणा और सक्रिय सहयोग से ईस्वी सन् १६१६ में स्थापित 'जस्टिस पार्टी' द्वारा चलाए गए छद्म राजनीतिक आन्दोलन ने आर्य अनार्य का नितान्त अवैज्ञानिक और भ्रामक प्रश्न (देखें, योगिराज श्री अरविन्द, १६५६: ६४०—४१) उठा कर, मनु और मनुवाद के खण्डन को प्रबल ब्राह्मण विरोध का रूप दे दिया गया है। परन्तु वहीं लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व हुए चिन्तक सन्त तिरुवळ्ळुवर, जिनके नाम से ही उनका शूद्रकुलोत्पन्न होना प्रकट है, ने मनु के प्रभाव को ग्रहण करके ही, *'पुप्पाल'*—त्रिवर्ग के *'अरम्'*—धर्म, *'पोरुळ'*— अर्थ और *'इन्वम्'*—काम का मनु—मन्तव्यानुसारी विवेचन किया था। यही नहीं, ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वीं के 'चोळ' नामक तमिल राजवंश के राजकेसरी राजेन्द्र के तीनों ही लेख *'मनु नीति मुरै वळर'* अर्थात् 'मनु की नीति की वृद्धि होती रहे' जैसी सदिच्छा की अभिव्यक्ति से ही प्रारम्भ हुए हैं (नीलकंठशास्त्री, चोळ, खण्ड १, १६३७:१२)। उसी वंश के तेरहवीं शताब्दी ईस्वी के राजेन्द्र द्वितीय के लेख भी *'मनुकुलम् एडुत्तु—नेरिमुडि सूदि'* 'मनु वंश के धर्म किरीट को धारण करने वाले'— से प्रारम्भ हुए है (वही खण्ड २, १६३७:३२७)। इसी राजवंश के अनेक राजाओं ने, कालिदास के रघुवंश की प्रतिज्ञा को दुहराते हुए ही, *'मनु नेरि तवराळ मन्नन्'* अर्थात् 'मनु द्वारा सुनिश्चितकी गई मर्यादा से किंचित भी विचलित न होने में' ही गर्व का अनुभव किया है (आयंगर १६४६:२६)। इतना ही नहीं, मलय, चम्पा आदि पूर्वी द्वीप समूहों में स्थापित श्री विजय साम्राज्य की स्थापना के साथ ही मनु के विधान के आधार पर विकसित होने वाली समाज और न्याय व्यवस्था के भी प्रचार—प्रसार के प्रमाण मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। चम्पा के एक लेख में तो मनुस्मृति का एक श्लोक साक्षात् उद्धृत हुआ है और अनेक के अविकल अनुवाद मिलते हैं (आयंगर १६४१:१४५)। बर्मा में तो आज तक मनु स्मृति पर आधारित *'धम्मतत्'*—धर्मतत्व—व्यवस्था चली आ रही है (फोर्शाम्मेर, *सोर्सेज एण्ड डेवेलप्मेन्ट आफ बर्मीज ला,* १८८५; आयंगर १६५२:५, टि. ३,४)।

ऊपर कहा जा चुका है कि समाज में सौमनस्य और समरसता पूर्ण जीवन यापन करने के लिए हमें अपने धर्मकर्तव्य— को जानना समझना चाहिए। परन्तु हमारे उद्देश्य और उन्हें प्राप्त करने की क्षमता ही धर्म—कर्तव्यों को निर्धारण में

महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अतः सर्वप्रथम हमें अपना उद्देश्य जानना परमावश्यक हो जाता है, और इसके उपरान्त ही उसे प्राप्त करने की क्षमता को पहचानते हुए आगे बढ़ना होता है। किसी वस्तु को क्रय करने के पूर्व ही हमें अपनी जेबें टटोलनी होती हैं, किसी ऊंचाई पर चढ़ने के पूर्व हमें अपने बलाबल का विचार करना पड़ता है। अतः धर्म–कर्तव्य को जानने समझने के पूर्व हमें अपने को पहचानना होगा। *'आत्मानं विद्धि' 'know thyself'* जैसे प्रायः सभी भाषाओं में मिलने वाले वचन यही बताते हैं कि अपने को जानने पहचानने की यह इच्छा सार्वभौम रही है। इस 'अपने' को जानने पहचानने के अनन्तर ही यह सुनिश्चित ही सकेगा कि हम कौन हैं? कहां से आए हैं? और कहां जा रहे हैं? कहां जाना चाहते हैं? और कहां जाना चाहिए?

इन प्रश्नों के साथ ही हम दर्शन के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते हैं। अतः अगले कुछ पृष्ठों में हम मनुस्मृति की वेद–मूलक दार्शनिक–वैज्ञानिक पृष्ठभूमि का एक विहंगम निदर्शन कराने का प्रयास करेगें।

---

२. मनु की वैदिक पृष्ठभूमि

सृष्टि का एक अंश होने के कारण ही, मनुष्य के 'क्या, कौन और कैसे' को भली प्रकार जानने के लिए, सर्वप्रथम **सृष्टि की वेदानुमोदित प्रक्रिया** को समझना होगा। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (१०.१२६) के तीसरे मंत्र में कहा गया है: 'यह सब दृश्यमान अर्थात व्यक्त जगत सृष्टि के अर्थात् व्यक्त होने के पूर्व, प्रत्येक चिन्ह से रहित, कारण के साथ अविभागापन्न अर्थात संश्लिष्ट रूप में (अव्यक्त), ही था। वह मूल कारण भी अन्धकार से आवृत्त था। कार्य को अपने में छिपाये हुए, कारण के साथ एकीभूत, वह जगत सर्ग काल में तेजोमय चेतना की महिमा से अनायास ही स्वयं उत्पन्न हो जाता है—

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥

मनु स्मृति में भी यही तथ्य कुछ इस प्रकार कहा गया है—'यह सब जगत कभी अन्धकार स्वरूप था। 'यह क्या था?' कुछ भी नहीं ज्ञात होता था। ज्ञान का कोई साधन भी नहीं था। तर्क की भी वहां, पहुंच नहीं थी। वह अविज्ञेय सब ओर मानो सोया हुआ पड़ा था — *आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातलक्षणम्। अप्रतर्क्य अविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः* (१.५)। उस समय केवल आत्मा ही था, किसी अन्य में कोई गति नहीं थी— *आत्मा वै इदमेक एकाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन मिषत्* (ऐ.उ.२.१)। एक अन्य मंत्र में सर्व व्यापक तत्त्व 'आपः' के गर्भ में विश्व को धारण किए जाने का भी कथन मिलता है— *आपो ह यद् बृहती विश्वमायन्ग र्मं दधाना* (ऋ. १०.१२१.७; तुलना करें— *तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो..... यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः* — वही १०.८२.६)। इसे ही सर्ग के आदि में विद्यमान 'हिरण्यगर्भ' (हिंरण्य,हितकारी और रमणीय प्रकृति को गर्भ में धारण करने वाला'—यास्क २.१०) भी कहा गया है (ऋ १०.१२१.१)। पुरुष सूक्त के एक अन्य मंत्र में उस अमृत पुरुष परमात्मा, जिसके चतुर्थांश से ही पुनः पुनः उत्पन्न होकर, नाश अर्थात् व्यक्त से अव्यक्त होने का भी कथन हुआ है—

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि। (ऋ.१०.६०.४)।

इसी विराळ पुरुष के दैवी *'सर्वहुत'* यज्ञ, जिसमें इसका विखण्डन हुआ था, की सातपरिधियों में इक्कीस समिधाओं के प्रज्वलित होने की बात भी कही गई है (वही १०.६०.१५)। इस 'सर्वहुत' यज्ञ को ही इतिहास ग्रन्थों में 'महामख सर्वमेघ' तथा इसके यजमान सर्वव्यापक अमृतपुरुष स्वयम्भू ब्रह्म को विश्वरूप महादेव' कहा गया— *विश्वरूपो महादेवः सर्वमेधे महामखे। जुहाव सर्वभूतानि तथैवात्मानमात्मना* (म.भा.१२.८.३६)। यहां इस यज्ञ से अभिप्राय है प्रकृति के सत्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणों के परस्पर न्यूनाधिक सम्मिश्रण से होने वाली सृष्टि के व्यक्तीकरण एवं प्रत्यक्षीकरण की वह प्रक्रिया जिससे अव्यक्त की शान्ति भंग होती है, उसमें क्षोभ उत्पन्न होता है। यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि इन्हीं जैसे अनेक संदर्भ सूत्रों को पकड़ कर, उनका उपन्यास करते हुए ही, वैशेषिक

और सांख्यादि शास्त्रों की प्रवृत्ति हुई है, जिनमें सूक्ष्म से लेकर स्थूल भूतों की मूल सृष्टि की वैज्ञानिक विवेचना करते हुए चेतन तत्व ब्रह्म, त्रिगुणात्मिका प्रकृति तथा उसके इक्कीस विकारों का परिगणन किया गया है (सांख्य दर्शनम् १.२६)।

अन्यत्र इसी तथ्य को एक रूपक के माध्यम से समझाते हुए कहा गया है कि विश्व की शक्तियों के अभिमानी देव पहले सद्रूप कारण में लीन, प्रकृति की साम्यावस्था *'सलिल'* (देखिए—स्कन्द और दुर्ग आदि आचार्यों की यास्क ७.३ की व्याख्या) में स्तब्ध पड़े हुए थे। इनमें क्षोभ उत्पन्न हुआ और उन्होंने नृत्य करना प्रारम्भ किया। इन नृत्य की अवधि में उनके पाद विक्षेप से जो धूलि उड़ी थी, वही यह सब पार्थिव विश्व है—*यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत। अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत* (ऋ. १०.७२.६)। जहां एक ओर आधुनिक विज्ञान की सृष्टि प्रक्रिया की विवेचना से इस कल्पना की मौलिकता को अपूर्व समर्थन मिलता है (फ्रिट्स काप्रा, द *ताओ आफ फिजिक्स* १९८४), वहीं इसी के आधार पर शिव के नटराज स्वरूप की रोचक कल्पना भी प्रतिष्ठित हुई है। एक अन्य मंत्र में ब्रह्मणस्पति द्वारा सर्ग पूर्व की अव्यक्त अवस्था से सृष्टि के व्यक्त होने की प्रक्रिया को लोहकार द्वारा अपनी धमन् भठ्ठी पर कार्य करते हुए विविध रूपों के गढ़ने की उपमा से स्पष्ट करने का प्रयास किया है— *सं कर्मार इवाधमत् देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत्* (ऋ.१०.७२.२—३)। प्रतीत होता है कि यूनान की प्रचीन देवमाला में *'प्लूटो'* और *'वल्कन'* की कल्पना की पृष्ठभूमि में इसी मंत्र के व्यापक प्रचार—प्रसार का ही प्रभाव था (ग्रेव्ज १९६२: भाग १.१२.१२२,३११)। इन प्रसंगो की ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ अधिक विस्तार से चर्चा हुई है, किन्तु यहां उसका उल्लेख अनावश्यक ही है (देखें—अरुण कुमार १९९६: ६१—६७)।

इन्हीं सब वैदिक अवधारणाओं के आधार पर मनु ने 'इसी हेम वर्ण और सहस्र सूर्यों के समान प्रभावान् अण्ड से ब्राह्म संवत्सर के अन्त में 'पुरुष' का उत्पन्न होना' कहा है— *तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशु सम प्रभम्। तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः* (१.९)। उसी अण्ड में हुए विस्फोट, जिसे आधुनिक विज्ञान में *'बृहत विस्फोट'*— big bang — कहा जाता है, के फलस्वरूप ही द्यावा—पृथिवी आदि समस्त विश्व की अभिव्यक्ति हुई है (१.१२—१३)

वेद के अन्य रूपक का भी इसी आद्य विस्फोट से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन्द्र द्वारा वृत्रवध के कथानक में यास्क से लेकर आज तक के सभी व्याख्याकारों ने मेघ अथवा हिमीभूत जल राशि को सूर्य की किरणों द्वारा पिघला कर जलों के बहाने का ही अभिप्राय पढ़ा है (जयदत्त उप्रेती, १९८५,)। परन्तु क्या उस रूपक में *'आपः'* अथवा *'सलिल'* नामक जलों को रुद्ध रखने वाले बाह्य दबाव अर्थात् घेर कर बांध रखने वाली वृत्र संज्ञक गुरुत्वाकर्षण की शक्ति और इन्द्र के नाम से प्रसिद्ध चेतन तत्व की प्रसार पाकर *'एकोहम बहुस्याम्'* अर्थात विस्तृत होकर प्रसार पाने की कामना का निरन्तर चक्र गति से चलने वाला संघर्ष नहीं देखा जा सकता है? माना जाता है कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। यह भी बार—बार दुहराया गया है कि *'परोक्ष प्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः'* (यास्क)। तब वेद के इस रूपक में वर्षानुवर्ष मेघ अथवा हिम से जलों के रुद्ध होने और

फिर सूर्य के ताप द्वारा उन्हें पिघला कर बहाए जाने के प्रत्यक्ष सत्य को पढ़ने का इतना आग्रह क्यों? हमें तो इस कथा में 'अन्तः करण में विचार कर अथवा विचार पूर्वक बुद्धि द्वारा ही व्यक्त में अव्यक्त को जान लेने वाले मनीषियों'—*ततो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा* (ऋ. १०६.४) द्वारा आद्य विस्फोट के परोक्ष सत्य को निरूपित करने का प्रयास ही प्रतीत होता है (आद्य विस्फोट से होने वाली आदि सृष्टि की प्रक्रिया का आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं से अद्भुत साम्य की विस्तृत विवेचना के लिए, देखें अरुण कुमार १९९६:६१—७७)

मनु द्वारा स्वीकृत आर्ष परम्परा की एक अन्य मान्यता के सम्बन्ध में भी उसके अवैदिक और अवर कालिक उद्भावना होने का भ्रम फैलाया गया है। यह है **युग मान और युग ह्रास** की अवधारणा (मनु १.६४.७४; देखें, सूर्य सिद्धान्त। १.१३.२३)। ईसाई पंथ प्रेरित इस दुराग्रह के होते हुए भी, युगों की इस अवधारणा का संकेत *'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रि युगं पुरा'* (यजु १२.७५) में उपलब्ध है, किन्तु इसके वर्षों की गणना की विधि अथर्व वेद में ही बताई गई है। वहां —*'शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः'* के विविध अन्वयों के आधार पर चतुर्युगी के कलि आदि युगों (विद्यालंकार १९८७:१६१—१६२) अथवा कल्प (विद्यानन्द सरस्वती १९८८:४२५) के वर्षों के संख्या की गणना की विधि बताई गई है (विस्तृत विवेचना को लिए—देखें, अरुणकुमार १९९६:७७—९७)। इसी प्रकार, युगह्रास का भी संकेत ऋग्वेद में उपलब्ध है। ऋग्वेद के यम—यमी के संवाद सूक्त (१०.१०) में यम अपनी सहोदरा यमी की काम—याचना का प्रत्याख्यान करते हुए कहता है कि 'आगे चल कर कभी एसा समय आएगा जब बहिनें, बहिनों के लिए अयोग्य, इस कृत्य को करेंगी'—*आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि* (.१०.१०.१०.)। इसी प्रकार आचार्य यास्क ने भी निरुक्त में कालक्रम के प्रभाव से मनुष्यों में होने वाले धारणा शक्ति के ह्रास का सिद्धान्त स्वीकृत करते हुए कहा था कि 'पहले धर्म को साक्षात् करने वाले ऋषि हुए थे। उन्होंने अपने पीछे आने वाले लोगों, जो धर्म का साक्षात्कार करने में सर्वथा अक्षम थे, के लिए उपदेश द्वारा मंत्रों के पाठ और अर्थ समझाए थे। कालान्तर में, जिन्हें उपदेश द्वारा भी ज्ञान ग्रहण करने में ग्लानि होने लगी थी, और जो और भी अवर कालीन थे, पीछे हुए थे, उन्होंने स्फुट ग्रहण के लिए इस निघण्टु और निरुक्त का तथा अन्य वेदांगों का अभ्यास किया था' (१.२०)।

अन्य वैज्ञानिक शास्त्रों में भी युग ह्रास की अवधारणा को स्वीकृति मिली हुई थी। पराशर कृत ज्योतिषसंहिता में *'पुरा खलु अपरिमित शक्ति प्रभा वीर्य.. .. पुरुषा बभूवुः'* कह कर *'तेषां क्रमादपचीयमान सत्त्वानाम् अपचीयमान रजस्त मस्कानां तेजोऽ न्तर्दधे'* (वराहमिहिर, बृहत्संहिता की उत्पल टीका में पृ. १५ पर उद्धृतः मीमांसक १९७७:६४ टि १,२ क)। अन्यत्र, वेदों में वर्णित सहस्त्र संवत्सर पर्यन्त चलने वाले दीर्घ सत्रों के सन्दर्भ में महामुनि कृष्ण द्वैपायन व्यास के शिष्य जैमिनि ने अपने मीमांसा सूत्रों में मनुष्यों की आयु का अब उतना दीर्घ होना असम्भव बताया है— *सहस्त्र संवत्सर तदायुषामसंभवान्मनुष्येषु* (३.१३.३१) भी इसी

ओर इंगित करता है। इसी प्रकार चरक संहिता में भी *'भ्रश्यति तु कृतयुगे'* (वि. स्था.३.२८; मीमांसक १९७७:९४ टि २ख) कह कर यह भी कहा है कि *'आज कल मनुष्यों की आयु का प्रमाण मात्र सौ वर्ष ही रह गया है– वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले* (शा. स्था. ६.२६; भगवद्दत्त १९६४:१४५)। इन सब प्रमाणों के देखते हुए मनु के कथन *'ह्येषामायुर्ह्रसतिपादशः'* (१.८३) की वेदमूलकता में सन्देह नहीं रह जाता है।

सृष्टि तो कार्य है और प्रत्येक कार्य के तीन-निमित्त, उपादान और साधारण-कारण होते हैं। इसी दृष्टि से आर्ष परम्परा में सृष्टि का निर्माता होने से परमात्मा को निमित्त और जड़ प्रकृति के उपादान कारण कहा गया है। यतः प्रत्येक कार्य का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है, योगदर्शन मे सृष्टि का प्रयोजन *'भोगापवर्गार्थं दृष्यम्'* (२.१८) कहे जाने से तीसरा साधारण कारण जीव ही प्रतीत होता है (अनादितत्व दर्शन में स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने परमात्मा को निमित्त और जीव को साधारण निमित्त कारण कहा है)। वेद में अनेक एसे मंत्र है। जिसमें तीन मूल तत्वों– चेतन परमात्मा, जड़ प्रकृति और चेतन जीवन– का कथन हुआ है। एक प्रसिद्ध मंत्र में बताया गया है कि 'दो पक्षी साथ साथ मित्र ('समान शील व्यसनेषु सख्यं') बन कर रहते हैं। उनमें से एक पीपल के स्वादिष्ट फलों को खाता है, दूसरा न खाता हुआ, केवल देखता रहता है' (ऋ.१.१६४.२० मु.३०३.१;श्वे.उ.४.६; देखें, ऋ १.१६४.२२)। इसी भाव को अधिक विस्पष्ट करने के लिए ही मुण्ड कोपनिषद में एक को *'शोचति मुह्यमानः'* और दूसरे को *'वीतशोक'* कहा गया है (३.१.२;श्वे.उ.४.७)। अथर्ववेद के एक मंत्र में इन्हीं तीन का वर्णन करते हुए कहा गया है कि एक बाल से भी अधिक सूक्ष्म–*बालाद् एकम् अणीयस्कम्*–है, दूसरा तत्व इससे भी अधिक सूक्ष्म होकर दिखाई ही नहीं देता है (प्रकृति)– *उत एकं नैव दृश्यते*। एक तीसरा देवता तत्व है, जिसने समग्र जगत को अपने आलिंगन में ले लिया हुआ है– *ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया* (१०.८.२५)। अन्यत्र,ब्रह्म और प्रकृति को दो माताएं तथा जीव को वत्स कह कर इसी तथ्य को और भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है–*द्विमाता बन्धनश्चरति वत्स एक* (ऋ ३.५५.६)। एक स्थान पर 'प्रजापति परमात्मा द्वारा ब्रह्मण जीव के लिए पकाए जाते हुए भात'– *यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणोऽपचत्* (अर्थव ४.३५.१)–की उपमा से इन्हीं तीन अनादि तत्वों का उपन्यास किया गया है। अन्यत्र, यही तथ्य अखण्डनीय एक रस प्रभु आदित्य, ज्ञान स्वरूप जीव अग्नि तथा त्रिगुणात्मिका प्रकृति–*त्रिवृत च हंसम्*– के माध्यम से समझाया गया है (वही १०.८.१७)। ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में,इन तीनों में भ्रातृत्व सम्बन्ध स्थपित करते हुए, कहा गया है कि प्रशस्त और पुराण दाता है –ब्रह्म, मध्यम भोक्ता–जीव है और तृतीय भोग्य पदार्थो का आधार–प्रकृति है, जिसके,समस्त दृश्य जगत का पोषण करने वाले महत्तत्त्व, अहंकार और पांच तन्मात्राएं आदि सात पुत्र है–

अस्य् वामस्य पलितस्य् होतुस्तस्यभ्राता मध्यमो अस्त्यशनः।

तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्वपतिं सप्त पुत्रं (१.१६४.१) यजुर्वेद के ईशावास्योपनिषद नामक चालीसवें और अन्तिम अध्याय के प्रथम मंत्र में भी व्यापक ईश, वास्य —व्यापक जगत और उसका *'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'*— आसक्ति हीन भोग करने का उपदेश प्राप्त करने वाले जीव का उल्लेख भी तीन अनादि तत्वों की मान्यता की ही पुष्टि करता है।

ऊपर नासदीय सूक्त का उल्लेख किया जा चुका है। उसके दूसरे मंत्र के चतुर्थ पाद मेंआए *'तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास्'* के आधार पर 'इस सारे जगत का मात्र ईश्वर से ही उत्पन्न होना' नहीं माना जा सकता है। 'इस सारे ही सूक्त में जगत की उत्पत्ति में प्रधान कारणों में से परम ब्रह्म रूप निमित्त कारण की प्रधानता दर्शाई गई है।' यह प्रधानता इस सूक्त के नवें और अन्तिम मंत्र के प्रथम पाद *'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव'* शब्दों से स्पष्ट है। 'इस सूक्त में *'नासदासीन्नो सदासीत्'* इत्यादि में सत् असत् के अभाव का निर्देश केवल परमब्रह्म की जगत उत्पादक शक्ति की प्रशंसा करके उनकी प्रधानता बताने के लिए किया गया है, न कि सत्, प्रकृति एवं अन्य के सर्वथा निषेध के लिए। सृष्टि की रचना में ईश्वर, जीव और प्रकृति—तीनों ही कारण हैं। तीसरे मंत्र में *'तपसस्तन्महिमा जायतैकम्'* में *तपस्* का प्रेरक ईश्वर को छोड़ कर और कौन हो सकता है? *'तपस्'* के अभाव में प्रकृति अव्यक्त ही रह जाएगी और यदि प्रकृति न हो तो *'तपस्'* की क्रिया का आधार क्या होगा? फिर, यदि जीव न होगा, तो सृष्टि रचना के निमित्त की जाने वाली तपस की क्रिया किसके लिए होगी, उसका भोक्ता कौन होगा (विद्यानन्द सरस्वती, १६७६:२००—१)? इसी प्रकार *'पतत्रैद्यावाभूमो जनयन् देव एकः'* (ऋ .१०.८१.३) मंत्रांश में भी एक ही देव द्वारा उत्पादित द्यावा—पृथिवी की साधन—सामिग्री का उल्लेख *'पतत्र'* पद के द्वारा ही हुआ है।

उपनिषदों में भी इन तीनों अनादि तत्वों का अनेकशः कथन हुआ है। श्वेताश्वतर में तीन अज—अजन्मा अर्थात् अनादि तत्वों में से एक तो सत्व, रजस् और तमस् से युक्त—प्रकृति है, जो अपने स्वरूप की ही अनेक प्रजाओं की सृष्टि करती है, एक है जो आसक्ति पूर्वक उनका भोग करता है, और एक—तीसरा—हैं जो इस भुक्तभोगा प्रकृति को निर्लिप्त रहता हुआ छोड़ देता है—

अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानो सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्त भोगामजोऽन्यः।। (४.५)

इसी प्रकरण के अन्य मंत्र में *'मायां तु प्रकृति विद्यान्मायि नं तु महेश्वरम्'* (४. १०) कह कर बताया गया है कि 'एक मायी महेश्वर इस सम्पूर्ण विश्व को रचता है और दूसरा उस प्रपञ्च में माया के द्वारा भली भांति बंधा हुआ है'—*यस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सं निरुद्धः* (४.६)। मुण्डक में ब्रह्म को दिव्य, अमूर्त, पुरुष, अजन्मा, अप्राण, अ—मन, शुभ्र और समस्त जगत के भीतर और बाहर व्याप्त कहते हुए भी, उसे *'अक्षरात् परतः परः'* अक्षर प्रकृति से परे— जीवात्मा—से भी परे बताकर ब्रह्म का ही निरूपण किया गया है (२.१.२)। इसके पूर्व के मंत्र में अक्षर का विशेषण *'सरूपाः'* है, अतः यदि वहां अक्षर को ब्रह्म अर्थ में ग्रहण करके, उसकी कार्य जगत से सरूपता मानी जाए, तो अनुचित ही होगा।

अपितु, कार्य जगत के साथ तो प्रकृति की ही समनुरूपता स्पष्ट है (स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, तत्त्वमासि ,४५७–८)। कठ में भी तीन अनादि तत्वों में सर्वोत्कृष्ट नित्य चेतन सत्ता द्वारा अकेले ही अनेक चेतन सत्ताओं के लिए भोगों (शंकराचार्य ने यहां 'कर्मफल भोग' अर्थ ही ग्रहण किया है) की व्यवस्था किए जाने का उल्लेख हुआ है– *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतना नामेको बहूनां यो विदधाति कामान्* (२.२.१३; देखें,श्वे.उ.६.१३)

पूर्व उद्धृत मंत्रों में जिन तीन अनादि तत्वों–सत्ताओं का उल्लेख हुआ है, उनमें से एक के विशेषणों से उनके भौतिक जगत के उपादान कारण होने की ही सूचना मिलती है। इसे *'इयं विसृष्टिः', 'वृक्षो मध्वदः', 'ओदनं,' 'घृतपृष्ठो,'* और *'अस्यात्रापश्यं विश्वपतिं सप्त पुत्रं', 'अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णावर्णा' 'त्रिवृतं हंसम्'* और एक स्थान पर तो स्पष्ट ही *'अक्षर' 'माया तु प्रकृतिं'* कहा गया है। और भी, *'बह्वीः प्रजां सृजमानां सरूपाः'* कह कर भी दृश्य जगत की क्रमशः बढ़ती हुई विविधता की ओर संकेत किया गया है।

प्रकृति– *'प्रक्रियते अनयेति प्रकृतिः'*–सृष्टि पूर्व की उस स्थिति का नाम है, जब इस अनादि तत्व–अजा–के लोहित–सत्व, शुक्ल–रजस् और कृष्ण–तमस् नामक तीनों गुण अभी साम्यावस्था में ही रहते हैं। प्रक्रिया आरम्भ होने पर साम्यावस्था में क्षोभ उत्पन्न होता है और तब इन तीनों गुणों के न्यूनाधिक सम्मिश्रण से उत्तरोत्तर स्थूल होते जाने वाले विकारों का जन्म होने लगता है। उस स्थिति में इसे *'विकृति'* कहा जाने लगता है। यथा– प्रकृति में महान–मन–*महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः* (सांख्यदर्शनम् १.३६ ०), उससे अहंकार–कर्ता–*अहंकार कर्ता न पुरुषः* (वही ६.५४), उससे पञ्च तन्मात्राएं तथा दोनों –ज्ञान और कर्म– प्रकार की इन्द्रियां, तन्मात्राओं से स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं। इन सब–प्रकृति–से अतिरिक्त, पुरुष पच्चीसवां है– *पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः* (वही १०२६)। यह सारी ही गणना वेद के पूर्व उद्धृत (ऋ १.१६१.१;६०.१५;श्वे.उ.४.५) मंत्रों के आधार पर की गई है।

भौतिक जगत के इन मूल तत्वों के गुणों का प्रभाव हमारे मन और शरीर पर भी लक्षित होता है। मनु ने इसे अध्याय १२ में कुछ इस प्रकार कहा है–'जो गुण जब शरीर में मात्रा से साकल्येन अधिक होता है, वह गुण उस शरीर को उसी गुण–प्रधान बना देता है (२५)। सत्व गुण का लक्षण है ज्ञान, यथार्थ प्रीति, रजस् का रागद्वेष और तमोगुण का अज्ञान। प्राणियों का पाञ्चभौतिक शरीर इन तीनों गुणों से ओत प्रोत है (२६)। जहां प्रीति संयुक्त आत्मा दिखाई दे और प्रशान्त–शुद्ध आभा लक्षित हो, वहां सत्व गुण की कल्पना कर लेनी चाहिए (२७)। जिसके कारण दुःख का अनुभव हो और अपने को अप्रीतिकर लगे, प्राणियों को बहकाने वाले उस शत्रु रूप गुण को रजस् समझना चाहिए (२८)। जिससे विवेक नष्ट हो जाये, जो अस्पष्ट हो, विषयों में आसक्ति उत्पन्न करता हो और जो अप्रतर्क्य और अविज्ञेय हो, उसे तमस् समझना चाहिए (२९)। इस तीन गुणों को पार करके ही शरीरधारी अमृतत्व का भोग कर सकता है– *गुणानेतानतीत्य*

त्रीन्देही अमृतमश्नुते (श्री मद्भगवद्गीता १४.२०)। अतः, कर्म कोई भी हो—कायिक,वाचिक अथवा मानसिक, वह व्यर्थ नहीं जाता है, उसका फल —प्रतिक्रिया—होती ही है। इसीलिए जीवन भर तो शुभ कर्मोका तो सम्पादन करना ही चाहिए, अन्त समय में भी, मनुष्य को ईश्वर स्मरण के साथ साथ ही अपने कृत कर्मों का लेखा जोखा—विवेचना कर लेने की बात भी वेद में कही गई है—
ओइम कृतोस्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर (यजु ४०.१७)

परमात्मा इस प्रकृति और उसकी विकृति, वैविध्यपूर्ण जगत, से पृथक है। कहा गया है कि 'सर्व प्रेरक देव परमेश्वर ने उस जगत को उत्पन्न किया है जो उसे पृथक है'—*प्रासावीद् देवः सविता जगत पृथक्* (साम ११५८)। शांकर वेदान्त कुछ भी कहे, कितना भी *'जगन्मिथ्या'* का घोष करता रहे, वेद की मान्यता तो यही है कि यह जगत जड़ होते हुए भी सत्य है, इसकी स्वतंत्र सत्ता है। 'इस महान सत्य स्वरूप ईश्वर के कार्य भी महान और सत्य ही हैं—*प्रधान्वस्य महतो महानि सत्या सत्यस्य करवाणि* (ऋ २.१५—१) ।'परमेश्वर द्वारा उत्पादित सभी पदार्थ और एश्वर्यो की सत्ता वास्तविक है—*सत्रा सोमा अभवन्नस्य विश्वे सत्रा मदासो बृहतो मदिष्टाः* (ऋ ४.१७.६)। 'यह दान शील परमेश्वर जिस जगत को जानता—जनाता है, वह सत्य ही है, असत्य अथवा व्यर्थ नहीं है—*यच्चिकेता सत्यमित तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेजीत दाता* (ऋ १०.५५.६)। कहा भी गया है कि प्रज्ञावान कुछ भी निष्प्रयोजन नहीं करते हैं—*न ही प्रयोाजनमनभि सन्धाय प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते,* और जिस उद्देश्य से प्रवृत्ति होती है उसे ही प्रयोजन कहा जाता है— *यमर्थमधिकृत्य प्रर्वतते तत्प्रयोजनम्*। अतः, *'न मोघं'* पद का उपन्यास करते हुए ही योगदर्शन में जड़ प्राकृतिक दृश्य मान जगत का प्रयोजन जीवात्मा के लिए *'भुक्तभोगा'* का भोग और अन्ततः उससे भी मोक्ष ही कहा गया है—*भोगापवर्गार्थ दृश्यम्'* (२.१८)। सांख्य दर्शन में भी आत्मा के भोगार्थ और मोक्ष के लिए ही प्रधान प्रकृति की प्रवृत्ति होने की बात *'संहतपरार्थत्वात्* (१.१०५) और *'मोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य'* (२.१) कह कर समझाई गई है।

परमात्मा को इस सारे वैविध्यपूर्ण दृश्यमान जगत का प्रतिमान—*यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव* (ऋ २.१२.१) तथा प्रतिरूप—*रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव* (ऋ ६.४७.१८) कहा गया है। उसे समस्त उत्पन्न पदार्थो का पति—*भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्* (यजु १३.४), द्यावा—पृथिवी को उत्पन्न करने वाला— *द्यावा भूमी जनयन् देव एकः* (ऋ १०.८१.३), सभी चलने और श्वांस लेने वालों का स्वामी—*यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिः* (ऋ १.१०१.३) कहा गया है। वह इस जगत को घेर कर भी उससे असंपृक्त—*सभूमिं विश्वतो वृत्त्वात्यतिष्ठत्* (ऋ १०.६०.१)—ही है। वही सभी उत्पन्न पदार्थो में ओत प्रोत होकर सर्वव्यापक है— *स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु* (यजु ३२.८)। वह हमारे अन्दर होता हुआ भी हमसे पृथक है— (ऋ१०.८२.७ —यजु.१७.३१)। वही सब प्रकाश मान पदार्थो का एक मात्र देव है—*यो देवेष्वधिदेव एक एव* (ऋ १०.१२१.८)। वही इन सभी को व्यक्तित्व प्रदान करता है— *यो देवानां नामधा एक एव* (ऋ १०.८२.३;देखें. बृ.उ.१.७)।

इसी आधार पर, ईश्वर की सत्ता सिद्ध करते हुए, वैशेषिक दर्शन (१.१८) में कहा गया है कि आदि में संसार की प्रत्येक वस्तुओं का नाम और काम निश्चित करने वाले, हम लोगों से विशिष्ट, कोई सत्ता होनी चाहिए, वही ईश्वर है— *संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्* (२.१८)। यदि हम इन सभी विशेषताओं को एक वाक्य में समाहित करना चाहे, तो अथर्ववेद के साथ *'अकामो धीरो अमृतः स्वयंम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः'* (१०.८.४४) ही कहेंगे। लगभग इसी का व्याख्यान करते हुए, श्वेताश्वतर में कहा गया है— *एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणः* (६.११) और योग दर्शन में *'क्लेश कर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वरः'* (१.२४)— क्लेश, कर्म,विपाक और आशयों से सर्वथा असंपृक्त विशेष चेतन तत्व' ही ईश्वर है।

परमात्मा और जीवात्मा का भेद यद्यपि पूर्व उद्धृत संदर्भों में पदे पदे स्पष्ट होता गया है, फिर भी दोनों में *'आत्मा'* पद के अन्तर्भाव के कारण संक्षिप्त विवेचना अप्रासंगिक नहीं होगी। आचार्य यास्क ने इस पद का निर्वचन कुछ इस प्रकार किया है—'आत्मा अतति से अर्थात अतन—गतिशील, तनन—व्याप्त होने वाला अथवा आप्ति से, व्यप्तिमान होने से और भी व्याप्त के समान होने से' —*आत्माऽततेर्वा। आप्तेर्वा। अपि वाप्त इव स्यात्। यावद व्याप्ति भूत इति* (३.१५)। प्रथम निर्वचन *'अत सातत्यगमने'* (उणादि ४.१५३) से मनिन् प्रत्यय लगाकर किया गया है। व्याख्याकारों ने लिखा है— जो निरन्तर कर्म फलों को प्राप्त करता तथा एक देह से देहान्तर को प्राप्त होता रहता है, वह (जीव)त्मा है—*अतति निरन्तर कर्मफलानि प्राप्नोति व्याप्नोति वा योऽन्तराणि स आत्मा*। तृतीय निर्वचन के अनुसार भी आत्मा जीवात्मा का ही वाचक है। वह व्याप्त तो नहीं, किन्तु व्यप्तीभूत—व्याप्त सा तो है ही। जीवात्मा एक देशी होने से समस्त शरीर में व्याप्त तो नहीं है, किन्तु सारे शरीर में उसकी शक्ति व्याप्त तो है ही। द्वितीय निर्वचन *'आप्लृ व्याप्तौ'* धातु से निष्पन्न हुआ है। परमात्मा के सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी होने से इस अर्थ में आत्मा पद से परमात्मा का ग्रहण किया जा सकता है।

इसी प्रकार एक शब्द और भी है— 'पुरुष'। इसका निर्वचन करते हुए आचार्य ने लिखा है कि 'पुरि—शरीर अथवा ब्रह्माण्ड शरीर में रहने बैठने वाला; शरीर में लेटने वाला अथवा अन्दर से पूर्ण अन्तर्यामी पुरुष को ध्यान में रखकर पूरयति से पुरुष (पद) निष्पन्न होता है— *पुरुषः पुरिषादः। पुरिशयः। पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरितन्तरपुरुषमभिप्रेत्य* (वही २३)। अतः इन दोनों शब्दों का अर्थ प्रसंगानुसार ही ग्रहण करना चाहिए।

तीन अनादि तत्वों और उनके अर्थों की चर्चा के प्रसंग में *'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'* का उल्लेख करते हुए निरपेक्ष दृष्टा को *'परमात्मन्'* और आसक्त भोक्ता को *'जीवात्मन्'* बताया जा चुका है। अन्यत्र भी जीवात्मन् को इन्द्र अर्थात् परमात्मन् का योग्य सखा—*इन्द्रस्य युज्यः सखा* (यजु १६.३) कहा गया है। श्वेताश्वतर (१.२) में *'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं'* के त्रिक् में इसी को भोक्ता पद से अभिहित किया

गया है। अर्थववेद में कहा गया है कि 'एक ही देव — जीवात्मन्—मन में प्रविष्ट होकर प्रथम उत्पन्न होता है, फिर वही (मर कर पुनः) गर्भ में आता है, और (कर्मानुसार) कभी पिता, कभी पुत्र, कभी बड़ा और कभी कनिष्ठ होकर जन्म लेता है—

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः।
एको हि देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः (१०.२.२८)

इसके पूर्व के मंत्र में इसके कभी स्त्री और कभी पुरुष रूप में — *त्वं स्त्री त्वं पुमानसि*—आने की बात भी कही गई है। अन्यत्र, आत्मा को अणु स्वरूप बताते हुए, इसमें पांच प्राण निहित होने— एषोऽणुरात्मा *यस्मिन्प्राणाः पञ्चधा संविवेश* (मु. ३;३.१.६) की बात भी कही गई है। इसी हृदय में,मन, अन्तः करण और पांच वाह्य इन्द्रिया भी प्रतिष्ठित कही गई है— *इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि में हृदि ब्रह्मणा संशितानि* (अर्थव १६.६.५)।

पूर्व उद्धृत मंत्रों में **जीवात्माओं की अनेकता** का संकेत भी मिलता है। उनके अतिरिक्त *'वयं जीवा जीवपुत्राः'* (ऋ १०.३६.६), *'वयं जीवाः प्रतिपश्येम'* (वही १०.३७.८), *'इमे जीवा विमृतैः'* (वही १०.१८.३), *'जीवा ज्योति रशीमहि'* (वही ७.३२.२६), *'जीवानां व्रातमप्यगात्'* (वही २.६.२), *'रेतोधाः आसन्'* (वही १०.१२६.५), *'वपूंषि कृणुषे पुरूणि'* (अथर्व ५.१.२), *'ये समानाः समनसो जीवाः'* (यजु १६.४६), *'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः'* (श्वे.उ.२.५) तथा इन्हीं के आधार पर मनु स्मृति (१२.६१) में *'सर्वभूतेषु'* कह कर ही जीवात्माओं का बहुत्व प्रतिपादित किया गया है। इन्हीं और इन्हीं जैसे अन्य बचनों के आधार पर ही आर्ष दर्शन में भी प्रत्येक देह में अलग अलग होने की व्यवस्था से आत्माओं का बहुत्व—*व्यवस्थातो नाना* (वैशेषिक द. ३.२.२०) तथा *'पुरुषं बहुत्वं व्यवस्थातः*(सांख्य द. ६.४५) स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में इन नाना जीवात्माओं के विभिन्न शरीरों में आंख,कान आदि इन्द्रियों के होने की समान व्यवस्था होते हुए भी, सभी में मनोवेगों की असमानता—*अक्षण्वन्तः सखाओ मनोजवेष्वसमा बभूवुः* (ऋ.१०.७१.७) का स्पष्ट कथन हुआ है।

यहाँ जिस **पुनर्जन्म** का कथन हुआ है, उसकी अनेक अन्य मंत्रों से भी पुष्टि होती है। ऋग्वेंद में पुनः पिता प्राप्त करने और माता का दर्शन कराए जाने की बात कही गई है— *पनुर्दात पितरं च दृशेयं मातरं च* (१.२४.१—२)। एक अन्य मंत्र में देह के प्रत्येक अंग का अपने कारण में लीन हो जाना कह कर (ऋ १०.१६.३) भी *'अनुच्छित्तिधर्मा'* आत्मा को पुनः शरीर मिलने — *सं गच्छतां तन्वा जातवेद* (वही५) और जीवधारी के रूप में जीवित ही माता के गर्भ से बाहर निकलने—*निरैतु जीवों अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि* (वही ५.७८.६;देखें, अथर्ववेद १.११.६) की बात कहे जाने से भी इसी की पुष्टि होती है। अथर्ववेद में भी पुनः *'यहीं'* ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करने, पुनः आत्मा,बल और ज्ञान प्राप्त होने और पुनः अग्नि रूप वाक् आदि कर्मेन्द्रियों के यथा स्थान समार्थ्यवान् होने— *पुनर्मैत्विन्द्रियं*

पुनरात्मा..... यथा स्थाम कल्पयन्तामिहेव (७.६.७.१) का कथन हुआ है। उसी में *'स जायते पुनः'* (११.४.१४) भी कहा गया है। युजर्वेद में भी मन, आयु, प्राण, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र आदि के पुनःपुनः प्राप्त किए जाने का उल्लेख हुआ है (४. १५)। आचार्य यास्क ने निरुक्त में इसी प्रकार के वैदिक वचनों के आधार पर ही लिखा है– 'वह जीव जैसी वासनाओं में अटका रहता है, वैसा ही जन्म पाता है। यदि धर्म के आसक्ति होती है तो विद्वान होता है, यदि विज्ञान में फंसा रहता है तो अमृत हो जाता है। यदि काम में लिप्त रहता है तो बहुत गिरता है'। अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने एक श्लोक भी उद्धृत किया है जिसमें बताया गया है कि 'मरा हुआ मैं फिर उत्पन्न हुआ, उत्पन्न हुआ मैं फिर मरा। नाना प्रकार की सहस्त्रों योनियां मेरे द्वारा वास की गई हैं। यह निश्चय ही सत्य है। (मैंने अनेक जन्मों में) विविध प्रकार के आहार खाऐ हैं और नाना प्रकार के स्तनों का पान किया, विविध प्रकार की माताएं देखीं हैं और (उतने ही प्रकार के) विविध पिता और मित्र!' आगे उन्होंने कहा है कि 'उत्पन्न हुआ वह, वायु का स्पर्श होते ही, पिछले जर्न्म–मरण का स्मरण नहीं करता है। अन्त में शुभाशुभ कर्म ही उसको साथ रहते है।'– *जातश्च वायुना स्पृष्टस्तन्न स्मरति जन्म मरणम्। अन्ते च शुभाशुभं कर्म* (१४.६:पृ० ६७३–४)। इसी अवधारणा को सूत्र रूप में निबद्ध करते हुए *'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः'* (न्याय द. १.१.१९), *'पूर्वकृत फलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः,* (वही ३.२.६३) तथा *'कर्भवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्'* (सांख्य द.६.४१) कह कर समझाया गया है (और भी, देखें–छा.उ.५.१०.८)।

ईसाई और इस्लाम जैसे अनार्य पंथों की मान्यता है कि मनुष्य को केवल एक ही जीवन मिलता है। देहान्त के बहुत बात सुदूर भविष्य में *'कयामत'* के दिन भेरी घोष करके जगाए जाने पर सभी मृतक 'कब्रों' से बाहर निकल आएंगें और तभी उन्हें इंस एक जीवन में किए गए शुभाशुभ कर्मो का, ईसा और मुहम्मद की सम्पोषणा के आधार पर ही, निर्णय क़रके सदा के लिए स्वर्ग या नरक भेज दिया जाएगा। इस अतर्क्य और पक्षपात पूर्ण मान्यता के विपरीत, आर्ष परम्परा के अनुसार, मनुष्य का प्रत्येक जीवन हीं नहीं, जीवन का प्रत्येक दिवस भी कृतकर्मो के फलोपभोग का ही नहीं, भविष्य को संवारने–बिगाड़ने वाले कर्मो को करने का अवसर प्रदान करता है। यही नहीं, उसे अनेक जीवन में भी भूल सुधार कर, उन्नति के अगणित अवसर भी मिलते रहते हैं।

प्रत्येक के अपने अपने कर्म ही, जीवात्माओं के मनोवेगों की इस असमानता का कारण होते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने भाष्य में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ५८ वें सूक्त के प्रथम पांच मंत्रों की व्याख्या में जीवात्मा को मन और शरीर आदि का धारण कर्ता, निरन्तर जन्म मरण के बन्धनों में फंसा हुआ, बहुत से मनोनुकूल भोगों का सेवन करते हुए ग्रहण, धारण और हनन आदि कर्मो के करके–*वृथा जुहूभिः सृण्या तुविष्वणिः* (४), स्थिर वृक्ष में बैठे हुए पक्षी के समान भयभीत– *स्थातुश्चरथं भयते पतत्रिणः* (५)–होकर अपने किए हुए कर्मो के फल का भोक्ता–*क्राणा.... ऋञ्जसानः* (३) कहा है। इसी बात को कुछ और स्पष्ट करते

हुए श्वेताश्वतर उपनिषद में कहा गया है कि 'सत्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणों से बंधा हुआ और फल के उद्देश्य से ही कर्म करने वाला जीवात्मा ही उस कर्मफल का भोक्ता होता है। विभिन्न रूपों में प्रकट होने वाला, तीन गुणों से युक्त, और कर्मानुसार ऊर्ध्व, मध्यम और अधः जैसी तीन प्रकार की गति वाला वह प्राणधिप जीवात्मा अपने कर्मों से प्ररित होकर नाना जन्मों में भटकता रहता है'—*संचरति स्वकर्मभिः* (५.७.५.११)। प्रश्न उपनिषद में उसे ही *'द्रष्टा स्पृष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः'* (४.६) कहा गया है। इन वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा कर्म करने में स्वतंत्र है। यदि वह स्वतंत्र कर्ता न होता तो उसको लिए विभिन्न कर्मोका विधि—निषेध भी उपपन्न न होता। वेदों में ऐसे अनेक वचन मिलते है, जिनमें अपने क्रतु—ज्ञान से ध्यान करते हुए प्रशस्त दक्षता को मन में ग्रहण करने—*उत स्वेन क्रतुना संवदेत श्रेयांसं दक्षं मनसा जगृभ्यात्* (ऋ. १०.३१.२), त्याग पूर्वक भोग करते हुए भी निरासक्त रहने— *तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्वित् धनम्* (यज ४०.११), यहां ही कर्मों को करते हुए सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करने—*कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः* (वही ४०.२), पांसो पर दांव न लगाने— *अक्षैर्मादीव्यः* (ऋ. १०.३१.१३), पशुओं की रक्षा करने— *पशून्पाहि* (यजु १.१); *'सत्यं वद धर्म 'चर* (तै.उ.१.११) तथा *'ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्* (मनु ४.९२) इत्यादि संदर्भो में अनेकत्र जीवात्मा के लिए *'किं कर्म किमकर्मेति'* का विधान हुआ है। विहित कर्मो के अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मो के परित्याग करने के निर्देशों से कर्म करने में जीव की स्वतंत्रता स्वतः सिद्ध हो जाती है। अशक्य के लिए शक्य का उपदेश व्यर्थ होगा— उसके लिए उपदेशानुसार कर्म करना असंभव ही होगा।

ऋग्वेद में कहा गया है कि ईश्वर समस्त प्राणियों पर शासन करता है— *य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः* (१०.१२१.३)। अन्यत्र उसे आत्मा से भिन्न होकर भी, उसीमेंरह कर उसका नियंत्रण करने वाला कहा गया है— *य आत्मति तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरः आत्मानमन्तरो यमयति* (श.ब्रा. १४.६.७)। श्वेताश्वतर उपनिषद में उसे ही धर्म में प्रवृत्त, पाप से निवृत्त करने वाला, समस्त एश्वर्यो का स्वामी और सम्पूर्ण जगत का आधार—*धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम्* (६.६) कहा गया है। उसी से श्रेष्ठतम कर्मों में प्रवृत्त करने—*सविता देवः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे* (यजु १.१), *इन्द्र क्रतुं न आभर* (ऋ ७.३२.२६), *स नो वसून्याभर* (ऋ.१०.१९१.१), *धियो यो नः प्रयोचयात्* (ऋ.३.६२.१०) के लिए भी प्रार्थना की जाती है। किसी से कुछ मांगने की स्थिति में मांगने वाले की स्वतंत्रता के बाधित होने की शंका होना स्वाभाविक है। किन्तु थोड़ा गम्भीरता पूर्वक विचार करने से ये सभी प्रार्थनाएं मात्र प्रेरणा मूलक ही सिद्ध होती हैं और जीवात्मा के कर्म—स्वातंत्र्य में कोई व्याघात नहीं आता है। प्रेरयिता स्वयं कुछ नहीं करता है। कर्म के व्यापार एवं सम्पादन में कर्त्ता स्वतंत्र ही होता है।

जीवात्मा, जैसा कि भ्रम वश समझा—समझाया जाता है, परमात्मा के हाथों की कठपुतली नहीं है। दोनों को *'सयुजा सखाया'* कहा गया हैं फलतः, जीवात्मा की प्रवृत्तियों में परमात्मा की अन्तःप्रेरणा स्वीकार कर लेने पर भी, उसका कर्म

स्वातंत्र निर्बाध बना ही रहता है।

'याहोबा' अथवा *'अल्लाह'* की तरह, परमेश्वर स्वेच्छाचारी नहीं है। विधाता होने के कारण , वह विधान के अन्तर्गत रह कर ही, चरम प्रभुता सम्पन्न है। वह सृष्टि का संचालन, नियमों के अनुसार ही करता है। न स्वयं उनका उल्लंघन करता है और न किसी और को ही ऐसा करने देता है। इसीलिए, श्रीमद्भगवद्गीता में कहे गए *'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया ईश्वरः, सर्वभूतानां हृद्देश तिष्ठति* (१८.६१) का इतना ही अभिप्राय स्वीकार करना होगा कि ईश्वर के नियमयंत्र में स्थित जीव संसार में विचरण करता रहता है। इसी अध्याय के ६०वें श्लोक में *'कर्तुनेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत'* में विवश होने का सम्बन्ध श्लोक के प्रथम पाद *'स्वेन स्वभावजेन कर्मणा निबद्ध'* से है। ४३वें श्लोक में अर्जुन का स्वभावज कर्म *'युद्धे चाप्यपलायनम्'* बताया गया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी 'इच्छा न होने पर भी बलात् ढकेला जाता हुआ कर्म करता है'—*अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः* (वही ३.३६) के उत्तर में 'रजोगुण उद्भूत काम और क्रोध को ही उत्तरदायी बताया जाना— *काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः, महाशनो महापाप्मा विर्द्धयेनमिह वैरिणम्* (वही ३.३७) भी जीवात्मा के कर्म स्वातंत्र को वाधित नहीं करता है (स्वामी विद्यानन्द सरस्वती अ.त.द.७८.७६)। वस्तुतः, गीता की भावना तो श्रीकृष्ण के कथन कि 'इस विषय में विचार—विमर्श करने के अनन्तर जैसी तुम्हारी इच्छा हो करो'— *विमृश्येतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु* (वही १८.६५) में पूर्णतः स्पष्ट हुई है और जीव के अपने इच्छानुसार कर्म करने के स्वातंत्र्य की ही पुष्टि करती है।

उपरोक्त वचनों के सार तत्व को ग्रहण करके ही न्याय दर्शन में *'इच्छा द्वेष प्रयत्नसुखदुःख ज्ञानान्यात्मनो लिंगम्'* (१.१.१०) सूत्र पढ़ा गया है। कहा जा सकता है कि ज्ञान और कर्म ही मनुष्य शरीर में निबद्ध आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। शरीर की संरचना भी इन्हीं गुणों की साक्षी हैं। शरीर में दो प्रकार की इन्द्रियां होती हैं— पांच ज्ञानेन्द्रियां और उतनी ही कर्मेन्द्रियां। ज्ञानेन्द्रियां आत्मा के कर्म गुण को सार्थकता प्रदान करती हैं और कर्मेन्द्रियां उसके ज्ञान गुण को साफल्य। 'knowledge for knowledges sake' जैसी पाश्चात्य अवधारणा के विपरीत, जानना वस्तुतः जानने के लिए न होकर, करने के लिए ही होता है। कर्म करने का दिशानिर्देश ज्ञान से प्राप्त होता है, ज्ञान के अभाव में कर्म अन्धा और कर्म के अभाव में ज्ञान पंगु हो जाता है। दोनों के आत्यन्तिक संयोग—सहयोग और सामञ्जस्य से ही जीवन यात्रा सम्भव हो पाती है। इसीलिए कर्मों को करते हुए ही मृत्यु को पार करके ज्ञान सम्पादित करते हुए अमृतत्व प्राप्त करने— *अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते* (यजु ४०.११) की बात कही गई है।

संकल्प—विकल्प पूर्वक कर्म करने के इसी स्वातंत्र्य के आधार पर ही मनु ने अपनी स्मृति में भौतिक जगत के प्राणियों का वर्गीकरण कुछ इस प्रकार किया है— "भूतों में प्राणवान श्रेष्ठ हैं, प्राणवन्तों में बुद्धि जीवी पशु आदि। बुद्धि जीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ है, मनुष्यों में भी ब्राह्मण श्रेष्ठ कहे जाते हैं। इनमें भी विद्वान और उनमें भी विद्या के अनुरूप कर्म करने की योग्यता रखने वाला श्रेष्ठ होता है।

इनमें भी श्रेष्ठ वह है जो वस्तुतः कर्म करता है और सर्वश्रेष्ठ तो वही है जो अपनी विद्या और ज्ञान के अनुरूप ही कर्म करता हुआ ब्रह्म का साक्षात्कार करके उसके सम्बन्ध में कह सकने योग्य हो जाता है"—*कृत बुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः* (१.९७—९८)।

आरम्भ में ही प्रश्न उठाया गया था कि **जीवात्मा का लक्ष्य** क्या है, उद्देश्य क्या है, गंतव्य क्या है? आत्मा के लक्षणों को गुंफित करने वाले न्यायसूत्र पर दृष्टिपात करके, तनिक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इच्छा द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान तो केवल साधन हैं, साध्य नहीं। आर्ष परम्परा में तो सभी भूतों में आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। वेदों में तो स्थावर जगत में भी जीव होने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि प्ररोहण करने वाले सभी वृक्ष,लता गुल्म आदि प्राण धारण करते हैं अर्थात् श्वास प्रश्वास लेते छोड़ते है— *प्राणन्ति वीरुधः* (१.३२.१)। वहीं ओषधियों में जीवन होना बताया गया है— *जीवन्तीमोषधीम्* (८.७.६)। छान्दोग्य उपनिषद में तो वृक्षों को जीवात्मा से ओत—प्रोत होने और जल पीकर आनन्द अनुभव करने वाला— *स एष (वृक्षो) जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति* (६.११.१) कह कर बताया गया है कि जीव के उत्क्रमण कर जाने पर वह सारा का सारा ही सूख जाता है—*यद् .... जीवो सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति* (वही २)। मनु ने और भी विस्तार से चर्चा करते हुए जरायुज (४३) अण्डज (४४), स्वेदज (४५) औ उद्भिज (४६—४८) प्राणियों का उल्लेख करके कहा है कि ये अपने कर्मानुसार ही उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होतेहुए तमोगुण से घिरे होते हैं और भीतर ही भीतर सुख—दुःख का अनुभव करते हैं— *तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्म हेतुना। अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुखःदुःख समन्वितः* (१.४९)। इनके सभी क्रियाकलाप प्रवृत्ति मूलक होते हैं। यतः इनमें स्वतंत्र कर्म करने की क्षमता नहीं होती है, इसलिए इन्हें मात्र *'भोगयोनि'* कहा जाता है। निवृत्ति मूलक लक्ष्य साध्य उसी का हो सकता है, जिसमें उसे प्राप्त करने के लिए संकल्प विकल्प पूर्वक कर्म करने की स्वतंत्रता हो।

लक्ष्य, उद्देश्य अथवा साध्य तो एक ही माना गया है— दुःख अर्थात सुख प्राप्ति में बाधक तत्वों—*बाधना लक्षणं दुःखम्* (न्याय द.१.२१) का निराकरण करके आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति— *तदत्यन्त विमोक्षो अपवर्गः* (वही २२)। अब, सुख दो प्रकार का माना गया है— *'अभ्युदय'* और *'निःश्रेयस'*। इन दोनों में प्रथम तो संसाधनों की सम्पन्नता से प्राप्त होने वाला लौकिक सुख है और दूसरा आत्यन्तिक, चरम और पारमार्थिक। यद्यपि वेद में कहीं भी लौकिक सुख—अभ्युदय—को हेय नहीं कहा गया है— वहां तो साधन सम्पन्नता की प्राप्ति के लिए अगणित प्रार्थनाएं ही की गई हैं चरम सुख तो 'परमात्मा की प्रथमजा वेदवाणी के उपदेशों के अनुसार कर्म करते हुए अपने आप से परमात्मा को जान कर, उसी कृपा में प्रवेश कर जाना'—*उपस्थाय प्रथमजामुतस्यात्मना त्मानमभि स विवेश* (यजु ३२.१०) अथवा 'उस आनन्दमय, अदृश्य, अशरीर, अवर्णनीय, निराधार—सर्वाधार ब्रह्म में

भय–रहित स्थिति प्राप्त करके अभय रूप मुक्ति को प्राप्त करना *'–यदा ह्येवेष एतस्मिन्न दृश्येऽनालयेऽ निरुक्तोऽनिलेयेनऽभयं प्रतिष्ठां विंदते अथ सोऽ भयंगतो भवति* (तै.उ.२.७) ही कहा गया है।

जब लक्ष्य ज्ञात है, उद्देश्य स्पष्ट है तो फिर कर्म करने में स्वतंत्र जीवात्मा उस लक्ष्य का भेदन क्यों नहीं कर लेती? उसमें कौन सी बाधाएं हैं? और क्यों? इसका उत्तर कुछ इस प्रकार दिया जा सकता है–कर्म करने में स्वतंत्र होते भी अथवा कर्म करने में स्वतंत्र होने के कारण ही जीवात्मा प्रकृति के मनोरम प्रतीत होने वाले, अभ्युदय द्योतक आकर्षणों में आसक्त हो करही, मार्ग के प्रलोभनों में फंस कर, लक्ष्य से भटक जाता है। जब तक वह मार्ग के इन सुख स्वरूप प्रतिभासित होने वाले किन्तु दुःख स्वरूप प्रलोभनोंकी आसक्ति से मुक्त नहीं हो पाएगा, वह निःश्रेयस अथवा अपवर्ग नहीं प्राप्त कर सकेगा। न्यायदर्शन के आरम्भ में ही कह दिया गया है कि दुःख,जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्या ज्ञान के उत्तरोत्तर नष्ट होते जाने पर, उसके अनन्तर के अव्यवहित पूर्व के नाश हो जाने पर, ही मोक्ष की प्राप्ति होती है– *तदनन्तरापायादपवर्गः* (१.१.२)

मार्ग के प्रलोभनों में अटक जाने की इस प्रवृत्ति से छुटकारा दिलाने के लिए संयोजित योजना को *'त्रिवर्ग'* कहा गया है और इसमें ही लक्ष्य को भी जोड़ देने से बने सूत्र *'धर्मार्थकाममोक्षाणाम्'* (चरक सं. १.१५) को ही चतुर्वर्ग भी कहा जाता है (देखें, हेमाद्रिरचित ग्रन्थ का शीर्षक–'चातुवर्ग्यचिन्तामणि')। ऊपर जिस जीवन यात्रा के ज्ञान और कर्म के सामञ्जस्य के बिना सम्भव न हो सकने की बात कही गई है उसके लिए सर्वप्रथम **काम**–सभी प्रकार की प्रबल इच्छाएं जिनमें दुर्निवार आदिम यौन प्रवृत्ति प्रमुख है– का स्थान निर्विवाद है। वेद में सर्वदा कुछ करने के लिए *'अकामयत्', 'अपश्यत्' 'आहरत्'* और सबसे अन्त में *'अयजत्'* अर्थात् कर्म के फल का भोग करने का ही क्रम बताकर, काम के प्राथमिक महत्व को रेखांकित किया गया है (तै.ब्रा. २.७.१.२;१.१ इत्यादि)। इसीलिए कहा गया है कि 'सबसे पहले मन में काम उत्पन्न हुआ था और वही सृष्टि का बीज हुआ था'–*कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं, यदासीत्* (ऋ. १०.१२६.४)। अथर्ववेद में काम को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि काम ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ है.....इसीलिए वह ही सबसे श्रेष्ठ और ज्येष्ठ और महान है'....*काम जज्ञे प्रथमं.... ततः त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महान्* (६.२.१६)। 'काम ही दाता है और वही लेने वाला भी है'– *कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता* (वही ३.२६.७), मैं तेरे प्रति नमस्कार करता हूँ–*तस्मै ते काम नम इत्करोमि* (वही ६.२.१६–२४)। अन्यत्र, कामनाओं के बाणों – काम बाण अथवा यौनेच्छा–को दुर्निवार रूप से भंयकर–इषुः *कामस्य या भीमा* (वही ३.३५.१) कहा गया है। ब्राह्मणों में काम(नाओं) को समुद्र जैसी विस्तृत बताते हुए, कहा गया है कि न तो इनका ही अन्त है और न समुद्र का ही –*समुद्र इव हि कामः। नैवा हि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य* (तै.ब्रा. २.२.५.६)। इसी तथ्य का उपन्यास करते हुए मनुस्मृति में कहा गया है कि विषयों के भोग से इच्छाएं कभी शान्त नहीं होती है; वरन जैसे

घी के पड़ने से अग्नि और भी अधिक प्रदीप्त हो उठता है, उसी प्रकार विषयभोग से काम अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है– *न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते* (२.९४)। लोक में भी प्रवाद प्रचलित है कि अंग प्रत्यंग के शिथिल हो जाने पर भी तृष्णा के यौवन का ज्वार कम नहीं हो पाता है– *'अंगानि शिथिलायन्ते तृष्णै का तरुणायतेः'* तथा *'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा'* ।

इसके निरंकुश हो उठने पर सृष्टि अव्यवस्थित हो उठेगी और संकरत्व बढ़ने लगेगा और ये दोने ही बातें सर्वथा अनपेक्षित और हेय हैं। अतः सभी देशों और कालों में सिसृच्छा की इस मूल प्रवृत्ति के नियंत्रण की आवश्यकता स्वीकार की गई है। काम के इस प्राथमिक महत्त्व और दुर्निवार आकर्षण को स्वीकार करते हुए, आर्ष परम्परा ने इसका नियंत्रण करने की दिशा में पहल करते हुए ही, *'श्रद्धा'* को इसकी माता प्रसिद्ध करके– *श्रद्धां कामस्य मातरं* (तै.ब्रा. २.८.८.८), इसके उदात्तीकरण का स्तुत्य प्रयास किया था। इस प्रयास में 'दमन' के स्थान पर 'शमन' का मार्गअपनाया गया था क्योंकि *'कामात्मता न प्रशस्ता न चैवैहास्त्यकामता* (मनु २.२)। जिस किसी भी परम्परा में, चाहे वह बौद्ध संघ हो या फिर ईसाई पंथ, दमन का मार्ग अपनाया गया था, वहीं अगणित प्रवादों का जन्म हुआ है। जहां ईसाई पंथ में काम दमन के असफल प्रयासों की कथा बोकासियो के कथाशतक *'डेकामेरान'* में रूपायित हुई है और आधुनकि घटनाएं लगभग नित्य ही समाचार पत्रों में उद्घाटित होती रही हैं, वहीं बौद्ध संघ में स्त्री को प्रव्रजित करके जिस कामाचार का प्रचार हुआ था, वही तो कालान्तर में वाममार्गी साधनाओं के यौनाचार के रूप में पल्लवित पुष्पित हुआ था। इसलिए, दमन का मार्ग छोड़ते हुए, आर्ष परम्परा में काम को नियंत्रित करने के लिए ही विवाह संस्था को हठ पूर्वक– *मर्यादा स्थापिता बलात्* (म.भा;१.११३.४–२०–२६), प्रतिष्ठित करके अनेक विधि निषेधों की मर्यादा के अन्तर्गत ही गृहस्थाश्रम को बरीयता दी गई थी। (मनु ६.८६–९०)।

त्रिवर्ग की सूची में, आदिम प्रवृत्ति होने पर भी, *'काम'* को *'अर्थ'* के पीछे, सबसे अन्त में रखा जाना साभिप्राय ही है। एसा करके, इसकी प्राथमिकता को गौण बता कर, इसके महत्त्व को कम करने का सुनियोजित प्रयास ही नहीं था,वरन कुछ सीमा के बाद इसकी सिद्धि का अर्थ पर निर्भर होना भी रेखांकित किया गया है। अर्थ ही लौकिक अभ्युदय का साधन भी है। अतः ठीक ही कहा गया है कि *'अर्थमूलाः हि सर्वारम्भाः* (तुलना करें– *कोशपूर्वाः सर्वारम्भाः। तस्मात्पूर्वं कोशमवेक्षत– कौटिल्य, अ.शा;२.८.१–२*)। आचार्य कौटिल्य ने तो धर्म और काम, दोनों का ही अर्थ के आश्रय में ही फलना–फूलना बताया है – *अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति* (१.७.७)। मगर इसके प्राप्त करने, प्राप्त हुए की रक्षा करने और उसके उपभोग में दुःख ही दुःख होना भी सर्वज्ञात था अतः इतने कष्टोंपर निर्भर रहने वाले अर्थ को धिक्कार भेजने वाले भी कम नहीं थे – *अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानं च रक्षणे। आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्ट सं श्रयान्।* कवि की इस धिक्कार के बाद भी इसका अर्जन और रक्षण रोका नहीं जा सकता था, अतः इसके अर्जन, रक्षण और उपभोंग में अपनाए जाने वाले अशुभ उपायों के

प्रयोग को नियंत्रित करने का प्रयास किया गया था। *'अर्थशुचिता'* पर ध्यान देने का ही फल है कि परम्परागत शैली के वणिक संस्थानों में आज भी गद्दी के पास ही *'धर्मपूर्वक अर्थाजन'* के प्रतीक स्वरूप स्वस्तिक चिन्ह के दोनों ओर *'शुभ'* और *'लाभ'* लिखने का प्रचलन है। इस दिशा में उठाया गया पहला पद तो यही था कि लोकमानस में इसे धर्म से अवर स्थान पर प्रतिष्ठित कराया जाए और इसलिए *'त्रिवर्ग'* की सूची में इसे धर्म के बाद ही रखकर, जीवन में धर्म के महत्व को रेखांकित करने का प्रयास किया गया था। कोई एक को, कोई दूसरे को और तीसरे को श्रेष्ठ कह कर, उन उनका अनुगमन करते हैं... (मनु २.२२४) परन्तु मनीषी ऋषियों का कहना है कि धर्म ही श्रेष्ठ गुण है, अर्थ मध्यम और काम अवर गुण है— *धर्मो राजन गुणः श्रेष्ठो मध्यमोह्यर्थ उच्येत। कामो यवीयानमिति च प्रवदन्ति मनीषिणः* (म.भा;१२.१६७.८)। भारतीय समाज के अवसान के प्रारम्भिक युग में, सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों के क्षरण के क्षुब्ध होकर ही तो, महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने दोनों बाहु उठा कर घोषणा की थी कि धर्म से ही सभी अर्थ और काम की सिद्धि होती है, और उसकी अनसुनी कर दी गई थी—*ऊर्ध्व बाहु र्विरौम्येष न कश्चित् श्रृणोति मे। धर्मादर्थश्च कामश्च, स किमर्थंन सेव्यते* (म. भा; १८.७.८६)। आचार्य कौटिल्य ने भी लिखा है कि धर्मानुसार अर्जित अर्थ और तदनन्तर काम भोग करने वाला ही कभी सुख से वंचित नहीं होता है — *धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत्, न निः सुखं स्यात्* (अ.शा.१.७.३)। तीनों का सम्यक् और सन्तुलित भोग करते रहने से ही मनुष्य अमरत्व प्राप्त कर सकता है—*तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्* (मनु २.५)।

भौतिक जगत के 'कारण—कार्य'— cause and effect —के अपरिवर्तनीय और अपरिहार्य नियम का मानव व्यवहार के क्षेत्र में सफल विनियोग का परिणाम ही है, कर्मफल और पुनर्जन्म का सिद्धान्त। इसी से सम्बन्धित और व्यवहार शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है 'ऋण' की अवधारणा। शबर स्वामिन् ने मीमांसा भाष्य में इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'ऋण की संस्तुति अवश्यकर्तव्यों की होती है। इससे इनका कर्तव्य ऐच्छिक अथवा वैकल्पिक न होकर, नित्य ही होता है' — *ऋण संस्तवोऽवश्य कर्तव्यानां भवति। तस्मान्नित्यानिति* (६.२.३१. मीमांसक १९८६: १७२५)। वेद में कहा गया है कि 'उत्पन्न होता हुआ ब्राह्मण तीन ऋणों से युक्त होता है। ब्रह्मचर्या से ऋषियों (के ऋण) से, यज्ञ से देवों (के ऋण) से और सन्तान (उत्पत्ति) द्वारा पितरों (के ऋण) से मुक्त हो जाता है'—*जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभि र्ऋण वा जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो, यज्ञेन देवेभ्यः पितृभ्यः एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी* (तै.सं.,६.३.१०.५)। यहां आए ब्राह्मण पद के लिए शबरस्वामिन् ने लिखा है कि 'ब्राह्मण ग्रहण तो प्रदर्शनार्थ ही है— उत्पन्न हुआ ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य। तथा जायमान का अर्थ है उत्पन्न हुआ' (६.३.३१; वही पृष्ठ १७२७)। आचार्य का प्रथम कथन तो ठीक है, किन्तु हमारे विचार में दूसरा कथन उनके काल की परिस्थिति का ही अधिक द्योतक है; न कि वैदिक मंन्तव्यों का। जैसा कि कहा गया है, सभी जायमान शूद्र ही तो

होते हैं और आचार्य से वेद और संस्कार प्राप्त करने तक शूद्र ही रहते हैं — *जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्विज उच्यते* (श्रीधराचार्य) तथा *शूद्रेण हि समस्तावद्यावद् वेदे न जायते* (मनु २.१७२; देखें ,म.भा.१२.१८०.) और फिर, अपने शिष्यों का वर्ण तो गुरु ही निर्धारित करता ही था— *आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः उत्पादयति सावित्र्या* (मनु २.१४८) । अतः हमारा विचार है कि 'जायमान' शूद्र और उसे से निकले तीन द्विज—इन चार वर्णो— *नास्ति तु पञ्चमः* (मनु १०.४) में प्रथम होने के कारण ही, ब्राह्मण प्रतीक से इन चारों का ही ग्रहण किया जाना चाहिए । भाष्यकार द्वारा इसके अर्थ को द्विज के लिए ही सीमित किया जाना इनमें भारतयुद्धोत्तर काल के सामाजिक यथार्थ का ही प्रतिफलन माना जा सकता है । आगे उन्होंने स्व्यं ही 'जायमान' से जातमात्र का ग्रहण किया जाना स्वीकार किया है । वस्तुतः ऋणी तो ये सभी होंगे, भले ही उनमें ऋणशोधन का सामर्थ्य न हो ।

शतपथ ब्राह्मण में इस अवधारणा को और भी अधिक व्यापक ही नहीं बनाया है, अपितु सामाजिक दायित्व बोध का भी परिचय दिया है । कहा गया है कि 'जो उत्पन्न होता है वह ऋणी ही होता है; जायमान देवों ऋषियों और पितरों के साथ ही मनुष्य मात्र का भी ऋणी होता है' — *ऋणंह वै जायते योऽस्ति । स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः* (१.७.२.१)

मनु ने इसी अवधारणा की स्वीकृति को ही अपनी स्मृति में आश्रम व्यवस्था के सुदृढ़ आधार के रूप में प्रस्तुत किया है । इनके अनुसार 'मनुष्य को इन तीनों ऋणों — अवश्य कर्तव्यों — को पूर्णता प्रदान कर चुकने के बाद ही मोक्ष की इच्छा करनी चाहिए । जो इन ऋणों का शोधन किए बिना ही मोक्ष पाने के लिए प्रयत्न शील हो उठता है, वह अधोगति को प्राप्त होता है । अतः विधिवत् अध्ययन समाप्त करके, अध्ययन काल में प्राप्त ज्ञान को यथाशक्ति कर्मो में रूपान्तरित करते हुए, सृष्टि के उच्छिन्न न होने देने के लिए, धर्म पूर्वक सन्तान उत्पन्न करने के बाद ही मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिए'— *ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्*..... (मनु ६.३५—३६; देखें,तै.आ. २.१०;वसिष्ठ ध.सू.११.४८) ।

अब तक जो कुछ भी कहा जा चुका है, उससे इतना तो स्पष्ट हो ही चुका होगा कि भारतीय आर्ष परम्परा में सृष्टि का उद्देश्य प्रत्येक जीवात्मा व्यक्ति—को धर्म,अर्थ और काम के त्रिवर्ग का सम्यक् और संतुलित भोग भोगते हुए, अपवर्ग अर्थात मोक्ष की ओर उन्मुख होने के लिए प्रेरित करना ही था (देखें, योद.२—१८) । इसी के लिए समुचित वातावरण उत्पन्न करने के लिए जिस आदर्श समाज व्यवस्था की परिकल्पना की गई थी, उसे ही 'वर्णाश्रम धर्म' कहा जाता है । इसमें प्रथम पद—'वर्ण'— से व्यक्ति की समिष्ट से सम्बन्ध का, समाज में उसकी स्थिति का निर्धारण किया जाता था, जब कि **'आश्रम'** पद से उसके व्यक्तिगत जीवन का नियमन होकर, उसे आत्यन्तिक लक्ष्य मोक्ष—के लिए श्रम पूर्वक प्रस्तुत

कराया जाता था।

ये आश्रम *'ब्रह्मचारि गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा'* (मनु ६.८७) आदि चार कहे गए हैं। हमें बताया जाता रहा है कि इन चार आश्रमों की व्यवस्था बहुत बाद के उपनिषदों के काल में ही सुप्रतिष्ठित हो पाई थी।'यह शब्द किसी भी बुद्ध पूर्व के उपनिषद में नहीं आता है' (डा० सूर्यकान्त १६६३:४२)। ये दोनों ही स्थापनाएं ईसाई पंथ और विदेशी साम्राज्यवादी अध्येताओं द्वारा प्रारम्भ किए गए कुत्सित प्रचार से ही प्रभावित हैं। सत्य तो यही हे कि प्रायः सभी प्रमुख उपनिषद बुद्ध से बहुत पूर्व के हैं और फिर आश्रम व्यवस्था का वेद में बीज रूप में उल्लेख होना भी निश्चित ही है। इसे अस्वीकार करने से बात बनती नहीं है, वरन् पूर्वाग्रह ही प्रकट होता है।

ब्रह्मचर्याश्रम के अस्तित्व के उजागर करने के लिए तो अथर्ववेद का पूरा का पूरा एक सूक्त (११.५) और इसकी प्रशंसा और महत्व की घोषणा करने वाले २६ मंत्र ही यथेष्ट हैं। अन्यत्र भी, उसके मेखला धारण करने — *अनयैनं मेखलया सिनामि* (वही ६.१३३.३) तथा उसके सर्वश्रेष्ठ मेघा से परिपूर्ण होने — *मेघामहं प्रथमां—प्रपीतां* (वही ६.१०८.२) की चर्चा आई है। ऋग्वेद में भी ब्रह्मचर्या से अर्थात् उसके उपरान्त ही पत्नी प्राप्त करने की बात— *ब्रह्मचारी चरति .....तेन जाया मन्वविन्दन्* (१०.१०६.५) कही गई हैं। दूसरे, **गृहस्थाश्रम** का इस नाम से उल्लेख न होने पर भी, इसके अस्तित्व पर शंका की उंगली नहीं उठाई जा सकती हैं। वैसे, वेद में 'गृहपति' (ऋ ६.५३.२;अथर्व १४.१.५१;१६.३१.३) तथा 'गृहपत्नी' (ऋ १०.८५.२६) तथा 'गार्हपत्य अग्नि' (ऋ १.१५.१२; ६.१५.१६; १०.८३.२६. २७ इत्यादि) के नामों से भी इसी आश्रम का ग्रहण होता है।

सारा झगड़ा, सारी ऊहापोह अगले दो आश्रमों को लेकर ही है। वेदों में इनके नामोल्लेख के अभाव को अत्यधिक महत्व देते हुए और विकासवाद की अपूर्ण अवधारणा के आधार पर ही उस समय इन के विकसित होने की सम्भावना ही अस्वीकार कर दी गई है। डिण्डिम पीटी जाती है कि आर्य जीवन पद्धति की इस विशिष्ट व्यवस्था के सूचक 'आश्रम' पद का श्वेताश्वतर उपनिषद (६.२१; देखो, मैं.उ;४.३) से पहले कहीं प्रयोग नहीं हुआ है। परन्तु ऐसे निराधार और पूर्वाग्रस्त पूर्ण आक्षेप करने वाले यह भूल जाते हैं कि वेद, ब्राह्मण अथवा उपनिषद न तो समाज शास्त्र की पाठ्य पुस्तकें हैं जिनमें प्रत्येक विषय का विशद वर्णन होना ही चाहिए और न ही आधुनिक विद्वानों की सुविधा के लिए संकलित कोश ग्रन्थ , जिनमें प्रत्येक शब्द को मिलना ही चाहिए। फिर भी, दुर्जन तोष (न्याय) के लिए यह बताना ही होगा कि ऋग्वेद में 'मुनि' (८.१७.१४;१०.१३६.३—५; अथर्व ७.७४.१) तथा 'यति' * (ऋ ८.३.६;६.१८;१०.७२.७) का उल्लेख हुआ है।

---

*याजुष संहिताओं में किन्हीं विशिष्ट प्रकार के उन यतियों का उल्लेख मिलता है जिन्हें इन्द्र ने सालावृकों को समर्पित कर दिया था— तै.सं. २.४.६.२;६.२.६. ७;का. सं. ८.५;११.१०;२५.६;३६.७;तै.ब्रा;८.१.४;१३.४.१६; ऐ. ब्रा. ७.२८.१। सामान्य यतियों से इनका सम्बन्ध अन्वेषणीय है।

बृहदारण्यक उपनिषद (४.४.२२) में कहा गया है कि 'ब्राह्मण वेदों का स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तप रूपी कर्म के द्वारा इस (ब्रह्म) को जानने की इच्छा करते हैं। इसी को जानकर मुनि होता है। (और) इसी आत्म लोक की इच्छा करते हुए त्यागी पुरुष सब कुछ त्याग कर प्रव्रजित हो जाता है–– पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊपर उठकर भिक्षा चर्या करता है'। इस कथन के आधार पर मुनि—मौन रह कर स्वाध्याय और आत्मनिरीक्षण मे तत्पर रहने वाले—से वानप्रस्थ तथा प्रव्रजित सन्यासी से यति—यत्न और श्रम समानार्थक शब्द हैं—का ग्रहण उपपन्न हो जाता है। इसके पूर्व के एक प्रसंग में 'इस लोक में इस अक्षर (ब्रह्म) को न जान कर जो हवन करता है, यज्ञ करता है और अनेक सहस्त्र वर्ष पर्यन्त तप करता है, उसका वह सब (गृहस्थ) कर्म अन्तवान होता है,' कह कर, बाद के अन्य आश्रमों का अन्तर स्पष्ट करते हुए भी, किसी का नामोल्लेख नहीं हुआ है (३.८.१०)। इसी प्रकार छान्दोग्य उप. (८.३) में भी ब्रह्म चारी और गृहपति का ही उल्लेख करके, उन्हें अध्ययन के पुरस्कार स्वरूप पुत्रों की प्राप्ति तथा योगाभ्यास, अहिंसा और यज्ञों से मुक्ति की प्राप्ति का उल्लेख हुआ है। उसी उपनिषद में इन्हें आश्रम न कह कर, '*त्र्योधर्म स्कन्धा*' कहते हुए बताया गया है कि ब्रह्मचारी या तो गृहस्थ बन जाता है या वानप्रस्थी अथवा गुरुगृह में ही जीवन पर्यन्त रह जाता है (तुल. मनु २.२४३) और 'ये सभी पुण्यवान व्यक्ति सम्यक प्रकार से ब्रह्म में स्थित होकर अमृतत्व को प्राप्त होता है – *सर्वएते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्म संस्थाऽमृतत्वमेति* (२.२३.१)। अन्यत्र, अरण्य में श्रद्धा और तप पूर्वक उपासना करते हुए ब्रह्म को प्राप्त करने वालों (वानप्रस्थियों) (५.१०.१) तथा ग्राम में रहकर सकाम इष्टापूर्त यज्ञादि करने वालों (गृहस्थों) का उल्लेख (वहीर) हुआ है। मुण्डक उप. में इष्टापूर्त कर्मो को वरिष्ठ मानने वाले गृहस्थों (१.२.१०) की अपेक्षा से तप में श्रद्धा रख कर अरण्य में भिक्षा चर्या करने वालों द्वारा रजोगुण से रहित, अमृत, नित्य पुरुष को प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है (१.२.११)। अन्यत्र, जाबाल उप. (४) में परिव्राजक और सन्यासी का स्पष्ट उल्लेख करके, दोनों के पार्थक्य और विशेषता का कथन भी मिलता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ये सभी ग्रन्थ न तो समाज शास्त्र की पाठ्य पुस्तके हैं और न ही कोश ग्रन्थ; ये तो श्रद्धावान जिज्ञासु को अनेक उदाहरणों के द्वारा अनुभूत सत्य को समझाने वाले प्रोक्त ग्रन्थ हैं। इनमें किसी शब्द के अभाव को लेकर अपने पूर्वाग्रह पूर्ण और विकासवाद जैसी अर्धसत्य से प्रेरित स्थापनाओं की पुष्टि नहीं की जानी चाहिए। अतः. ब्रह्मचारि, गृहपति, मुनि और यति के उल्लेख से बाद के चार शास्त्रीय आश्रमों का ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

एक प्रकार से, ये तीनों—चारों ही आश्रम, नाम कुछ भी क्यों न दिया जाय, सार्वभौम हैं, सभी समाजों में किसी न किसी रूप में मिलते हैं। किशोरावस्था में अध्ययन, यौवन में वंश वृद्धि और उसके पोषण के लिए अर्थोपार्जन और वार्धक्य में स्वयं के समर्थ न रह जाने पर, पुत्र—पौत्रादि के आश्रय में जीवन यापन करना तो सामान्य रूप से सभी देशों की सभी जातियों में—चाहे वे असभ्य कही जाने वाली जनजातियां हों या सभ्य मन्यमान योरोपीय समुदाय, जहां उन्मुक्त यौनाचार

के फलस्वरूप हुए उदात्त पारिवारिक मूल्यों के क्षरण और परिवार के विघटन के बाद वानप्रस्थ आश्रम के स्थान पर निराश्रित वृद्ध निवास बनने प्रारम्भ हो गए हैं, पाया ाजाता है। हां, मनुष्य के जीवन के व्यष्टि और समष्टि के सन्ताप से स्वयं अनुतप्त रह कर—*यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं अनुतप्यमानम्* (अथर्व २.३५. २) 'बहुजनहिताय' के उच्च लक्ष्य की अवधारणा और उसकी प्राप्ति के लिए 'आजन्म सभी ओर से सभी प्रकार का श्रम करते हुए' भी सभी एषणाओं का परित्याग करके संन्यस्त होने की व्यवस्था तो भारतीय आर्ष परम्परा की अपनी निजी विशेषता है।

मनुष्य के रूप में उत्पन्न हुई जीवात्मा जहां एक ओर व्यक्ति होती है और उसे अपनी उन्नति करने का पूरा अधिकार ही नहीं, अवसर भी दिया जाता है, वहीं दूसरी ओर एक कुल में जन्म लेते ही, उसी के माध्यम से जुड़ते हुए, वही व्यक्ति एक बृहत् समाज का भी अंग होता है, उसकी आत्मिक, बौद्धिक और शारीरिक उन्नति, उसी बृहत् समाज से प्राप्त संरक्षण और सुविधाओं पर ही निर्भर रहती है और इस से वह उसका ऋणी हो उठता है। उसे अपनी कल्प पर्यन्त ही नहीं, वरन् उसके आगे भी सतत् चलने वाली महायांत्रा में, उन्नति और अवनति के अनेक उच्चावच्च सोपानों से चढ़ते उतरते हुए, इस जन्म में प्राप्त समाज में स्थान ढूंढना और बनाना पड़ता है। आज के आधुनिक युग में मनुष्य की समानता का बहुत घोष किया जा रहा है, पर सत्य तो वेदों में बहुत पहले ही कह दिया है और वह यही है कि मनुष्य *'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमाबभूवुः* (ऋ१०.७१.७; देखें, भविष्य महापुराण, ब्राह्म पर्व ४२.४६—*वर्णाकृति स्पर्श रसैः समानि तथैकतो जाति रतिप्रचिन्त्या*) अर्थात रंग रूप, आकार और इन्द्रिय जन्य अनुभवों में समान होने के कारण एक जाति (*'समान प्रसवात्मिका हि जातिः'*) होते हुए भी, प्रत्येक व्यक्ति अपने मनोवेगों में, बौद्धिक क्षमताओं में, भिन्न ही होता है। अतः उसकी योग्यता और क्षमता का आकलन करके उसे बृहत्समाज में उसका उचित स्थान दिलाने के लिए की गई व्यवस्था का नाम ही **'वर्णधर्म'** या व्यवस्था है।

'वर्ण' शब्द तो 'वृञ् वरणे' वरण करना, निर्धारित करना—धातु से बनता है और सदा से ऐसा ही स्वीकार भी किया जाता रहा है। मगर आधुनिक काल में ईसाई पंथ और उसी से अनुप्राणित पाश्चात्य साम्राज्यवादी और अब साम्यवादी—समाजवादी चिन्तकों ने, अफ्रीका, अमरीका और अन्यान्य देशों में अपने स्वानुभूत सत्य को आरोपित करते हुए ही, वरण करने के मात्र एक उपकरण—त्वचा के रंग—को ही इसका एक मात्र अर्थ स्वीकार करते हुए ही, रंग भेद और नस्ल (इस अवधारणा का भारतीय पर्याय हमें नहीं मिल सका है) भेद को ही वर्ण व्यवस्था का मूल आधार प्रसिद्ध करके अत्यधिक भ्रम फैलाया है। इस भ्रम का निराकरण करने के प्रयत्न में पिछले दिनों श्री पटवर्धन ने, वर्णमाला में इन पद की उपस्थिति की कोई सन्तोष जनक व्याख्या नं उपलब्ध होने के आधार पर ही, इसे अन्यान्य प्राकृतिक नियमों की तरह ही, एक मौलिक उद्भावना मानने

का सुझाव दिया है। उनका कहना है कि मान्य लक्ष्य की सिद्धि के लिए सम्मिलित प्रयास करने वाले ही सवर्ण और उसके विरोधी अथवा उसकी उपेक्षा करते हुए तटस्थ रहने वाले अवर्ण कहे गए हैं (१९६४,.१९४—५)। यद्यपि, इस सुझाव को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने मनु के वचन कि 'ब्राह्म, क्षत्रिय और वैश्य — ये तीनों ही वर्ण द्विजाति होते है। चतुर्थ शूद्र वर्ण एक जाति होता है और पांचवा कोई नहीं होता है' (१०.४) का एक प्रकार से समर्थन किया है, तद्यपि अत्यन्त रोचक और साम्प्रतिक दृष्टि, जब कि तीन उच्च वर्णो को ही सवर्ण ओर शूद्र को अवर्ण कहा जा रहा है, से उपयोगी होने पर भी, इसे स्वीकार करने में कुछ कठिनाईयां हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि 'वेदों का पारंगत आचार्य जिस जन्म अर्थात् वर्ण का सावित्री अर्थत् बुद्धि के उद्दीपन और आचार सिखा कर उत्पन्न अर्थात् विहित करता है, वही सत्य, वही शाश्वत ओर नित्य होता है'—*आचार्यस्त्वस्य यां जाति विधिवद्वेदपारग:, उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा* (२.१४८)। यहां *'आचारं ग्राह्यतीति आचार्य:'*, द्वारा आचार और विचार ग्रहण करवा कर जन्म दिए जाने के कथन से निश्चित ही "वरण" अर्थ ही अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है। सुन कर भी जो न सुनने के ही आग्रही हैं— *उत त्व: श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्* (ऋ १०.७१.४), उनके लिए तो कुछ भी कहना व्यर्थ है।

वर्ण की यह अवधारणा कोई मनु की अपनी निजी उद् भावना नहीं थी। वेदों में आए पुरुष सूक्त (ऋ १०.९०.१—१६.,अथर्व १९.६.१—१६,यजु ३१.१—२२) में प्रश्न किया गया है — *'सहस्रशीर्षा पुरुष: सहस्राक्ष: सहस्त्रपात्* (११) का *'मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते'* (११)। *ब्राह्मणो ऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य: कृत:, ऊरू तदस्य यद्वैश्य:, पदभ्यांशूद्रो अजायत* (१२)। इस प्रमाण के रहते हुए अपना कुत्सित मन्तव्य सफल होता न देख कर, ईसाई पंथ के ध्वजावाहक साम्राज्यवादी अध्येताओं ने ऋग्वेद के इस सूक्त को ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण दशम मण्डल को ही परवर्ती काल में प्रक्षिप्त हुआ ही घोषित कर दिया है— विचार और भावगम्भीर्य तथा दार्शनिक—वैज्ञानिक विवेचना की दृष्टि से इसमें संकलित सूक्तों का उनके द्वारा आर्योकी आनुमानित पशुचारी संस्कृति से तादात्म्य नहीं स्थापित किया जा सकता है। परन्तु उन्हीं के अनुसार ऋग्वेद के अपेक्षाकृत प्राचीन मण्डलों में भी इसी व्यवस्था का उल्लेख हुआ है। यथा, एक स्थान पर (ऋ.८.३५.१६—१८) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का उल्लेख हुआ है। अन्यत्र, चारों वर्णो का, उनके नियत कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए, कुछ इस प्रकार संकेत किया गया है— 'ऊषा किसी को महान इष्ट के लिए (ब्राह्मण), किसी को महद् यश के लिए (क्षत्रिय), किसी को अर्थ प्राप्ति के लिए (वैश्य) और किसी को श्रम करने के लिए (शूद्र) जगाती है'। 'वह नाना प्रकार की जीविकाओं के निमित्त ही समस्त विश्व को प्रकाशित करती है'— *विसदृशा जीवितानि प्रचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा* (ऋ १.११३.६)।

इस पुरुष सूक्त को परवर्ती प्रक्षेप मानने का कोई सबल कारण नहीं है और इसे मनुष्यों के गुण,स्वभाव और कर्म पर आधारित वर्ण विभाग को सार्थक समाजिक परिप्रेक्ष्य में देखने का रूपकात्मक प्रयास स्वीकार करना ही होगा। इसमें

मनुष्यों के बृहत्समाज की पुरुष के रूप में कल्पना करके ब्राह्मणों को उसकी ज्ञान युक्त वाणी के गोप्ता और प्रस्तोता, क्षत्रियों को उसका शक्तिशाली रक्षक, वैश्यों को उसका पूरक और पोषक (यहां बाहु' और 'पद' के प्रयोग से स्पष्ट ही उन दोनों के मध्य में स्थित उदर और जघन—दोनों का ही ग्रहण किया जाना अपेक्षित प्रतीत होता है) और शूद्रों की पाद के समान ही अनाम पीठिका (नींव) और भारवाहक सेवा का ग्रहण होता है। बृहदारण्यक उपनिषद में इसी तथ्य का कुछ भिन्न प्रकार से उपन्यास किया गया है। कहा गया है कि 'आरम्भ में यह ब्रह्म एक ही था। अकेले होने के कारण ही वह विभूति युक्त कर्म करने में सफल नहीं हो पा रहा था। उसने अतिशयता से प्रशस्त क्षत्र रूप की रचना की..... यह जो ब्रह्म है, वही क्षत्रिय की योनि है.... वह (ब्रह्म) (अभी भी) विभूति युक्त कर्म करने में सफल नहीं हुआ है। उसने वैश्य का सृजन किया..फिर भी वह विभूति युक्त कर्म नहीं कर सका था। उसने शूद्र वर्ण को पृथक् किया। शूद्र वर्ण ही पूषा है, यह पृथिवी ही पूषा है, क्योंकि यह जो कुछ भी है, वही उसकी प्रतिष्ठा है, वही उसका धारण और पोषण करती हैं'—*शौद्रंवर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च* (१.४.११—१३)। यहां उस प्रारम्भिक स्थिति, जब सब परम विद्वान और ब्रह्म के जिज्ञासु ही उत्पन्न किए गए थे (देखें, अरुणकुमार, १९६६), से कालक्रमानुसार बढ़ती सामाजिक आवश्यकताओं और घटती बौद्धिक क्षमताओं के अनुरूप ही विभिन्न कार्यकारी व्यावसायिक वर्गो के पृथक्करण का सत्य समझाने का प्रयत्न किया गया हैं। आज अनुभव सिद्ध है कि यदि सभी उच्च कोटि के वैज्ञानिक अथवा प्रथम श्रेणी के अधिकारी हो जाएंगे तो अन्य अनिवार्य किन्तु अवर प्रतीत होने वाले कार्यों के लिए आवश्यक जनशक्ति कहां से आएगी? यदि सभी नेता जो जायेंगे तो अनुयायी कौन होगा? *'गृहे गृहे राजानः सन्ति'* (म. भा.२.५) कह कर इसी भयावह और अनुत्पादक स्थिति का उल्लेख करके ही तो युधिष्ठिर को राजसूय करने के लिए प्रेरित किया गया था! यहां किसी भी कार्यकारी की, उसकी स्थिति की दृष्टि से अवमानना करने का कोई विचार नहीं दिखाई देता है; अपितु, सभी के कर्तव्यों पर बल देते हुए, अन्त में सभी वर्णों के सम्मिलित प्रयास से ही विभूति पूर्ण कर्म करने में सफलता पाने का उल्लेख हुआ है और अन्त में शूद्र को पृथिवी स्थानी कह करके, उसे ही सभी की प्रतिष्ठा की अनिवार्य पीठिका और पोषक बताकर, गौरवान्वित ही किया गया है।

अन्यत्र, छान्दोग्य उपनिषद में व्यक्तियों में निहित त्रिगुणों के आधार पर किए जाने वाले स्वभावानुकूल कर्मो से ही जन्मान्तर में विभिन्न वर्णो के गृहपतियों के घर में अथवा विविध पाशविक योनियों में उत्पन्न होने का कथन हुआ है। कहा गया—'उन (अनुशयी जीवों) में जो अच्छे आचरण वाले होते हैं वे शीघ्र ही उत्तम योनियों को प्राप्त होते हैं। वे ब्राह्मण योनि, क्षत्रिय योनि अथवा वैश्य योनि प्राप्त करते हैं तथा वे जो अशुभ आचरण वाले होते हैं, वे कुत्ते की योनि, शूकर की योनि अथवा चाण्डाल योनि को प्राप्त होते हैं' (५.१०.७)। यहां 'योनि' शब्द का प्रयोग कुछ समस्या उत्पन्न करता प्रतीत होता है। यहां स्मरण रखना होगा कि कुत्ते और शूकर की तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को 'योनि' नहीं कहा जा

सकता है। ये सभी 'वर्ण' हैं। अब यदि निघण्टु (३.४) में पढ़े गए *'योनिःगृहनाम'* के अनुसार ही, यहां ब्राह्मण आदि वर्णो के 'घरों' में जन्म लेना या पाना स्वीकार करके ही उपरोक्त सन्दर्भ का अर्थ ग्रहण किया जाए, तो समस्या सुलझ जाती है।

ऋग्वेद में एक मंत्र आया है जिसमें एक स्तोता कह रहा है कि 'मैं कवि हूं, मेरा पिता भिषक है और मेरी माता चक्की चलाती है। जिस प्रकार गोचर भूमि में गौएं अलग अलग घूमती हुई चरती रहती हैं, उसी प्रकार ही हम सब भी धन की इच्छा से भिन्न–भिन्न बुद्धि (पूर्वक कर्म) करते हैं'– *कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवोऽनु गा.इव*—— (९.११२.३)। इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि उस समय तक वर्णव्यवस्था रूढ़ नहीं हो पाई थी। मगर हमारे विचार में वर्ण व्यवस्था बुद्धि और ज्ञान पूर्वक प्राप्त गुण तथा योग्यता और तदनुरूप किए जाने वाले कर्म पर आधारित एक वैचारिक अवधारणा है। इसके रूढ़ होने, न होने का कोई प्रश्न ही उठता है। सच तो यही है कि इसके रूढ़ हो जाने से ही आज की अनेक विसंगतियों का जन्म हुआ है। इस मंत्र के आधार पर इतना ही कहा जाना चाहिए कि प्रारम्भ की मूल अवधारणा में आज की तरह की रूढ़ 'जाति प्रथा' के लिए कोई अवकाश नहीं था। न ही बाह्य दबावों से उत्पन्न होने वाली सामाजिक विषमताएं अथवा विभिन्न मतावलम्बियों द्वारा एकान्तिक नैतिक मूल्यों पर बल दिए जाने से ही अनेक व्यवस्थाओं का अवमूल्यन अथवा क्षरण ही हुआ था और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुविधा, रुचि और योग्यता के अनुरूप व्यवसाय चुनने के लिए स्वतंत्र था।

अनेक स्थानों पर (तै.सं., ५.७.६.८छा .उ.,८.१४ इत्यादि) द्विजाति के तीन ही वर्णो का उल्लेख हुआ है और इसी आधार पर शूद्र के चतुर्थ वर्ण का अनस्तित्व अथवा उसकी अवमानना भी मान ली जाती है। किन्तु एसा करके,एसी घोषणाएं करने वाले अपना बौद्धिक दिवालियापन अथवा पूर्वाग्रह ही प्रख्यापित करते हैं। सत्य तो यह है कि ये सभी ग्रन्थ विद्यास्थान है और इनमें विद्या और ज्ञान के बल पर उन्नति करने के इच्छुक व्यक्तियों की ही चर्चा अपेक्षित है और उचित भी है। परिभाषा के अनुसार शूद्र वही है जो स्वाभाविक आलस्य और कर्महीनता–तमस्–के कारण ही विद्या–वेद–विहीन रह गया है– *तावच्छुद्रसमों ह्येष यावद् वेदे न जायते* (म.भा.,१२.१८०.३५), और इसीलिए केवल अपने शारीरिक श्रम से ही समाज को सहयोग देकर, नींव के पत्थर की तरह ही अदृश्य रह कर, उसकी प्रतिष्ठा और पोषण का साधन बनता है।

यही एक अन्य तथ्य के सम्बन्ध मेंभी कह देना अप्रासंगिक न होगा। ईसाई पथं के अनुयायी पाश्चात्य साम्राज्यवादी अध्येताओं ने, अपने से शस्त्र बल में हीन होने कारण पराजित हुई अनेक जन जातियों को दास बना लेने के जघन्य पाप का औचित्य सिद्ध करने के लिए ही, इसका सामान्यीकरण करते हुए, वर्ण का एकांगी अर्थ 'त्वचा का रंग' और 'शूद्र' को पराजित समुदाय का व्यक्ति घोषित करने की पहल की थी और आर्यों को, अपनी तरह ही आव्रजक आक्रमणकारी सिद्ध करके, अपनी साम्राज्य लिप्सा को उचित ठहराने का प्रयत्न किया था

(भगवद्दत्त १६५४; वर्मा १६७१;तलगढ़ी १६६३ ; अरुणशौरि १६६४ इत्यादि)। वस्तुतः, जैसा कि पूर्व उद्धृत बृहदारण्यक उपनिषद के वचन में कहा गया है, आदिम ब्रह्मवेत्ताओं के *'ग्लायन्तोऽवरे'* (यास्क १.२०) वर्ग से छनते हुए ही अन्ततः शूद्र वर्ग पृथक् हुआ होगा अथवा जन्मना शूद्र—अथवा शैव दर्शन के पशु—की स्थिति से विद्या लाभ करके और आचार वान होकर, समष्टि की चिन्ता और उसके उन्नयन का अतिरिक्त भार स्वीकृत करता हुआ व्यक्ति ही, क्रमशः उच्च ओर उच्चतर होकर, ब्राह्मण वर्ण के, उद्भव का कारण बना होगा। यहां अप्रमाणित हो चुकी आक्रामक आव्रजको की प्रवंचनापूर्ण और निराधार कल्पना और उनके द्वारा विजित समुदायों के शूद्र बना दिए जाने की स्थापना निरर्थक ही नहीं, अनर्थक भी है।

रही रंग भेद की बात, वह भी नितान्त निर्मूल ही नहीं, सर्वथा भ्रामक भी है। वेद में इतिहास मानने वाले विद्वान भी ऋषियों के विविध वर्णी होने की बात स्वीकार करते है। ऋषि श्याव और कृष्णद्वैपायन का स्मरण मात्र ही इस स्थापना का खोखलापन सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। इसी से एक और बात भी स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि व्यक्ति अपने गुण,स्वभाव और कर्म से ऋषि ही नहीं, 'वेद व्यास' भी हो सकता है और उसके इस उत्थान में, उसका आज की दृष्टि से हीन जन्म,कोई बाधा नहींउत्पन्न करता था।

---

३. संस्कार और आश्रम

भौतिक वाद से प्रभावित आधुनिक समाजशास्त्री मानते हैं कि जन्मपूर्व की परिस्थितियों का अति-स्वल्प ही प्रभाव पड़ कर, मनुष्य के निर्माण में जन्म के अनन्तर उसको मिलने वाले पारिवारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश के घात – प्रतिघातों का ही प्रमुख योगदान होता है। बाद में मिलने वाली समस्त शिक्षा–दीक्षा भी उसके मूल स्वभाव और बद्धमूल भाव संसार में विशेष परिवर्तन करने में असफल ही सिद्ध होती है। इस स्थापना के समर्थन में ईसाई पंथ के प्रारम्भिक और प्रमुख अनुयायी सेन्टपाल के चरित्र का विश्लेषण करके कहा गया है कि वह मतान्तरण के बाद भी पहले जैसा ही अधिनायकवादी, दम्भीं और षड्यंत्रकारी – कुचाली बना रहता था, केवल दिशा ही बदल गई थी (ई. डब्ल्यू वर्जेस और एन. जे. लाक, *द फेमिली* १९५३: २४१–६५, प्रभु १९७६:२०५–०७ पर उद्धृत)। भारतीय मनीषा की दृष्टि इससे बहुत पीछे तक गई है और, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पूर्व जन्म में किए गए कर्मो के संचित फल–दैव, भाग्य या प्रारब्ध– को ही इस जन्म का कारण मानती है। यह दैव, भाग्य या प्रारब्ध किसी दूसरी और बाहरी शक्ति द्वारा हम पर आरोपित न होकर, हमारे कर्मो का ही प्रतिकार है। और हम कर्म करने की स्वतंत्रता के कारण ही बुरे कर्मो को करते हुए दु:ख पा सकते हैं। इसीलिए भारतीय आर्ष परम्परा में जीवात्मा को शुभकर्मो की ओर प्रेरित करने के उद्देश्य से ही, उसके गर्भ में आने के पूर्व से ही संस्कारित करने के प्रयत्नों का विधान किया गया है और ये प्रयत्न उसके '*भस्मान्तं शरीरं*'(यजु ४०.१५) तक चलते रहते हैं– *निषेकादि श्मशान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः* (मनु २.१५)।

ऐसे संस्कारों की संख्या विधायकों की रुचि और लोकाचार के अनुसार घटती बढ़ती रही है, फिर भी प्रमुख संस्कार सोलह ही माने गए हैं। इनमें भी प्रधान संस्कार कुछ इस प्रकार हैः *गर्भाधान, पुंसवन* और *सीमन्तोन्नयन*—ये तीन जातक के गर्भस्थ रहते हुए ही किये जाते थे। जन्म होने पर, *जातकर्म, नामधेय, निष्क्रमण* और *अन्नप्राशन* जन्म से लेकर प्रारम्भ के छह मास के अन्दर ही सम्पन्न हो जाते थे। तदनन्तर *चूड़ाकर्म-कर्णवेध* से सम्भवतः उसकी माता-पिता द्वारा अक्षरारम्भ करा कर प्रारम्भिक शिक्षा का श्रीगणेश होता था। फिर गुरु-गृह ले जाकर *उपनयन–मौञ्जिनिबन्धन* करा देने के अनन्तर बालक का ब्रह्मचर्या आश्रम में प्रवेश होता था। विद्या समाप्त करके गृह लौटते समय *समावर्तन* संस्कार किया जाता था। इसके बाद *विवाह संस्कार* के बाद उसका गृहस्थाश्रम में प्रवेश हो जाता था। गृहस्थाश्रम की अवधि पूरी हो जाने पर क्रमशः *वानप्रस्थाश्रम प्रवेश* संस्कार और *संन्यासाश्रम प्रवेश* संस्कार होता था। संन्यासाश्रम में रहते हुए ही, मृत्यु के उपरान्त शरीर का दाह होता था और उसे ही *अन्त्येष्टि* संस्कार कहा गया है। ये ही 'निषेकादि श्मशान्तो' संस्कार हैं।

इनमें गर्भाधान संस्कार प्रथम है। इच्छुक दम्पतियों को शुभगुणों से युक्त सन्तान की कामना से— *प्रजायै गृहमेधिनाम्* (कालिदास, रघुवंश १.७), वेदमंत्र पूर्वक अर्थात् अपने को शुद्ध दैवी भाव सम्पन्न करते हुए और पुण्य कर्तव्य समझकर, न कि कामोपभोग के लिए, ही गर्भाधान करने का विधान किया गया है— *वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादि* (मनु २.२६)। यह सर्व स्वीकृत सिद्धान्त है कि माता के मनोभावों का गर्भस्थ शिशु के शारीरिक और भाव संसार—दोनों के विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है— *व्याकुलित मनसोऽन्धाः खञ्जाः कुब्जाः वामना भवन्ति* (गर्भोपनिषद ३)। अतः एक बार गर्भ स्थापित हो जाने पर अनेक अन्य संस्कार किए जाने का भी विधान किया गया है। इन संस्कारों में किए जाने वाले कृत्यों में कुछ तो औषधि के प्रयोग से गर्भ को पुष्ट करने के लिए होते हैं, परन्तु अधिकांश का प्रमुख प्रयोजन सात्विक उत्सवों और मांगलिक समारोहों के आयोजनों के द्वारा गृह-परिधि में ही सीमित गर्भभारालस माता के मन की उदासी को दूर करके चित्त को प्रसन्न रखना ही है।

इस प्रकार का दूसरा संस्कार है **'पुंसवन'**। यह गर्भस्थिति के दूसरे या तीसरे मास में किया जाता है। माना जाता है कि यह गर्भस्थ शिशु के लिंग को प्रभावित करने के उद्देश्य से ही किया जाता है। यदि वही सत्य हो तो भी कुछ बुरा नहीं है— पुत्री तो दूसरे घर की लक्ष्मी होती है और वंश वृद्धि के लिए ही नहीं, जीवन संग्राम में पिता के कन्धे से कन्धा मिला कर, सहायक के रूप में खड़े होने के लिए, विशेषतया प्राक् औद्योगिक समाजों में, पुत्र का महत्व स्वतः सिद्ध होकर, किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता है। फिर भी, हमारी समझ में यहां बालक के लिंग को प्रभावित करने के स्थान पर, गर्भ को पुष्ट करने की ही कामना माननी चाहिए। पुष्ट होने के लिए 'वीर्य सम्पन्न होना' ही कहा जाता है और यह प्रयोग स्त्री वाची न होकर, पुरुष परक ही है। और भी, अनेक में से प्रधान का कथन होने पर प्रधान और गौण, दोनों का ही ग्रहण किया जाना एक सामान्य प्रक्रिया है। जो कुछ भी हो, इसके बाद चौथे, और आज कल 'सांथर' 'दोहद' या 'साध' के नाम से सातवें, मास में किया जाने वाला तीसरा संस्कार है ***'सीमन्तोन्नयन'***। इसमें जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, गर्भवती को प्रसन्न रखने के लिए ही उसके केश प्रसाधन और श्रृंगारादि कृत्य किए जाते है और तभी गर्भवती के मन में उठने वाली विविध इच्छाओं की पूर्ति सुनिश्चित करने का भी पूरा ध्यान रखा जाता है।

इसके अन्नतर, *'दशमे मासि सूतवे'* (ऋ १०.१८४.३) की वैज्ञानिक मान्यता के अनुसार गर्भस्थिति के नौ मास के पश्चात (देखें, मीमांसक, १९६१:१९२—२०२) जन्म होने पर जातक का **जातकर्म'** संस्कार किया जाता है। इसमें नाभि—सूत्र काटना आदि आयुर्वेद शास्त्र प्रमाणित कृत्यों के अतिरिक्त वेद मंत्रों के साथ उसे सुवर्ण, मधु और घृत का प्राशन भी कराया जाता है (मनु २.२९)। जन्म के दसवें या बारहवें दिन **'नामधेय'** संस्कार किए जाने का विधान किया गया है (मनु २. ३०)। अंग्रेज कवि और नाटककार का कथन कि 'नाम में क्या रखा है, गुलाब

को किसी भी नाम से क्यों न पुकारो, उसकी गन्ध वही रहेगी' — what's in a name, call a rose by whatever a name, it will smell the same — स्थावर,मूक और निर्बुद्धि प्राणियों के लिए तो सत्य हो सकता है, किन्तु विचारवान और मनस्वी मनुष्यों के लिए नहीं। मनुष्य के आत्म विकास पर उसके पुकारने वाले नाम का प्रभाव अस्वीकार किए जाने का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं है। बौद्ध जातकों में भी और वहीं से छन कर लोकोक्ति के रूप में प्रचलित प्रवाद को सत्य मानने वाले भी अपने पुत्र को रावण, कंस या फिर जयचन्द्र और अंगुलिमाल नहीं ही पुकारना चाहेंगे और न ही इस नाम के व्यक्ति पुकारे जाने पर लोगों की हंसी रोक पाएंगे और न ही अपनी ग्लानि छिपा पाएंगे और अन्ततः हीन भावना से ग्रस्त ही रहेंगे। पुत्र का नाम रखते समय माता पिता, उसके भविष्य के प्रति संजोए गए अपने स्वप्नों को शब्द के रूप में ही मूर्त करने का प्रयास करते हैं। इसी प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए ही मनु ने कहा है कि ब्राह्मण वर्णेच्छु का नाम मंगल बोधक, क्षत्रिय वर्णकाम का बल सूचक, वैश्य वर्ण में प्रवेश करके धनवान बनने की कामना करने वाले का नाम धन संयुक्त और शूद्र का सेवा भाव द्योतक ही होना चाहिए (२.३१—३२)।

जन्म के चाथे मास में जातक को घर से प्रथम बार बाहर निकलने पर होने वाला **'निष्क्रमण'** संस्कार तो आह्लाद दायक सामाजिक समारोह ही अधिक प्रतीत होता है। छठे अथवा कुलाचार के अनुसार किन्हीं भी आगामी मासों में किए जाने वाले **'अन्नप्राशन'** संस्कार (मनु २.३४) के सम्बन्ध में तो कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। दूरदर्शन देखने वाले चौथे महीने से शिशु को ठोस आहार देने की सलाह देने वाला 'सेरेलैक' का विज्ञापन देख देख कर ऊब चुके हैं। गर्भ के केशों का क्षौर कर्म कराने वाला **'चूड़ाकर्म'** और **'कर्णवेध'** संस्कार जन्म के प्रथम या तृतीय वर्ष में कराए जाने का विधान हुआ है (मनु २.३५)।

इसके बाद काम्यवर्ण की आवश्यकताओं को देखते हुए ही क्रमशः पांचवें छठे और आठवें अथवा आठवें, ग्यारहवें और बारहवें वर्ष में **'उपनयन मौञ्जिनिबन्धन'** संस्कार (मनु २.३६—३७) किया जाने का विधान किया गया है। इसी संस्कार के बाद से ही बालक के जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण काल—ब्रह्मचर्याश्रम—प्रारम्भ होता था, जिसमें उसे शूद्र अथवा पशु की स्थिति से ऊपर उठकर मनस्वी मनुष्य बनाने के लिए विद्या और संस्कार सम्पन्न कराने का प्रयत्न किया जाता था।

पूर्व उद्धृत वैदिक मान्यता को दुहराते हुए ही मनु ने कहा है कि 'इस समग्र सृष्टि की 'गुप्ति'—योगक्षेम के वहन—के उद्देश्य से ही महाप्रभु ने पुरुष के मुख, बाहु,ऊरु और पाद आदि चार अंगों के आपेक्षिक महत्व के समतुल्य ही, लोक में चार वर्णो का सृजन अर्थात् पृथक्करण किया था। उनमें से मुख स्थानी ब्राह्मणों के लिए अध्ययन, यज्ञ करना और यथा शक्ति दान देने जैसे सामान्य कर्तव्यों के अतिरिक्त अध्यापन, यज्ञ कराना और आवश्यकतानुसार और यथावसर

दान स्वीकार करने जैसे कर्मोको वृत्त्यर्थ निर्धारित किया था। उसी प्रकार उपरोक्त तीन सामान्य कर्तव्यों के अतिरिक्त बाहु स्थानी क्षत्रिय के लिए निरहंकार पूर्वक कर्तव्य भाव से लोक रक्षण और लोकरंजन — *प्रजानां रक्षणं.... विषयेष्वप्रसक्तिश्च* (२.६०) और ऊरु स्थानी वैश्य के लिए पशुपालन, कृषि, वाणिज्य और महाजनी को जीविकोपार्जन का साधन निर्धारित किया था। चतुर्थ वर्ण शूद्र के लिए, उनकी क्षमता को देखते हुए ही, प्रभु ने कर्तव्य और वृत्ति, दोनों ही के लिए इन तीनों वर्णो की ईष्या रहित सेवा ही निश्चित की थी' (मनु १—८८—६२;१०.७४—८०)। शूद्र वर्ण के सम्बन्ध में स्वाध्यायादि आवश्यक कर्तव्यों के कथन का न होना कभी कभी आक्षेप का कारण बन जाता है। परन्तु यहां स्मरण रखा जाना चाहिए कि मनु की स्वीकृति वैदिक मान्यता के अनुसार जातमात्र शूद्र अथवा शैव दर्शन की शब्दावली में कर्मों के पाश से बंधा अथवा पशुवत ही योनि मार्ग से जन्म लेने के कारण — *कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः, संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभि जायते* (मनु २.१७२)— पशु ही होता है और तब तक शूद्र ही रहता है जब तक विद्या और संस्कार न प्राप्त कर ले —*यावद् वेदे न जायते* (मनु २. १७२)। विद्या ज्ञान और संस्कार प्राप्त कर लेने पर भी उनकी न्यूनधिक मात्रा के अनुरूप ही उसका उच्चावच्च वर्ण निर्धारित होताा था।

ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होकर, विद्या विहीन रह जाने वाले शूद्र को छोड़कर, समस्त द्विजों का — उपनीत हो चुके ब्रह्मचारियों का—प्रमुख कर्तव्य अध्ययन कहा गया है। इसके लिए शिक्षा की और सुशिक्षा के लिए गुरु और सत् गुरु की आवश्यकता स्वतः प्रमाणित और सुविदित है। मनु ने शिशु का प्रथम गुरु स्वयं पिता और माता को बताते हुए कहा है कि जो पिता और माता गर्भाधान आदि संस्कारों को सम्पन्न करते हुए — *निषेकादि कर्माणि यः करोति यथा विधि* — अन्नादि से सन्तान के अस्तित्व को सम्भव बनाते हैं—*संभावयति चान्नेन*— उन्हें गुरु कहा जाता है (मनु २.१४२)। पद गौरव की दृष्टि से अन्य उपाध्याय और आचार्य की अपेक्षा पिता का और उससे भी ऊंचा स्थान माता का होता है— *उपाध्यायान्दशाचार्यआचार्याणां शतं पिता। सहस्त्रं तु पितृन्माता गौरवेणाति रिच्यते* (मनु २.१४५)। बालक की जन्म जात प्रतिभा को पहचान कर, उसे उचित दिशा मेंसंवर्धित करनेसे इनका प्राथमिक महत्व है (मनु २.३७)। आगे उपनीत ब्रह्मचारी को गुरु द्वारा प्रारम्भिक अक्षरारम्भ कराए जाने का कथन न होने से (मनु २. ६६), प्रतीत होता है कि बालक माता पिता से ही अक्षर और अंक गणित का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करता था। अतः असम्भव नहीं है कि माता—पिता अथवा अपने दोष से ही प्रारम्भिक शिक्षा न प्राप्त कर सकने वाले बालक ही अनुपनीत रह कर अशिक्षित शूद्र रह जाते हों! मगर माता—पिता से ही सम्पूर्ण विद्या नहीं प्राप्त की जा सकती थी और गुरु के पास जाकर—उपनीत होकर—पढ़ना ही होता था। ये गुरु मुख्यतः दो श्रणियों में रखे गए हैं। जो द्विज उपनयन संस्कार पूर्वक शिष्य को आचार के साथ ही विचार, उपनिषद सहित सांगवेद का ज्ञान देता था, देने में समर्थ होता था उसे आचार्य कहा जाता था — *उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्*

द्विजः, सकल्पं सरहस्यं च तामचार्यं प्रचक्षेत (मनु २.१४०) और जो द्विज वृत्त्यर्थ ही वेद के किसी एक अंश अथवा वेदांग का ही अध्यापन करता था — *एक देशं तु वेदस्य वेदागांन्यपि वा पुनः*—उसे उपाध्याय कहते थे (मनु २.१४१)।

अन्यत्र श्राद्ध भोज की पंक्ति मेंसम्मिलित किए जाने केअयोग्य द्विजाधमों की सूची में—*अपांक्तेयान्प्रवक्ष्यामि कव्यानर्हान्द्विजाधमान्* (मनु ३.१४६) भृतकाध्यापक, उसके द्वारा पढ़ाए हुए और शूद्र के शिष्य का एक साथ नामोल्लेख हुआ है — *भृतकाध्यापको यश्च भृतकांध्यापितस्तथा, शूद्र शिष्यो* (मनु ३.१५६)। सामान्य रूप से, *'भृतिर्वेतनं तद्ग्राही भृतक सन्, योऽध्यापकः स तथा'* (कुल्लूक) व्याख्या के अनुसार यहां वेतन लेकर पढ़ने वाले की चर्चा ही अभिप्रेत मानी जाती है। किन्तु *'भृञ् धारणपोषणयोः* (धातु पाठ ३.५) से निष्पन्न हुए इस शब्द का मूल अर्थ वेतन न होकर, धारण पोषण ही है। ब्राह्मण के लिए विधीयमान छह कर्मों—*अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा दानं, प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः* (मनु १०.७५) में से जीविकार्थ कहे गए तीन कर्मों में—*षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका, याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः* (मनु १०.७६) अध्यापन का उल्लेख हुआ है। इसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि जहां आचार्य आदि गुरुकुल में स्थापित होकर, संस्कार पूर्वक विद्यादान देते हुए, विद्यार्थियों से कुछ भी न लेकर (मनु २.२४५), मात्र उनके भिक्षाचरण और *'विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः'* पर ही निर्वाह करते थे, वहीं कुछ अन्य, परिस्थिति जन्य कारणों से ही क्यों न हो,केवल धारण—पोषण पर ही गृहस्थ के घर पर, कृपाचार्य और द्रोणाचार्य की तरह आश्रित होकर, सेवक की तरह रहते हुए, उसके बालकों को पढ़ाया करते थे। आज कल प्रचलित व्यवस्था के अन्तर्गत इनकी तुलना अधिकृत विद्यालयों के बाहर, कुकुरमुत्तों की तरह उग आए हुए coaching institutes और private tutors से की जा सकती है। इसे भाग्य की विडम्बना और देश जाति का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि जहां मनु ने इन्हें द्विजाधम कह कर अपांक्तेय घोषित किया था, वहीं सामाजिक न्याय के नाम पर उन्हें पग पग पर गाली देने वाले, इन्हें प्रश्रय देकर गौरवान्वित कर रहे हैं।

यह भारतीय आर्ष परम्परा की अपनी ही विशिष्टता थी कि विद्यार्थी को गुरु के घर पर— *'आचार्य कुल वासी'* (छां उ. २.२३.१) अथवा *'अन्तेवासी'* (वही ३.११.५; बृ.उ. ६.३.७; तै. उ. १.११.१) होकर अध्ययन करना होता था। इस नियम के फलस्वरूप मनोमस्तिष्क मेंअपनी सामाजिक स्थिति और सांस्कृतिक परिवेश के सम्बन्ध में किसी पूर्व धारणा के बन पाने अथवा उसके बद्धमूल हो जाने के पूर्व ही, ब्रह्मचारी को उससे दूर,एक निष्ठावान, आचारवान, समर्पित और अनूचान गुरु के पास, नगर के बाहर भेज दिया जाता था। वैदिक मान्यता के अनुसार शरीर में ही नहीं, वग्न आंख और मुंह में धूल भर देने वाले नगर के वातावरण मेंतो किसी संयत आत्मा वाले व्यक्ति का भी सिद्धि प्राप्त कर सकना कठिन था— *पुररेणु कुण्ठित शरीर स्तत्परिपूर्ण नेत्र वदनश्च। नगरे वसन सुनियतात्मा सिद्धि*

मवाप्स्यतीति न तदस्ति (बौ. ध. सू. २.३.६.३३)। मनु ने भी 'अतिशय धर्म की इच्छा वालों के लिए ग्राम व नगर में सदा ही अनध्याय' कहा है— *नित्यानध्याय एव स्याद ग्रामेषु नगरेषु च* (४.१०७)। वस्तुतः 'धी'— धारणात्मक बुद्धि के तो पर्वतों की छाया अथवा नदियों के संगम पर ही प्रकट होने की ही मान्यता थी— *उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्* । *धिया विप्रो ऽअजायत* (यजु. २६१५) इस प्रकार वह विद्यार्थी दूषित वातावरण सेही नहीं बचा रहता था, वरन् व्यर्थ के कुलाभिमान, परिवार के विभिन्न द्वन्दों और सामाजिक विषमताओं से उत्पन्न होने वाले विविध संघर्षों की छाया से भी दूर रह कर, सिद्ध साधक गुरु से आचार और विद्या ग्रहण कर लेता था।

यह आचार्य भी अपने ब्रह्मचारी के प्रति माता जैसा ममत्वपूर्ण व्यवहार करता था। इसी सत्य को हृदयंगम कराने के उद्देश्य से वेद में कहा गया है कि 'आचार्य उपनीत ब्रह्मचारी को मानो तीन रात्रि पर्यन्त अपने गर्भ में धारण करता है और उसे उत्पन्न हुआ देखने के लिए देवताभी एकत्र हो जाते हैं' (अथर्व ११. ५.३)। इसे ही मनु ने *'यद् ब्रह्मजन्मास्य'* (२.१७०) अथवा *'यावद वेदे न जायते'* (२.१७२) कहा है। गुरु के इसी वात्सल्य पूर्ण व्यवहार के कारण ही शिष्य सहज होकर सरलता से गुरु का प्रभाव ग्रहण कर लेता था। गुरु और शिष्य के बीच किसी भी प्रकार के दुराव—छिपाव का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता था। जैसाकि तैत्तिरीय उपनिषद में आई सामूहिक प्रार्थना— *ओम सहनावतु सह नौ भुनक्तु, सह वीर्य करवावहै, तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै, ओम् शान्तिःशान्तिः शान्तिः* (२.१;३.१) से स्पष्ट है, उन दोनों की सुरक्षा, भोग और परिश्रम एक समान अथवा सम्मिलित ही होता था और दोनों की पढ़ाई और पढ़ी विद्या के तेजस्वी होने और उनके मध्य किसी भी प्रकार का द्वेष न होने की प्रार्थना की जाती थी।

गुरु भी शिष्य को निरालस होकर—*अध्येष्यमाणां तु गुरुर्नित्यकालम तन्द्रितः* (मनु २.७३) और निरभिमान पूर्वक पढ़ाता था। गोपथ ब्राह्मण (१.३१) में आई एक कथा के अनुसार मैत्रेय नामक एक आचार्य को जब ज्ञात हुआ कि उसे किसी विशेष विषय के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है तो उसने शिष्यों को विदा करके, उपने आश्रम को तत्काल बन्द कर दिया था और उस विद्या को प्राप्त करने के लिए निकल गया था। गुरु—शिष्य के इसी ममत्वपूर्ण सम्बन्ध के आधार परही शिष्यों के प्रति **व्यक्तिगत ध्यान** दिया जाना भी इस शिक्षा पद्धति की दूसरी विशेषता थी। प्रत्येक विद्यार्थी की भौतिक आवश्यकताओं को समान मानते हुए भी, उनकी व्यक्तिगत अभिरुचि, ग्रहण क्षमता और आवश्यकताओं का समुचित आकलन करके ही तदनुकूल शिक्षा और पाठ्य क्रम की व्यवस्था की जाती थी। आज़ इसका उलटा हो रहा है। भौतिक आवश्यकताओं में समानता के व्यवहार, जिससे कम से कम शिक्षण संस्था की कार्यावधि में व्यर्थ के कुलाभिमान के पनपने पर कुछ रोक लगती थी, और जो अभी कुछ वर्षो पूर्व तक सभी शिक्षण संस्थाओं में प्रचलित था, को अस्वीकार करके, अब सभी विद्यार्थियों की बौद्धिक क्षमताओं को समान मानने काभ्रम पालते हुए, *'सबधान सत्ताइस पसेरी'* की लोकोक्ति को चरितार्थ किया जा

रहा है। इस यांत्रिक शिक्षा पद्धति में मूढ़तम विद्यार्थी की आवश्यकताओं के अनुरूप ही शिक्षा दी जा रही है और प्रतिभा को कुण्ठित करने का सुनियोजित षडयंत्र चलाया जा रहा है।

इस आर्ष शिक्षा पद्धति की एक और विशेषता की ओर भी ध्यान आकर्षित करना अप्रासंगिक न होगा— यह था इसका पूर्णतया **निःशुल्क** होना। इसके फलस्वरूप ही शिक्षा सार्वभौम हो सकी थी और उसे पाने का अधिकार विद्यार्थी के कुल की आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक स्थिति से अप्रभावित रहता हुआ, केवल शिष्य की बौद्धिक क्षमता और जिज्ञासा की तीव्रता पर ही निर्भर करता था। इसी का अनुमान करके ही आचार्य हारिद्रुमत गौतम ने कुल—गोत्र हीन दासी जाबाला के पुत्र सत्यकाम को अपने गुरुकुल आश्रम में प्रवेश देने में कोई संकोच नहीं किया था (छां.उ.४.४.५)।

वर्षों तक निरालस और वात्सल्यपूर्ण अध्यापन का कार्य गुरु मात्र धर्म—कर्तव्य—समझ कर ही करता था, न कि किसी आर्थिक लाभ की आकांक्षा से। विद्या समाप्त कर अपने सामाजिक परिवेश में लौटते हुए शिष्य से उसे कुछ उपहार ही लेने का अधिकार था। मनु के विधान, जिसे कोसने वाले अपने को सामाजिक न्याय का पक्षधर कहते नहीं अघाते हैं, के अनुसार विद्याध्यन पूरा हो जाने के पश्चात् और स्नातक विधि के पूर्व सेवा के अतिरिक्त, गुरु के प्रति अन्य उपकार को, धर्म विहित न मानते हुए ही, निषिद्ध कहा गया है। दीक्षा के समय भी, गुरु की आज्ञा से ही, उसे यथाशक्ति गुरुदक्षिणा दी जा सकती थी (मनु २. २३४)। यहीं गुरु को प्रसन्न करने के लिए दिए जाने वाले उपहारों की सूची दी गई है, जिसमें 'क्षेत्र' से प्रारम्भ करके सोना, गाय, घोड़ा, जूता, आसन, अन्न शाक, वस्त्रादि का उल्लेख किया गया है (२.२४६)। यतः वैदिक मान्यता के अनुसार 'कृषि कर्म वेद का विनाशक है'— *कृषिर्वेदविनाशाय* (बौ.घ.सू.१.१०.३) अर्थात कृषि कर्म में रत व्यक्ति चाह कर भी वेदाध्ययन करने में सफल नहीं हो पाता है, उस सूची में 'क्षेत्र' निश्चय ही गुप्त काल में भूमि—दान की प्रथा के प्रारम्भ होने बाद ही बढ़ाया गया होगा।

यहां कविकुलगुरु कालिदास द्वारा उदाहृत एक एतिहासिक घटना का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। कहा गया है कि महर्षि वरतन्तु के शिष्य कौत्स ने समस्त विद्याएं प्राप्त करके जब गुरु को दक्षिणा देनी चाही थी, तब गुरु ने शिष्य की अस्खलित और भक्ति पूर्ण चिरकालिक सेवा से ही सन्तुष्ट होकर, दक्षिणा लेना अस्वीकार कर दिया था। मगर कौत्स के आग्रह ही नहीं, दुराग्रह से कुपित होकर, प्रतिविद्या एक कोटि की गणना करते हुए, गुरु ने कौत्स से चौदह कोटि धन ले आने का आदेश दिया था (रघुवंश ५.२०—२१)। इससे जहां शिक्षा के निःशुल्क होने की सूचना मिलती है, वहीं विद्या की महार्घता भी स्पष्ट हो जाती है। बाद की घटना,जहां शिष्य के निःस्पृह होने की प्रशंसा की गई है— *गुरुप्रदेयाधिक निःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिक प्रदश्च* (वही ५.३१), से सत् गुरु से प्राप्त आचार की श्रेष्ठता ही सिद्ध होती है।

हां!ऐसे निर्लोभी गुरु का आदर–सम्मान आजन्म करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। उसके न रहने पर, गुरुपत्नी और *'गुरुपुत्रे गुणान्विते'* तथा उनके परिवार के अन्यान्य सदस्यों के प्रति, आचार्य कुलवास की अवधि में मिले ममत्व और साहचर्य के प्रतिदान स्वरूप ही, गुरुभावना रखने का आदेश दिया गया है (मनु २.२४७)।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सामान्य रूप से ब्राह्मण वर्ण के बालक का आठवें, क्षत्रिय वर्ण का ग्यारहवें और वैश्य वर्ण का बारहवें में उपनयन कराने के लिए कहा गया है (मनु २.३६)। यहां वर्णो को रूढ़ अर्थ में नहीं ग्रहण किया जाना चाहिए क्योंकि अगले ही श्लोक में कहा गया है कि बालक की विलक्षण प्रतिभा को पहचान कर, उसका अनुमान करते हुए, उसके लिए ब्रह्मवर्चस् (ब्राह्मणवर्ण), बल (क्षत्रियवर्ण) अथवा धन समृद्धि (वैश्य वर्ण) की कामना से पिता कुछ पहले अर्थात् क्रमशः पांचवें, छठे और आठवें वर्ष में ही उपनयन करा सकता है – *ब्रह्मवर्चस कामस्य कार्य विप्रस्य पञ्चमे, राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे* (मनु २.३७)। आगे आए एक अन्य श्लोक में (२.१४८) से भी इसी विचार की पुष्टि होती है। वहां कहा गया है कि 'वेद का पारंगत आचार्य सावित्री अर्थात् वेदज्ञान के प्रभाव से अध्यापन की समस्त शास्त्रोक्त विधियों का पालन करते हुए शिष्य की जो जाति–जन्म उत्पन्न – निश्चित करा देता है, वही शाश्वत होता है, वही अजर औरअमर अर्थात अपरिवर्तनीय भी होता है– *आर्चायस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेगपारगः, उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा* (मनु २.१४८)। यदि पूर्व उद्धृत अथर्ववेद के मंत्र का स्मरण करें तो गुरु से उत्पन्न होने वाले ब्रह्मचर्य व्रत में दीक्षित विद्यार्थी ही होते हैं, उस समय तक उनमें कोई विशेषता प्रकट नहीं हुई होती है, वे सब ही एक समान होते हैं। पर यदि यहां पिता के काम्य वर्ण की अपेक्षा, उनके विद्यार्जन समाप्त होने पर, उनमें प्रकट हो चुकी योग्यता और क्षमता आदि का आकलन करते हुए गुरु द्वारा निर्धारित वर्ण का ग्रहण किया जाय तो समस्या सुलझ जाती है, अर्थ की संगति लग जाती है। छान्दोग्य उपनिषद (४.४.१–५) में भी तो आचार्य हरिद्रुमत गौतम द्वारा स्वीकृत अथवा निर्धारित–वरण किए गए–वर्ण को ही तो सत्यकाम का वर्ण माना गया था। वर्ण शब्द का धात्वर्थ भी तो यही है। इस प्रकार उपरोक्त श्लोक में जाति में 'वर्ण' और उत्पादन से 'प्रकट करना' ही ग्रहण किया जाना चाहिए।

उपनयन की अन्तिम सीमा क्रमशः सोलह, बाईस और चौबीस वर्ष कही गई है। तब तक *'सावित्री नातिवर्तते'* (मनु २.३८) अभी भी ब्राह्मणत्व की प्राप्ति के लिए, कम से कम एक वेद पढ़ने का तो, समय शेष ही था। अन्य वर्णो में जाने के इच्छुक युवक भी यदि सेनापति और श्रेष्ठी नहीं बन सकते थे, तो भी सैनिक अथवा छोटे–मोटे दूकानदार होने की योग्यता तो प्राप्त कर ही सकते थे। परन्तु समय की इस अन्तिम सीमा का अतिक्रमण हो जाने बाद, ये सभी आज्ञा

न मानने वाले और समूहों में निरकुंश विचरने वाले युवक 'व्रात्य' घोषित कर दिए जाते थे और आर्य जनों की निन्दा के पात्र हो जाते थे (मनु २.३९)। व्रात्य की इस पतित स्थिति से निष्कृति का, प्रायश्चित करके संस्कार और विद्या प्राप्त करने और आचरण सुधारने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं था और आर्य द्विजों को एसे पतित व्रात्यों से विद्या और योनि का सम्बन्ध रखना निषिद्ध घोषित कर दिया गया था (मनु २.४०)। अन्यत्र, क्रमशः सोहलवें, बाइसवें तथा चौबीसवें वर्ष में किसी *'केशान्त'* संस्कार के किए जाने का उल्लेख हुआ है (मनु २.६५)। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह कोई पृथक संस्कार न होकर, इन्हीं व्रात्यों के प्रायश्चित की ही विधि विशेष थी। अल्प वयस के बालकों में शारीरिक सौन्दर्य के प्रति जागरूकता उत्पन्न होने के पूर्व ही उन्हें मुण्डित करा देना सरल होता है, परन्तु वयस्क तरुणों को इसके लिए प्रस्तुत करा पाना कुछ कठिन होता है। आज कल महानगरों में उद्दण्ड युवकों को शिष्टाचार सिखाने के लिए दण्ड स्वरूप मुण्डित करा कर विरूप कर देने की यदा कदा होने वाली घटनाओं की ही तरह, बढ़ी वयस के युवकों को बलात् शिक्षा देने के प्रयास में किया जाने वाला दण्ड विधान ही रहा होगा यह संस्कार। मगर आज इसका उलटा हो रहा है।आज ऐसे युवक समूह बद्ध होकर शिक्षा संस्थानों में 'राजनीति' करते हैं, अपराध करते हैं और फिर भी सामाजिक न्याय की दुहाई देने वालों का ही नहीं, तथाकथित मनुवादी शासकों का भी प्रश्रय और आर्शीवाद प्राप्त करके, स्वयं भी राजनीति में आकर प्रशासकों का नियंत्रण भी करने लग जाते हैं। परन्तु कोसा बेचारा मनु और उनका विधान ही जाता है।

आर्ष परम्परा की इस विशिष्ट शिक्षा पद्धति की एक अन्य विशेषता का उल्लेख, विशषतया आज की परिस्थितियों के संदर्भ में, करना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। गुरु को किसी से भी न किसी लाभ की आकांक्षा थी और न ही अपेक्षा थी। अतः शिक्षाविद् अपनी पद्धति को अपने ही सुविचारित ढंग से चलाने के लिए पूर्णतया स्वतंत्र था। उस पर किसी राजा, राज्य, शासक दल अथवा शासन तंत्र का नियंत्रण तो दूर, अंकुश और हस्तक्षेप भी अस्वीकार्य था। उसे ऐसा कोई भी हस्तक्षेप स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था। लोक में विद्या के प्रति सम्मान पूर्ण आग्रह और स्वयं गुरु की योग्यता और समर्पण भाव के प्रति विश्वास ही उसका सम्बल भी था और अंकुश भी। इस पद्धति का वास्तविक महत्व आज की परिस्थितियों से तुलना करने पर ही अपने पूर्ण वैभव और प्रखर गरिमा में प्रत्यक्ष हो पाता है।आज शिक्षा नीति का निर्धारण शिक्षाविद् नहीं, शासक दल और उसके अधीन काम करने वाला शासन तंत्र करता है इन्हीं की अहंमन्यतापूर्ण मनमानी के चलते मूर्धन्य शिक्षाविदों की तमाम संस्तुतियां ढंढे बस्ते में डाल दी जाती हैं।आज दलगल राजनीति के दलदल में आकण्ठ मग्न शासक और उनका शासन तंत्र यह भी निर्णय करने लग गया है कि विद्यार्थी क्या पढ़ें और और क्या न पढ़ें। विदेशी और विधर्मी पराधीनता के दिनों में आर्षपरम्परा से प्रेरणा पाकर स्थापित किए गए विद्याकेन्द्रों में न केवल उपाधियों

का नाम ही बदला गया है, वरन वहां के पाठ्यक्रम और प्रवेश के नियमों में भी अवांछित हस्तक्षेप किया गया है। विडम्बना तो यह है कि दलगत राजनीति के ये सत्तालोलुप पुरोधा अल्पसंख्यक वाद की परितुष्टि के लिए ही, उनके मदरसों और कान्वेन्टों की विघटन कारी और देश द्रोही शिक्षा को प्रोत्साहन भी देते रहते हैं। इसी प्रकार दलगत स्वार्थों की पूर्ति अथवा ब्रीफ केसों, हवालां अथवा उन्हीं जैसे अन्यान्य काण्डों में उत्कोच को स्वीकार करके, आज कर्त्तव्यपरायणता आदि उदात्त आचरणों को प्रेरित करने वाली धार्मिक और नैतिक शिक्षा की कक्षाओं को, धर्म को पंथ अथवा सम्प्रदाय समझने वाली मूर्खता के चलते, बन्द करा दिया गया है। इसी दुर्बुदि के कारण विदेशी–विधर्मी प्रेरणा से संस्कृत भाषा के अध्ययन–अध्यापन में व्यवधान ही उत्पन्न किया जा रहा है, वरन् अनेक बार तो उसके समूलोच्छेद के, असफल ही सही, अनेक प्रयत्न भी किए जा चुके हैं।

इसीलिए नियंत्रण और बढ़ते हस्तक्षेप के कारण ही, सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था ध्वस्त हो रही है। अब तो अर्हता न होने पर भी शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश दिलाया जा रहा है, नकल करने–कराने की दूषित प्रथा को समाप्त करने कराने के प्रयत्नों को विफल करते हुए उसे पुनरुज्जीवित किया जा रहा है, असफल को सफल घोषित करके ही नहीं, वरन अब तो सफल होने के लिए प्रयत्न भी न करने वालों को समस्त सुख–सुविधाएं दिये जाने के आश्वासन भी दिए जाने लगे हैं। शासक दल और शासन तंत्र अपात्र को पद और पदोन्नति देकर, योग्य को योग्यता के लिए दण्डित कर रहे हैं। चपरासी होने की योग्यता न रखने वालों को अधिकारी ही नहीं, निदेशक भी बनाया जा रहा है और वह दिन भी अधिक दूर नहीं जब ऐसे व्यक्ति महानिदेशक भी बन जाएगें। इन्हीं सब को देख सुन कर ही तो कवि को कहना पड़ा है–

'सुगना को पिंजरा मिले, कागा को ऊंची डाल,
मूरख को कुर्सी मिले, प्रतिभा हो बेहाल।।' और किसी शायर ने कहा है–
'उन्हीं को जाम मिलता है, जिन्हें पीना नहीं आता' और इसलिए *'बुलबुलों को है ये हसरत कि उल्लू न हुए'*। और यह सब हो रहा है सामाजिक न्याय के नाम पर, मनु और उनकी व्यवस्था को गाली देने वालों के प्रोत्साहन पर।

पांचवें या आठवें वर्ष की वयस से प्रारम्भ करके छत्तीस या इससे भी अधिक वर्षों तक गुरु की सेवा–*चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिम्* (रघुवंश ५.२०) करते हुए ही अध्ययन करने को वेदत्रयी का ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक विद्यार्थियों का व्रत–*त्रैवेदिकं व्रतम्* (मनु ३.१) कहा गया है। सम्पूर्ण ज्ञान राशि–*विद्या ह्येताश्चतुर्दश*–की प्राप्ति के लिए आवश्यक इस अवधि में विद्यार्थी की इच्छा, सुविधा, निष्ठा और आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, कमी भी की जा सकती थी। इसके लिए अवधि को घटा कर आधा अर्थात अठारह या चौथाई अर्थात् नौ वर्ष भी कर देने का विधान किया गया था– *षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्, तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव च* (मनु ३.१)। अन्यत्र, *'अष्टाचत्वारिंशद्वर्ष*

सर्ववेद ब्रह्मचर्य (गो. ब्रा; २.५; आप. ध. सू; १.१.२) कह कर अड़तालीस वर्षों में सभी चारों वेदों का ज्ञान प्राप्त करने की बात कही गई है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में यूनान के आक्रान्ता सिकन्दर के उत्तराधिकारी सेल्यूकस के राजदूत मेगस्थिनीज ने भी १०—११ वर्ष की वय के बाद ३७ वर्षों के अध्ययन काल की परम्परा के अक्षुण्ण रहने की बात लिखी है (मजूमदार १९६०:२७३—२७४)।

विद्यार्जन की इस अवधि में उपनीत ब्रह्मचारी को अपने कुलाचार अथवा पिता द्वारा काम्य वर्णो के अनुसार ही वेश धारण करना होता था। काम्य वर्ण क्रम से क्रमशः कृष्ण मृग, रुरु अथवा अजा का चर्म अथवा विकल्प से सन्, क्षौम और ऊनी वस्त्र (मनु २.४१) तथा मूंज अथवा उसके अभाव में क्रमशः कुश, अश्मान्तक अथवा बल्बज घास की मेखला (मनु २.४२), और कपास, सन अथवा ऊन का यज्ञोपवीत (मनु ३.४४) धारण करना होता था। यहां ध्यान देने की बात है कि काम्य वर्ण की उच्चता के अनुसार ही इन तीनों ही वस्तुओं का खुरदरापन भी बढ़ता जाता है। इनके अतिरिक्त, प्रत्येक ब्रह्मचारी को काम्य वर्ण के अनुसार ही क्रमशः बेल या पलाश, वट या खैर और पीलू या गूलर के (मनु २.४५), केशान्त, ललाट अथवा नासिका तक ऊंचे दण्ड (मनु २.४६) भी रखने आवश्यक कहे गए हैं। इनका *'सौम्य दर्शनाः, अनुद्वेगकरा नृणां'* (मनु २.४७) होना आवश्यक बता कर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वे केवल आत्मरक्षार्थ ही होते थे, न कि किसी को डरा धमका कर, परपीड़न के लिए।

उपनयन से स्नातक विधि अर्थात् समावर्तन संस्कार तक अर्थात् विद्योपार्जन की सम्पूर्ण अवधि में समिधा लाकर अग्नि कर्म, भिक्षाचरण, भूमि पर शयन और गुरु की सेवा ब्रह्मचारी के प्रमुख दैनिक कर्तव्य (मनु २.१०८) कहे गए हैं। भिक्षा चर्या — *चरेद्भैक्षाचर्यं यथाविधिः* (मनु २.४८) पर आधारित यह जीवन चर्या उन्हें जन्म की आकस्मिकता से प्राप्त होने वाली सुख सुविधाओं की उपेक्षा करते हुए, कष्ट सहिष्णु और मनुष्य मात्र की समानता का पाठ पढ़ाने और पढ़ कर हृदयंगम कराने के उद्देश्य से ही आयोजित की गई थी। इस पद्धति से होने वाला दूसरा लाभ यह भी था कि वे अपने निज के श्रम और क्षमता से प्राप्त भोगों से सन्तुष्ट होने के साथ ही अपनी पात्रता से अधिक की लिप्सा से ऊपर उठना भी सीख जाते थे।

इस भिक्षाचरण के लिए भी अनेक विधि निषेधों का विधान हुआ है। प्रतिदिन केवल वेदज्ञ, यज्ञपरायण और स्व कर्म कुशल गृहस्थों के यहां की ही भिक्षा ग्रहण करने के लिए कहा गया है— *वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तां स्व कर्मसु.... प्रयतोऽन्वहम्* (मनु २.१८३)। यदि कभी पूर्वोक्त गुणों से युक्त कोई घर न मिले तो, शुद्ध रहते हुए, विना मांगे ही— *नियम्य प्रयतो वाचम्*—सारे गांव में भिक्षाटन करले, परन्तु तब भी, महापाप के अपराधियों के घर भिक्षा लेने (मांगने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है) कदापि न जाए (मनु २. १८५)। इसी प्रकार, एक ही घर की भिक्षा पर निर्भर रहने का निषेध करते हुए, अनेकानेक घरों से प्राप्त भिक्षा से ही निर्वाह करने

का आदेश दिया गया है (मनु २.१८८)। परन्तु देव और पितृ कृत्यों के अवसर पर, निमंत्रित हो कर, एक ही घर में भोजन कर लेने की अनुमति दे दी गई है (मनु २.१८६)। इन नियमों का उद्देश्य उसे नैराश्य–सहिष्णु बनाना ही प्रतीत होता है।

भोजन दिन में दो बार–प्रातः और सायंकाल– ही किए जाने का विधान किया गया है, और बीच में नहीं–*सायं प्रात द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम्, नान्तरा भोजनं कुर्याद्* (मनु २.५२)। भोजन एकाग्र होकर– *समाहितः* (मनु २.५३) और आदर पूर्वक ही करना चाहिए। उसकी निन्दा न करके, उसे देखकर प्रसन्नता का अनुभव करते हुए, उसकी प्रशंसा करने के आदेश (मनु २.५४) में भी *'अन्नं वै ब्रह्म'* जैसी वैदिक मान्यता का अनुगमन ही नहीं किया गया है, वरन् उसकी अनिवार्यता और कष्ट साध्य उत्पत्ति और प्राप्ति को भी रेखांकित किया गया है। कहा गया है कि आदृत भोजन से बल और ऊर्जा की वृद्धि होती है और उसके तिरस्कार से इन दोनों का ही नाश हो जाता है (मनु २.५५)। उच्छिष्ट भोजन (वही २.५६) और अतिभोजन का निषेध किया गया है। यह अस्वाथ्यकर, आयु और सुख का नाश करने वाला और अपुण्यकर ही नहीं, लोक निन्दा का भी कारण होता है– *अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चाति भोजनम्, अपुण्यं लोकविद्विष्टं.....* (मनु २.५७)।

उपरोक्त जीवन चर्या से ब्रह्मचारी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर सादा जीवन स्वीकार करने के लिए तय्यार किया जाता था। अब तो पाश्चात्य विचारक भी स्वीकार करने लग गए हैं कि 'बालकों को 'हम क्या प्राप्त कर सकते हैं' के स्थान पर 'हम क्या त्याग कर भी प्रसन्न और सुखी रहते हुए जीवन निर्वाह कर सकते हैं' सिखाना चाहिए। तभी वे उच्च आदर्शों के प्रति कष्ट सह कर भी समर्पित रह सकेंगे; (जे. एम. विलियम्स, *प्रिन्सिपल्स् ऑफ सोशल साइकोलोजी*, न्यूयार्क १६२०:३७८; प्रभु १६७६:११५)। हमारे पुराण, रामायण महाभारत इत्यादि प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन इतिहास ग्रन्थों में आए अनेक उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि कुल के वैभव, समृद्धि और प्रभाव की उपेक्षा करते हुए सभी विद्यार्थियों को, गुरु के समान ही, एक जैसी सादी और कष्ट सहिष्णु जीवन शैली ही अपनानी होती थी।

उपनयन के अनन्तर सर्वप्रथम शौच से प्रारम्भ करके उत्तरोत्तर आचार, अग्नि होत्र और सन्ध्योपासना की शिक्षा दी जाती थी और अभ्यास कराया जाता था – *शिक्षयेच्छौचमादितः, आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च* (मनु २–६१)। इस प्रारम्भिक शिक्षा के बाद ही वेदारम्भ होता था (वही २.६२–६३)। कहीं कहीं इसे एक पृथक संस्कार भी कहा गया है। जो कुछ भी हो, यहां शौच आदि के बाद वेदारम्भ के मध्य में अक्षरारम्भ का उल्लेख न होने से प्रतीत होता है कि यह प्रारम्भिक शिक्षा माता–पिता से ही प्राप्त होती थी और उसी की प्रवीणता के आधार पर ही बालकों को 'उपनीत' किया जाता था।

पाठ के प्रारम्भ और समाप्ति पर गुरु–आचार्य के चरण स्पर्श और पाठ

की अवधि मेंअञ्जलिबद्ध होकर बैठने — *सहंत्यहस्ताध्ये*' (मनु २.७१) का आदेश देकर न केवल आचार्य के प्रति ही, वरन प्राप्त की जाने वाली विद्या के प्रति भी आदर का भाव रखना सिखाया जाता था और इस प्रकार आजकल होने वाली गुरु और विद्या की अवमानना होने की सम्भावना को निर्मूल कर दिया जाता था। परन्तु गुरु को भी सजग और निरालस होकर ही— *गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः* (मनु २.७३) अध्यापन करने का सुझाव दिया गया था। तभी तो गुरु शिष्यों की बौद्धिक आवश्यकताओं के प्रति जागरूक रहते हुए, उनके ध्यान के आकर्षण का केन्द्र बना रह सकता था।

विद्यार्जन की अवधि में ब्रह्मचारियों कों भटकाने वाले विषयों की ओर उन्मुख होती इन्द्रियों को अनुभवी सारथी के ऊर्जस्वी अश्वों को नियंत्रण में रखने जैसे कौशल से ही वश में रखने का आदेश—उपदेश—दिया गया है— *इन्द्रियां विचरतां षिषयेष्वपहारिषु, संयमे यलमातिष्ठे द्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम्* (मनु २.८८)। कहा गया है कि जिस विषयासक्त मनुष्य काभाव शुद्ध नहीं होता है, उसको वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप फलीभूत नहीं होते हैं— *वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च, न विप्रदुष्ट भावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्* (मनु २.६७)। सभी इन्द्रियों में से एक के भी अव्यवस्थित होने पर, व्यक्ति का ज्ञान उसी प्रकार क्षरित हो जाता है, जैसे फूटी मशक आदि से पानी— *यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्, तेनास्यक्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्* (मनु २.६६)। अतः इन्द्रिय निग्रह में सहायता देने के लिए,ही ब्रह्मचारी को तेल—फुलेल, काजल—सुरमा, जूता—छाता आदि श्रृङ्गारिक एवं कष्ट निवारक और सुविधाजनक साधनों के प्रयोग तथा काम—क्रोध जैसे दुष्ट मनोभावों को उभारने वाले नृत्य—गायन का निषेध भी किया गया है (मनु २.१७८)। गृहस्थाश्रम में भी *'गन्धलेपयुक्तो नाधीयीत'* (मनु ४.१११)। आज की भाषा में कहें तो सभी तरह के फैशन तथा सिनेमा—टी.वी., डिस्को आदि उत्तेजक मनोरंजन आदर्शोन्मुख और उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समर्पित ब्रह्मचारी के लिए वर्जित थे। इसी प्रकार द्यूत, परनिन्दा, वितण्डावाद, असत्य—भाषण और स्त्री दर्शन, संस्पर्शन का निषेध तथा किसी का अपकार न करने का आदेश— *स्त्रीणां च प्रेक्षणांलम्भमुपघातं परस्य च* (मनु २.१७६) किया गया है। यही नहीं, *'बलवानिन्द्रिय ग्रामों विद्वांसमपि कर्षति'* (मनु २.२१३) होने के कारण ही गुरु पत्नी का अंग स्पर्श ही नहीं (वहीं २.२११), युवा गुरुपत्नी का चरण स्पर्श करने का भी निषेध किया गया है— *गुरुपत्नी तु युवतिर्नभिवाद्येह पादयोः* (वही २.११२)। यही नहीं, वर्जित तो मां, बहिन और पुत्री के साथ एकान्त सेवन भी किया है (वही २.२१५)।

शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर काक,स्त्री और शूद्र को पाप योनि कहते हुए,ब्रह्मचारी को उनसे व्यवहार न रखने का आदेश दिया गया है। कुछ कुत्सित मनोवृत्ति के साम्यवादी कहलाने वाले तथाकथित विचारकों को इसमें स्त्री और शूद्र की अवमानना और अधोस्थिति कां ही संधान मिलता है। वस्तुतः यहां गुरुसेवा

में सन्नद्ध रहने वाले ब्रह्मचारी के लिए स्त्रीदर्शन (संस्पर्शन) और सेवक सेवन का वैसा ही अतिशयोक्ति पूर्ण निषेध हुआ है जैसा कि मोक्षकाम संन्यासी के प्रति स्त्री निन्दा में आचार्य शङ्कर ने किया है। प्रतीत होता है कि परिचर्या पूर्वक ब्रह्म—वेद—को प्राप्त करने की इस अवधि में विद्यार्थी को स्त्री सम्पर्क से बचाने की यही तीव्र उत्कण्ठा, कालान्तर में ब्र ह्मचर्य को वीर्यरक्षा के अर्थ में रूढ़ करने का करण बनी थी और तब अध्ययन करना गौण हो गया था।

ब्रह्मचारी—विद्यार्थी को विनम्र भी होना चाहिए। इसी लिए उसे अपने से ज्येष्ठ या वरिष्ठ व्यक्तियों के प्रति आदर के भाव रखने की शिक्षा देते हुए, कहा गया है कि वयस् और विद्या आदि में अपने से बड़े जिस शय्या — आसन आदि पर बैठे हो, उस पर न बैठे तथा उनके आने पर स्वयं शय्या —आसनादि से उठ कर खड़ा हो जाने और अभिवादन करते हए स्वागत करने का आदेश दिया गया है (मनु २.११६)। किन्तु जो अहंकारी विद्वान अभिवादन का प्रत्यभिवादन नहीं करना चाहता या जानता, उसे अभिवादन न करने को कहते हुए—*यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्, नाभिवाद्यः स विदुषो यथा शूद्रस्तथैव सः* (मनु २.१२६) शूद्र तुल्य कहा गया है। यहीं बड़े और छोटे का निर्णय करने के लिए बताया गया हे कि एक ही स्थान के निवासियों की वयस में दस वर्ष, वेदज्ञों में तीन और परिवार के सपिण्डों में थोड़े समय के अन्तर तक ही समानता रहती है और उससे अधिक अन्तर होने पर ही छोटा बड़ा मानना चाहिए(मनु २.१३४)। मगर वर्षो की संख्या,केशों की श्वेतिमा तथा धन की मात्रा या सम्बन्धियों की उच्च—स्थिति के आधार पर ही कोई वस्तुतः ज्येष्ठ नहीं हो जाता है। ऋषियों की व्यवस्था के अनुसार 'अनूचान्' अर्थात् सांगवेद का ज्ञाता ही महान होता है—*ऋषयश्चक्रिरेधर्मं योऽनूचानः स नो महानः* (मनु २.१५४), क्योंकि विद्वानों में ज्ञान, क्षत्रियों में बल वीर्य, वैश्यों में धन की मात्रा से ही श्रेष्ठता का निर्णय होता है। केवल शूद्रों—अविद्वानों—में ही वयस के वर्षो की संख्या का महत्व होता है(मनु २.१५५)।

गुरु की स्थिति इन सभी निर्णायक तत्वों के परे थी। उसका सम्मान करते हुए ही, उससे हीन अन्न—वस्त्रादि के प्रयोग का आदेश किया गया है (मनु २. १६४)। उनकी उपस्थिति में तो उनका नामोच्चार करना ही नहीं था— *प्रत्यक्षं न कथंचन,* और परोक्ष में भी अत्यावश्यक हो जाने पर आदरसूचक ढंग से—*परोक्ष सत्कृपापूर्वकं*—ही लेने को कहा गया है (मनु २.१९६)। गुरु की निन्दा करना तो दूर, उसे सुनना भी नहीं चाहिए (वही २००—२०१)। विद्यार्थी को गुरु के सो जाने के बाद ही सोना और जगने के पूर्व ही जग जाने का भी निर्देश दिया गया है (वही १९४)। उनके किसी अनपेक्षित व्यवहार से दुःखी और पीड़ित होने पर आचार्य, पिता माता और ज्येष्ठभ्राता का अपमान नहीं करना चाहिए, विशेषकर के ब्रह्मवर्चस के इच्छुक ब्रह्मचारी को—*आचार्यश्च पितामाता भ्राता च पूर्वजः, नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः* (वही २२५)। इसी प्रकार दत्तचित्त होकर गुरु की अचूक सेवा करने से विद्यार्थी गुरुगत विद्या को उसी प्रकार प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार से पृथिवी को खोदने वाला पानी तक पंहुच जाता है— *यथा*

खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति, तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति (मनु २. २१८)।

इसी लिए जिसमें न धर्म—कर्तव्य निष्ठा— हो, न धन हो और न शुश्रूषा कीभावना ही हो, ऐसे विद्यार्थी को विद्या देने की तुलना ऊसर में बीच बिखरने से की गई है।—*धर्मोर्थौ यत्रन स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा, तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे* (मनु २.११२)। इसी प्रकार जिज्ञासाहीन और श्रद्धारहित को भी न पढ़ाना चाहिए— *नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः*— और अन्याय पूर्वक अध्ययन करने वाले के प्रति ज्ञानवान् मेधावी गुरु को जड़वत आचरण करते हुए, मौन ही रह जाना चाहिए (वही ११०)। कहा गया है कि ब्रह्मवादी विद्या को साथ लेकर भले ही मर जाए, परन्तु आपातकाल में प्राणों का भय उत्पन्न होने पर भी, उसे किसी अपात्र को कदापि नहीं.देना चाहिए—*विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना, आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्* (मनु २.११३)

विद्या का महत्व ह्रदयंगम कराने के लिए ही उसकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि शुभ विद्या को अवर से भी, धर्मोपदेश को चाण्डाल से भी तथा श्रेष्ठ स्त्री निकृष्ट कुल से भी आदर, सम्मान और श्रद्धा पूर्वक ग्रहण करने में किंचित मात्र भी संकोच नहीं करना चाहिए (मनु २.२३८)। इसी प्रकार, स्त्री रत्न, विद्या, धर्म, शिष्टाचार, हितकारी वचन और विविध शिल्प जहां कहीं से भी मिलें ले लेने चाहिए— *समादेयानि सर्वतः* (वही २४०)। विष से अमृत, बालक के भी मुंह से निकली हुई हितकारी बात, शत्रु से भी शुभ हव्यवहार और अमेध्य (विष्टा) में पड़ा हुआ सुवर्ण ले लेना चाहिए (वही २३६)। शिल्पादि विद्याओं को उसके प्रयोक्ताओं से सीखने की अवधि में प्रशिक्षक के प्रति गुरुवत सम्मान का भाव रखने के लिए कह कर भी (वही २४१), इस अवधि को अल्प ही रखने का निर्देश दिया गया है— *ना आत्यन्तिकं वसेत्* (वही २४२) क्योंकि यह सीखना केवल सीखने और सीख कर, उस प्रविधि को और भी विकसित करके अपने शिष्यों को सिखाने के लिए—*सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद् वृत्त्युपायान्यथाविधि। प्रब्रूयादितरेभ्यश्च....* (वही १०. २) न कि, जैसा आगे दिखाया जाएगा, जीविकोपार्जन के लिए होता था। शिल्प सीखने के लिए अल्पकालिक अवधि के निर्धारण का औचित्य बताने के लिए ही कहा गया है कि वेद—ज्ञान के सिद्धान्त पक्ष—को न पढ़ कर, जो सभी समय दूसरे व्यावहारिक क्षेत्रों में परिश्रम करता रहता है, वह पुत्र—पौत्रादि सहित इस जन्म में ही शूद्र हो जाता है—*योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वामाशु गच्छति सान्वयः* (मनु २.१६८)। आज के आधुनिक परिवेश में इसे कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है— शुद्ध अथवा सैद्धान्तिक विज्ञान के अध्येता के लिए मात्र अध्यापन और सीमित शोध संस्थानों में ही अवसर उपलब्ध होते हैं और यहां भी वृत्ति स्वल्प ही होती है। यदि कोई वैज्ञानिक सांसारिक प्रलोभनों के वशीभूत होकर व्यावहारिक विज्ञान अर्थात् प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है, तो उद्योग से अभूतपूर्व समृद्धि और सम्पन्नता तो प्राप्त हो जाती है, किन्तु

ज्ञान के क्षेत्र में वह पिछड़ता चला जाता है। उसके अर्थकरी उद्योग को संभालने में सहायता देने वाले, उसके पुत्र पौत्रादि भी विद्या से क्रमशः दूर जाते हुए उसकी अवमानना करने लगते हैं और भारतीय आर्ष परिभाषा के अनुसार शूद्र ही हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्याश्रम के सम्बन्ध में अब तक जो और जितना भी कहा गया है, वह सभी कुछ बालकों की शिक्षा के ही विषय में है। अतः माना जाता है कि आर्ष परम्परा में, विशेषकर के मनु के धर्मशास्त्र में, स्त्रीं शिक्षा की सर्वथा उपेक्षा ही की गई थी। वर्तमान मनु स्मृति में इस सम्बन्ध में मिलने वाले दो श्लोक (एक श्लोक कुछ ही प्रतियों में मिलता है) इसी अवधारणा की पुष्टि करते प्रतीत होते हैं। कहा गया है कि स्त्रियों के लिए विवाह ही उपनयन संस्कार है, पतिसेवा ही गुरुकुल वास और वेदाध्यन है और घर का कामकाज ही सायं प्रातः का होत्र कर्म है (मनु २.६७)। अतिरिक्त श्लोक के अनुसार पत्नी द्वारा प्रतिदिन सायं प्रातः किया जाने वाला अग्नि होत्र ही उसका विहित वैदिक कर्म है— *अग्नि होत्रस्य शुश्रूषा.... कार्य पत्या प्रतिदिनं इति कर्म च वैदिकं* (वहीं २.६७)। इन दोनों से पूर्वभावी श्लोक में *'संस्कारार्थ शरीरस्य'* किए जाने वाले सभी विहित कर्मों को *'यथा कालं यथाक्रमम्' 'अमन्त्रिका तु कार्येयं..... अशेषतः'* (मनु २.६६) कहा गया है। इन तीनों श्लोकों के विपरीत कथनों को देखते हुए हमें तो प्रतीत होता है कि कभी यहां से बहुत कुछ हटाया, घटाया और छिपाया गया है।

प्रारम्भ में ही बताया जा चुका है कि मनु ने स्वयं ही अन्य वेदार्थ विरुद्ध स्मृतियों की निन्दा करते हुए, अपनी स्मृति को वेदानुकूल कहा है। अन्य शास्त्र कारों ने भी मनु की स्मृति के वेदानुकूल होने की प्रतिबद्धता के कारण ही इसे प्रामाणिक माना है। लोक में उसके सर्वमान्य होने का कारण भी यही है। परन्तु स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में उनके शास्त्र में कुछ भी न मिलना प्रत्यक्षतः ही वैदिक एवं अन्य साक्ष्यों के विरुद्ध होने से अप्रत्याशित ही है और इसका स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है।

वेदों में स्त्रियों के, यदि अधिक नहीं तो भी कम से कम पुरुषों के समकक्ष योग्यता प्राप्त किए जाने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेद में पत्नी का पति के साथ ही समान रूप से यज्ञ करते हुए, मंत्रोच्चार करने का उल्लेख हुआ है (८.३१.५,६)। इतना ही नहीं, उसी में लोपामुद्रा (१.१७६), अत्रि ऋषि की ब्रह्मवादिनी पुत्री अपाला (८.९१) घोषा काक्षीवती (१०.३९–४०), वागाम्भृणी (१०.१२३) तथा श्रद्धा कामायनी (१०.१५१) आदि मंत्रदृष्टा ऋषिकाओं के सूक्तों को भी संगृहीत किए जाने से, तत्कालीन स्त्री शिक्षा की सुदृढ़ स्थिति का पता भी चलता है। कौषीतकि ब्राह्मण में पथ्यावस्ति नाम्नी स्त्री को अध्ययन समाप्त कर लेने पर 'वाक' विशेषण से विभूषित किए जाने का उल्लेख हुआ है (म्यूर, *ओरिजिनल संस्कृत टेक्ट्स*, भाग ५:३८८)। ऐतरेय ब्राह्मण में किसी गन्धर्व गृहीता कुमारी को अग्नि होत्र के विधि विधानों पर चर्चा करते देखा जाता है (५.२६)। बृहदाण्यक उपनिषद (६.

४.१७) में पण्डिता कन्या के जन्म की इच्छा से किए जाने वाले विशेष कृत्य की चर्चा मिलती है– *य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत्* । उसी में मैत्रेयी अपने पति से मृत्यु के बाद आत्मा की गति के सम्बन्ध में जिज्ञासा करती है (२.४), गार्गी वाचकन्वी जनक के *'बहुदक्षिणा यज्ञ'* में सम्मिलित हीं नहीं होती है, याज्ञवल्क्य से प्रश्न भी पूछती है (३.६.१) । आश्वलायन श्रौत सूत्र (१.११) में पत्नी से वेद मंत्र पढ़वाने की आज्ञा से भी उसके सुशिक्षित होने की सूचना मिलती है– *वेदम् पत्न्यै वाचयेत्* । अन्य गृह्य सूत्रों के साक्ष्य (गो भिल १.६.१४–१५; खदिर १.५.१७) से भी यज्ञ में भाग लेने वाली पत्नी के सुशिक्षित होने की ही पुष्टि होती है ।

बहुत बाद तक भीं यही स्थिति बनी रही थी । पतञ्जलि ने व्याकरण महाभाष्य (४.१.१४०) में काशकृत्स्न/काशकृन्स्नि के मीमांसा शास्त्र में पारंगत स्त्रियों को *'काशकृत्स्ना ब्राह्मणी'* कहा है । और भी, उन्होंने (३.३२२) *'उपाध्याया'* और *'उपाध्यायानी'* शब्दों का उल्लेख करके, प्रथम को स्वतंत्र अध्यापिका और दूसरी को उपध्याय की पत्नी बताया है । कोशकार अमर ने भी *'उपाध्याया स्वयम् विद्योपदेशिनी'* कह कर इसी का समर्थन करते हुए ही, *'आचार्या'* और *'आचार्यानी'* का भेद बताते हुए प्रथम को *'स्वम् मन्त्र व्याख्यात्री'* और दूसरे को आचार्य की पत्नी कहा है ।

इतिहास ग्रन्थों से भी इसी स्थिति की पुष्टि होती है । वन जाने के पूर्व माता की आज्ञा लेने आए भागवान श्रीराम ने कौशल्या को मंत्रपूर्वक यज्ञ करते देखा था (वाल्मीकीय रामायण; बालकाण्ड २०.१५) । वानरराज बालि की पत्नी औरअंगद की माता तारा को *'मन्त्रविद'* कहा गया है (वही ४.६.१२) । सीता को पहचानने के लिए अन्य लक्षणों में हनुमान ने उनके सन्ध्या करने का उल्लेख किया है (सुन्दर काण्ड १५.४८) । बाल्मीकि के आश्रम में लवकुश के साथ ही पढ़ने वाली किसी आत्रेयी का उल्लेख हुआ है । इसी तरह, महाभारत में भी किसी शिवा नाम्नी स्त्री को *'वेदपारगा'* कहा गया है (म.भा;३.२२५), विदुलोपाख्यान में माता विदुला अपने पुत्र को क्षात्र धर्म का उपदेश देती हुई मिलती हैं (म.भा;५.१३४); अन्यत्र, कुमारी सुलभा जनक के यहां योग, समाधि और मोक्ष के सम्बन्ध में चर्चा करती हुई पाई जाती हैं (म.भा;१२.३२१) । भागवत पुराण में दाक्षायण की पुत्रियां धर्म और दर्शन में पारंगत कही गई हैं (४.१.६४) ।

ऋग्वेद में विश्पला (१.११२.१०) तथा मुद्गलानी (१०.१०२.२) के युद्ध में सक्रिय भाग लेने का उल्लेख हुआ है । पतञ्जलि के व्याकरण महाभाष्य में शूलधारिणी स्त्री सैनिकों के लिए विशेष शब्द *'शक्तिकी'* का होना उनकी दीर्घ परम्परा का ही सूचक है । कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में *'स्त्री गणै: धन्विभि:'* कह कर स्त्रियों की क्षात्र धर्म की शिक्षा की परम्परा की पुष्टि की है ।

मध्य काल में भी स्त्री शिक्षा की यह वैदिक परम्परा पूर्णत: उत्सन्न नहीं हो सकी थी । आचार्य शङ्कर और आचार्य मण्डन मिश्र के बीच हुए शास्त्रार्थ की मध्यस्थता करने वाली आचार्य मिश्र की पत्नी विद्योत्तमा विद्या और ज्ञान में दोनों आचार्यो से अवर नहीं ही रही होगी । भवभूति ने अपने नाटक मालती माधव में

अन्य विद्यार्थियों के साथ ही अध्ययन करने वाली किसी कामन्दकी का उल्लेख किया है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में शील भट्टारिका, देवी, विजयानका, विज्जिका,प्रभादेवी तथा अवन्ति सुन्दरी जैसी श्रेष्ठ और विदुषी कवयित्रियों का उल्लेख किया है।

स्त्री शिक्षा के इस व्यापक प्रचार–प्रसार को देखते हुए, इस विषय में मनु और उनकी स्मृति का मौन अत्यधिक ग्खर प्रतीत होता है– यह आश्चर्य जनक ही नहीं, स्पष्ट ही असंगत भी ह। विसंगति की इस समस्या का हमारी समझ में एक ही समाधान सम्भव है– मध्य काल में होने वाले विधर्मियों के आक्रमण से उत्पन्न असुरक्षा की वह स्थिति जब कन्या गुरुकुलों का अस्तित्व असम्भव हो उठा था और तभी लोक में मनुस्मृति की मान्यता को देखते हुए ही, उसमें से इस विषय की सभी व्यवस्थाओं को मिटा डाला गया हो और अनुवर्ती शास्त्र कारों और निबन्धकारों ने भी इसी समयोचित व्यवस्था का अनुसरण किया है। ऊपर उद्धृत वेदादि सभी ग्रन्थ शास्त्र ग्रन्थ नहीं है, अतः उनके उल्लेखों से स्त्री शिक्षा का अस्तित्व प्रमाणित हो जाने पर भी, उसका स्वरूप और प्रक्रिया स्पष्ट नहीं हो पाती है। पर सौभाग्य से संग्रह ग्रन्थों और भाष्यों में सुरक्षित एक उद्धरण से इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। पं० मित्र मिश्र के 'वीरमित्रोदय' के 'स्त्रुपनयन प्रकरण' (४०२–०५) तथा 'पाराशर संहिता 'की माधवीया वृति (भाग १,खण्ड २:८२–८४) में हारीत ओर यम का एक वचन उद्धृत है–

पुराकल्पे तु नारीणां मौज्जीबन्धमिष्यते,
अध्यापनम् तु वेदानां सावित्री वाचनम् तथा।।
पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनमध्यापयेत् परः
स्वगृहे चैव कन्याया भैक्षचर्या विघीयते।।

अर्थात्, 'पुराकाल में स्त्रियों का मौञ्जीबन्धन–उपनयन संस्कार होता था ओर वे वेदों और सावित्री का अध्ययन करती थीं। इन्हें पिता, पितृव्य या भाई पढ़ाते थे, न कि कोई दूसरा। कन्याओं को स्वगृह में ही भैक्षचर्या विहित कही गई है'। हमें तो इसमें भी पूर्व कालिक स्थितियों पर परवर्ती मान्यताओं का आरोपण ही स्पष्ट दिखाई देता है। पहले श्लोक में जहां स्पष्ट ही पुरातन परम्परागत स्थिति का वर्णन हुआ है, वही अगले श्लोक में मध्यकालीन बदली हुई परिस्थिति की छवि भी उभर आई प्रतीत होती है।

जो कुछ भी हो, चार ,तीन, दो और न्यूनातिन्यून एक वेद का अध्ययन समाप्त करके– *वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्* (मनु ३.२), गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का विधान था। इस आश्रम में प्रवेश का अर्थ था विवाह और इसके लिए *'गुरुणानुमतः..... उद्ववहेत द्विजो भार्या सवर्णा लक्षणान्विताम्'* (वही ३.४) गुरुजनों की अनुमति से शुभलक्षणों से युक्त सवर्ण कन्या से विवाह करना आवश्यक था। यहां विवाह को संस्कारों में स्थान देने से सामाजिक संगठन में इसके महत्व को रेखांकित करने का प्रयास ही किया गया है। वेद में कहा गया है कि प्रारम्भ

में प्रजापति अकेला ही था और उसे आनन्द नहीं आया। उसने किसी दूसरे की कामना की—*स (प्रजापतिः) नैवरेमे,तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्;* उसने अपने शरीर के दो भाग कर दिए जिससे पति और पत्नी हुए। उसने उससे सहवास किया और इस प्रकार मनुष्य उत्पन्न हुए थे— *सऽइममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्। यत पतिश्च पत्नी समभवता तां समभवत्ततो मनुष्या आजयन्त* (श.ब्रा. १४.२.२४—५)। यही उसका *'एकोऽहम् बहुस्याम्'* 'मै अकेला हूं, बहुत हो जाऊं' है। इसी लिए कहा गया है कि 'जब तक पति पत्नी नहीं प्राप्त कर लेता है, वह अधूरा ही रहता हे और जब तक सन्तान की प्राप्ति नहीं हो जाती है, उसे पूर्णता नहीं मिल पाती है' —*अर्धो ह वा एष आत्मनस्तस्माद्यज्जायां न विन्दते नैतावत्प्रजायते असर्वो हि तावद भवति, अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति* (कुल्लूक द्वारा ६.५ की टीका में वाजसनेय ब्राह्मण से उद्धृत) ओर पत्नी और सन्तान पाकर ही वह पूर्ण पुरुष कहलाने का अधिकारी हो पाता है। इसी वैदिक मान्यता को दुहराते हुए ही मनु ने कहा है कि अकेला नहीं, वरन् पत्नी और सन्तान के साथ ही मनुष्य पूर्ण होता है। जो पुरुष है, वही जाया भी है, दोनों का व्यक्तित्व एक पूर्ण के दो भाग हैं, उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है— *यो भर्ता सा स्मृताङ्गना* (मनु ६.४५)।'अङ्गना' शब्द भी पुरुष के अंगों से हुई स्त्री की उत्पत्ति को ही सूचित करता है (अरुण कुमार १९९६.६७—११३)

प्रथम उद्धरण के मन्तव्य का अनुसरण करते हुए मनु ने और भी कहा है कि स्त्रियों की सृष्टि मानवी सन्तान को उत्पन्न करने के लिए ही हुई है, अतः साधारण धर्म का निर्वाह उसी के साथ किया जाना ही श्रुति सम्मत है— *प्रजनार्थ स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थ च मानवाः। तस्मात्साधरणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः* (मनु ६.९६)। लौकिक दृष्टि से भी सन्तान की उत्पत्ति, पालन पोषण और दैनिक जीवन चर्या पत्नी पर ही आश्रित होती है— *प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम्*(वही ६.२७)। पुत्रादि, धर्मकार्य, सेवा, रति सुख, अपना और गुरुजनों की समस्त सुख—सुविधाएं, सभी कुछ पत्नी के माध्यम से ही फलीभूत होता है— *अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा, दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च* (वही ६.२८)। यह भी तभी सम्भव हो सकता है जब पत्नी पुरुष के प्रति एकान्तिक रूप से समर्पित हो, अतः उसके पतिव्रत का पालन करने परबल दिया गया है (वही २९—३०)। महाभारत में ऐसी ही भार्या के कारण ही पुरुष का *'क्रियावन्तः'* और *'श्रियान्वित'* होना कहकर, उसे ही पति की *'श्रेष्ठतमः सखा'* बताया गया है (म. भा;१.१७४.४०—४२)

ब्रह्मचर्य और पातिव्रत के सम्बन्ध में ईसाई सम्प्रदाय के नकारात्मक और एकांगी दृष्टिकोण के कारण और आज के उन्मुक्त यौनाचार के वातावरण में पले—बढ़े पाश्चात्य विचारकों— अध्येताओं ने पत्नी के सम्बन्ध में *'अक्षतयोनि'* होने की अपेक्षा को 'पुरुष के अहंकार की तुष्टि—पुष्टि' का साधन और 'एकाधिकार के सिद्धान्त का विस्तार' मानते हुए ही, उसकी हीन सामाजिक स्थिति के लिए उत्तरदायी मानकर, भारतीय आर्षपरम्परा की तीखी आलोचना की है (डब्ल्यू. जी.

समर, *फोकवेज,* न्यूयार्क १६०६:३५८—५६: प्रभु १६७६:१५३—१५४)। यहाँ स्मरण रखना होगा कि 'स्त्री ही विशुद्धि का मूल स्त्रोत है। पुरुष जब पतित होता है तो अकेला ही होता है। पर स्त्री जब गिरती है, तो अपनी समूची सृष्टि को लेकर गिरती है' (क.मा.मुंशी, *भगवान परशुराम,* १६५१:३६०) और फिर घर और समाज विखर जाता है। फिर ये आलोचक भूल जाते है अथवा आलोचना करने के उत्साह में स्मरण नहीं रखना चाहते कि कौमार्य की अपेक्षा सर्वथा एकांगी नहीं थी; पुरुष के लिए भी '*अविलुप्त ब्रह्मचर्य*' (मनु ३.२) उतना ही अनिवार्य था जितना कि स्त्री के लिए। ऐसी आलोचना सर्वथा निराधार ही नहीं, पूर्वाग्रह पूर्ण और अतिमान ग्रस्त भी है।

वर्तमान मनु स्मृति के अनुसार 'गृहस्थ धर्म का लोप न चाहता हुआ तीस वर्ष का पुरुष शीघ्र ही बारह वर्ष की हृद्य कन्या से अथवा चौबीस वर्ष का पुरुष आठ वर्ष की कन्या से विवाह कर ले' (मनु ६.६४)। टीकाकार मेघातिथि और कुल्लूक ने इसे '*एतच्च योग्यकाल प्रदर्शनपरं न तु नियमार्थम्*' कह कर विधिवाक्य न मानकर, केवल प्रदर्शन परक सुझाव ही माना है। महाभारत में एक स्थान पर भीष्म के मुख से कन्या की वयस घटा कर क्रमशः दस और सात वर्ष कहलवाई गई हैं (अनुशासनपर्व ४४.१४)। परन्तु अन्यत्र, मनुस्मृति में ही लगभग तेरहवें वर्ष में होने वाले रजोदर्शन के तीन वर्ष बाद ही विवाह करने की अनुमति देकर—*त्रीणिवर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृ तुमतीसती, ऊर्ध्व कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्* (वही ६.६०) उपरोक्त वचन का खण्डन कर दिया है।

आर्ष परम्परा प्रसूत गृह्य सूत्रों में विवाह योग्य कन्याको '*नग्निका*' (गोभिल ३.४.६;मानव १.७;हिरण्यकेशिन्१.१.६.२;वैखानस ३.२१ इत्यादि) कहा गया है। इस पारिभाषिक शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार मातृदत्त ने '*तस्माद् वस्त्र विक्षेपणार्हा नग्निका मैथुनार्हा इति अर्थः*' अर्थात् वस्त्र उतार कर रुचि पूर्वक मैथुन कर्म में प्रवृत्त होने योग्य कन्या को नग्निका माना है। महाभारत में भी नग्निका को सोलह वर्षीया कन्या कहा गया है। गृह्य सूत्रों में ही विवाह की चौथी रात्रि में सहवास की अनुमति दिए जाने से भी इसी अर्थ की ही पुष्टि होती है। पर ये सभी वचन विधानकारों के हैं और इन वचनों को घटाया, बढ़ाया अथवा परिवर्तित भी किया जा सकता है। अतः वस्तु स्थिति जानने के लिए हमें वेद, विज्ञान और इतिहास का ही आश्रय लेना होगा।

आयुर्वेदीय सुश्रुतसंहिता में कहा गया है कि सोलह से कम वयस की कन्या और पच्चीस वर्ष से कम वयस के पुरुष के सहयोग से स्थापित गर्भ '*विपाद्यते*'—गिर जाता है, अतः *अत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्*—अत्यन्त अल्पवयस की कन्या में गर्भाधान नहीं करना चाहिए (शा. स्था. १०.४७—४८; स्वामी दयानन्द सरस्वती १६७०:४.८८ में उद्धृत)। वेद में कन्याओं के भी ब्रह्मचर्या करने का उल्लेख हुआ है। इसके उपरान्त ही वे युवा पति प्राप्त कर सकती थीं—*ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्* (अथर्व ११.३.१८)। अनेक मंत्रों में वधू के '*युवतयो*......

मर्मृज्यमाना: (ऋ.२.३५.४); *'नारी.... देवी:'* (वही २.३५.५), *'इषिराम्'* (वही ५.३७. ३), *'विदुषीव'* (वही ५.४१.७) आदि विशेषणों से उसका युवती ही नहीं, पूर्ण यौवना होना भी सूचित होता है। यह स्वीकार करने के बाद भी कि बालकों की अपेक्षा, कन्याओं का शारीरिक और भावनात्मक विकास अधिक तीव्र गति से होता है, उसके विदुषी और देवी होने के लिए सोलह वर्ष की वयस अत्यधिक कम प्रतीत होती है। फिर विवाह संस्कार में प्रयुक्त हाने वाले मंत्रों में भी उसके *'सुमना:सुवर्चा:'* (ऋ. १०.८५.४४), *'या न ऊरू उशती विश्रायते'* (वही ३७;देखें पारस्कर गृ.सू. १. ४.१६) तथा श्वशुर, श्वश्रव, ननान्द आदि की साम्राज्ञी हाने का आशीर्वाद अल्पवयस की बालिका की अपेक्षा पूर्णयौवना युवती के लिए ही अधिक समीचीन प्रतीत होता हैं। यम–यमी संवाद सूक्त में *'तन्वा में सं पिपृग्धि'* (ऋ. १०.१०.११) की कामना करने वाली तथा दाम्पत्य को रथ और पति–पत्नी को उसके दो चक्र–*जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां विचिद्व हेव रथ्येव चक्रा* (वही १) कह सकने की समझ रखने वाली को 'नग्निका' नहीं, वरन् पूर्ण यौवना ही होना चाहिए।

रामायण, महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों की सीता,सत्यवती,अम्बा, अम्बालिका, कुन्ती, द्रौपदी, रुक्मिणी, सत्यभामा आदि सभी पूर्ण यौवना ही थीं, नग्निका अथवा उससे छोटी नहीं। ईस्वी पूर्व ३२६ में आए यवन राज दूत मेगस्थिनीज के विवरण के आधार पर डियोडोरस सिकुलस ने बताया है कि पहले युवक युवतियां यौवन प्राप्त कर चुकने पर स्वेच्छा से विवाह किया करते थे(मजूमदार १९६०:२४०) परन्तु एरियन का कहना है कि अब सात वर्ष की वयस में ही कन्या विवाह योग्य मान ली जाती है (वही २२२)। सात का यह अंक वरबस ही महाभारत के पूर्व–उद्धृत प्रमाण का स्मरण दिला देता है। पर उस काल में, जैसा कि पार्जिटर (१९२२:१४४–१४६) तथा मेगस्थिनीज से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर एरियन (मजूमदार १९६०:२२३), प्लिनी (वही ३४०) तथा सेलिनस (वही ४५७) द्वारा दी गई क्रमश: राजाओं की सूची और संख्या की एकरूपता से सिद्ध होता है, पुराण अपना वर्तमान स्वरूप ग्रहण कर चुके थे और विदेशी दस्युओं के आक्रमण भी प्रारम्भ हो चुके थे। आचार्य पाणिनि, जिसकी अवर काल सीमा ईस्वी पूर्व ४५० (अग्रवाल १९५५:४६७–४८०) से नीचे नहीं लाई जा सकती है और जो, पं. युधिष्ठिर मीमांसक के (१९८४: १९३ और आगे) के अतिरिक्त भी, वस्तुत: इससे बहुत प्राचीन हैं (राय १९७६:११७–४४; शर्मा १९८१:२९२–९०;शास्त्री १९७६; १४७–४८; सेठना १९८६:३४३–४५), ने वाहीक–पंचनद प्रदेश में विशेष प्रकार के कुओं के लिए *'शकन्धु'* और *'कर्कन्धु'* जैसी विशेष संज्ञाओं के प्रयोग का उल्लेख किया है। इन नामों के प्रचलित होकर व्याकरण में आने में कुछ समय तो लगा ही होगा। पुराणों के अनुसार इक्ष्वाकु नरेश सगर ने इन्हें पराजित और मुण्डित करा करके, देश की सीमाओं से बाहर निकाल दिया था (पार्जिटर १९२२.२०६, २७०)।

यदि वैदिक व्यवहार के अनुसार विवाह के समय कन्या का पूर्ण यौवना –न्यनतिन्यून २०–२४ वर्ष की वयस की–होने की पुष्टि होती है, तो पुरुष का

वयस भी ४८ वर्ष से कम का न रहा होगा। *'अष्टाचत्वारिंशद्वर्ष सर्ववेद ब्रह्मचर्य'* (गो.ब्रा;२.५; आप.घ.सू १.१.२) तथा वेद के वचन कि 'सौ वर्ष की वयस में ही पुत्र पिता बन पाते हैं'—*शतमिन्नु पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति* (ऋ १.२६.६) से यही सिद्ध होता है। मेगस्थिनीज ने भी १०—११ वर्ष से प्रारम्भ करके ३७ वर्षों की अध्ययन अवधि का उल्लेख (मजूमदार १६६०:२७३—४) करके इसी की पुष्टि की है। अतः यह मानना ही होगा कि इन आक्रमणों से उत्पन्न आपातकालीन स्थिति और अस्थिरता को देखते हुए ही कन्या गुरुकुलों को बन्द करे, विवाह की वयस को नीचे लाया गया होगा। एकाएक ही उत्पन्न हो गई इस स्थिति में, शीघ्रता के कारण, दोनों की वयस का अनुपात तो वही रखा गया था, परन्तु अनवधानता में, आयुर्वेद के वैज्ञानिक नियम की उपेक्षा हो गई थी और 'गणित तो ठीक, परन्तु कुनबा डूबा क्यों' का शाश्वत प्रश्न उत्पन्न हो गया था। तभी तो टीकाकारों को इसे विधि वाक्य न मान कर, *'प्रदर्शन परः'* कहना पड़ा था।

यहां यह जानना रोचक होगा कि पाश्चात्य समाज शास्त्री भी अब कन्या के विवाह के लिए २०—२४ वर्ष की वयस को उपयुक्त मानने लग गए हैं, वहीं अधिक आयु में विवाह को, स्त्रिओं की प्रजनन क्षमता के क्रमशः घटते जाने से, सन्तानोत्पत्ति में बाधक भी मानने लगे हैं (*रीडर्स डाइजेस्ट*, ११:१६६५:६६—६)। उनके अनुसार इस वयस तक विवाह हो जाने पर, अधिक समय तक कुमारी रहने के कारण उत्पन्न होने वाले शारीरिक दोषों और मानसिक तनावों से मुक्ति ही नहीं मिल जाती है, अपितु कन्या का अंग सौष्ठव और लालित्य तथा आकषर्ण अक्षुण्ण रहने से, वरणोत्सुक वरों का भी अभाव नहीं हो पाता है (पाल पोपनोय, *मार्डन मैरेज*, न्यूयार्क १६४१:१०—१४)

विवाह का आदेश देने वाले श्लोक में सर्व प्रथम गुरुजनों की अनुमति—*गुरुणानुमतः* (३.४) को आवश्यक कहा गया है। जैसा कि आगे बताया जाएगा, आर्ष परम्परा में प्रेम—गान्धर्व—विवाहों को स्वीकृति प्रदान कर देने के बाद भी, कुछ अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। जहां ऐसे विवाह ही एकमात्र वैवाहिक विधि के रूप में मान्य हों, वहां के समाजशास्त्री भी अब उनकी उपादेयता पर सन्देह व्यक्त करने लग गए हैं। यद्यपि ऐसे विवाहों में आत्माभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तो होती है और दाम्पत्य के प्रारम्भिक वर्षों में रोमांच कुछ अधिक भी हो सकता है, पानुन्जियों ने ऐसे सम्बन्धों में अंग्रेजी की उक्ति 'to fall in love' का शब्दशः सत्य होना ही अधिक माना है। उनके अनुसार, इनमें वास्तविक वरण न होकर, कामासक्त हुए दो व्यक्तियों का 'पतन' ही होता है। उस समय का आकर्षण विचाराश्रित न होकर, मात्र देह और भाव प्रधान ही होता है और उसके प्रभाव में गढ़ी गई प्रेम—पात्र की कल्पनाप्रसूत पूर्णता की मूर्ति शीघ्र ही जीवन की वास्तविकता की चट्टानों सें टकरा—टकरा कर चूर्ण—चूर्ण हो जाती है, और विवाह, सामञ्जस्य स्थापित करने की निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया की किसी तय्यारी के अभाव में, अपना प्रारम्भिक आकर्षण खो बैठता है (पी. पानुन्जियों, *मेजर सोशल*

इन्टीच्यूशन्स, न्यूयार्क १९३६:१८०;प्रभु १९७६:१८५–८)। बर्जेस के अनुसार, कामासक्ति से उपजे प्रेम की अपेक्षा सहचार साधते हुए, एक दूसरे के गुणों का साक्षात्कार करके, 'धीरे धीरे प्रस्फुटित होने वाला प्रेम अधिक प्रगाढ़ और स्थाई होता है (आई.डब्ल्यू. वर्जेस, *मैरेज एण्ड फेमिली लिविंग*, न्यूयार्क १९४६:८४–८५; प्रभु १९७६:१८९)। अतः गुरुजनों की अनुमति की आवश्यकता समझ में आने लगती है।

उसी श्लोक में बताई गई दूसरी आवश्यकता है कन्या का **'सवर्णा'** होना। आज की परिस्थितियों में सामान्यतः वर्ण को भ्रम वश व्यवसायाश्रित जाति का समानार्थक मान लिया जाता है और फिर प्रेम से मनु और उनके विधान को कोसना प्रराम्भ कर दिया जाता है। परन्तु हमारे विचार में, जैसा कि अनेक प्रसंगों में ऊपर स्पष्ट किया जाता रहा है, वर्ण व्यक्ति के गुण, कर्म और स्वभाव संस्कार के आधार पर उसकी विद्या, ज्ञान और आचरण के अनुरूप ही निर्धारित किया जाने वाला एक सैद्धान्तिक वर्गीकरण है, जबकि आज की जातियां व्यवसाय के पिता–पुत्र की परम्परा में रूढ़ हो जाने की परिणति हैं। अतः सवर्ण कहे जाने का अर्थ मात्र गुण, विद्या, स्वभाव, संस्कार, आचरण और रुचि की समानता और तत्प्रसूत सामाजिक और आर्थिक स्थिति के अतिरिक्त कुछ और नहीं है।

आज वर्ण व्यवस्था को कोसने वाले, अन्तर जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करके मनु द्वारा आरोपित मान ली गई व्यवस्था को समाप्त कराना चाहते हैं। इस खण्डन और मण्डन के बीच, सभी को सोचना होगा कि क्या घर में व्यापार अथवा सैनिक प्रवृत्तियों की चर्चा के बीच पली बढ़ी युवती या युवक अध्ययन शील युवक या युवती के साथ सामञ्जस्य स्थापित करके साहचर्य साध सकेंगे? क्या उत्कोच के धन से समृद्ध हुए परिवार की युवती या युवक सात्त्विक वृत्ति से जीवनयापन करने वाले कुल के युवक या युवती के साथ सुखी हो सकेंगे? इन स्थितियों में भी निर्वाह हो जाता है, तो मानना ही पड़ेगा कि कहीं न कहीं दोनों में गुण,कर्म और स्वभाव की समानता थी और व्यवसाय भिन्न होते हुए भी दोनों के 'वर्ण' एक ही हैं। मनु स्मृति में ही अन्यत्र (९.२२–२४) अनेक उदाहरणों से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि अनेक निकृष्ट जन्मा कन्याएं भी ऋषियों के सम्पर्क में आकर उत्कृष्ट हो गईं थीं। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि अच्छे और बुरे, सत्य और मिथ्या, मधुर और कटु, अमृत और विष का संयोग होने पर सर्वदा ही हानि अच्छे, सत्य, मधुर और अमृत की ही होती है अथवा एक गिर कर और दूसरा उठ कर, दोनों एक ही धरातल पर स्थापित हो जाते हैं। इसीलिए आत्मोन्नति चाहने वालों को अपने से उत्कृष्ट से ही सम्बन्ध रखने का आदेश किया गया है– *उत्कृष्टैः सम्बन्धः कार्यो न हीनैः* (मनु ४.२४४)। सम्भवतः इसीप्रकार के किसी सुधार की सम्भावना को ध्यान में रख कर ही (अपने समान कुल ही कन्या के लिए अवांछित अर्थात् हीन गुणों वाले) पुरुष के लिए –*समादेयानि सर्वतः* (मनु २.२४०) कहीं से यहां तक कि हीन कुल से भी –*दुष्कुलादपि* (वही

२.२३८) उत्कृष्ट गुणों वाले 'स्त्री रत्न' को ले लेने की आज्ञा दे दी गई है। अब तो पाश्चात्य समाज शास्त्री भी सुखी दाम्पत्य के लिए समान सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक–व्यावसायिक परिवेश और श्रेष्ठ शिक्षा के साथ ही उनके माता–पिता की भी ऐसी ही सामाजिक पृष्ठभूमि के महत्व को स्वीकार करने लग गए हैं (आई. डब्ल्यू. वर्जेस. *मैरेज एण्ड फेमिली लिविंग,* न्यूर्याक १६४६:८४–८५;प्रभु १६७६:१८६)। अतः मनु और उनके उपजीव्य वेद में प्रतिपादित वर्ण का आधार, नाम कुछ भी क्यों न दिया जाए,सर्वथा सुरक्षित रहता हैं। अतः उन्हें और उनके विधान को न कोस कर, केवल रूढ़ हो चुके व्यावसायिक सम्बन्धों के आधार पर विकसित हुई, इस जाति प्रथा के उत्पन्न होने के कारणों को समझ कर, उन्हें हटाते हुए ही परिवर्तन लाना होगा और यही होना भी चाहिए। परन्तु सामाजिक न्याय के तथाकथित पक्षधर क्या ऐसा कर सकेंगे या फिर ऐसा करना चाहते हैं? अभी तो वैयाक्तिक स्वार्थ सिद्धि के लिए और सत्ता पाने की लालसा में व्यावसायिक जातियों की धीरे–धीरे टूटती श्रृंखला और मिटती असमानता को पुनरुर्ज्जीवित ही नहीं, और भी अधिक उभार कर, ये हिन्दू समाज की समरसता को भंग करने के लिए ही प्रयत्नशील दिखाई दे रहे हैं।

वर्ण के इसी अर्थ को स्वीकार करते हुए ही,मनु ने अपने विधान में द्विज अर्थात् सुशिक्षित व्यक्ति के लिए सवर्णा से विवाह को ही प्रशस्त कहा है। कामाभिभूत होकर निर्गुणी– शूद्रा–स्त्री से विवाह करने पर कुल और सन्तति शीघ्र ही विद्याहीन होकर शूद्रभाव को प्राप्त हो जाते हैं– *हीन जाति स्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः, कुलान्येव नयन्त्याशु ससंतानानि शूद्रताम्* (मनु ३.१५)। तैरने वाले जानते हैं कि व्यक्ति जितनी ऊंचाई से गिरता है, उतना ही नीचे भी जाता है अथवा चोट पाता है। उससे यौन सम्बन्ध रखने पर अधोगति प्राप्त होती है और पुत्र उत्पन्न कर लेने पर तो वह ब्राह्मणत्व ही खो देता है– *शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्। जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव तु हीयते* (मनु ३.१७)। अमरीका की ख्यात नामा चिन्तक और विचारक श्रीमती ऐन राण्ड ने लिखा है कि 'व्यक्ति के यौन आकर्षण की पात्र के परिचय से उसके समस्त जीवन दर्शन का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। वह सदा ही उसी के प्रति आकर्षित होता है जो उसकी गहनतम वृत्तियों को प्रतिफलित कर करने में सक्षम होती है और जिसके सम्पर्क में उसके आत्मगौरव की पुष्टि हो सकती है। यौनाचार में कुछ पाने की अपेक्षा, आत्माभिव्याक्ति की इच्छा ही अधिक मुखर होती है, न कि उसके मन और तन के द्वन्दों की। देह तो उसके गहनतम मूल्यों के प्रति उसके समर्पण की मात्रा से ही संचालित होता है'। और भी, 'आत्महीनता से दंशित व्यक्ति उसी के प्रति आकर्षित होता है जिससे वह अपने अन्तर्मन में घृणा करता है और जिसके सान्निध्य में उसे अपनी हीन भावना से मुक्ति मिलकर, अपने आत्मगौरव के भ्रम की पुष्टि होती है..... कामासक्त होकर, स्त्रियों के पीछे भागने वाले आत्मगौरव हीन व्यक्ति होते हैं' (*एटलस श्रग्ड* ४६०–६१)।

निकट के रक्त संबधियों में विवाह होने के फलस्वरूप, उत्पन्न होने वाली

सन्तान धीरे–धीरे हीन गुण वाली होती जाती है और दीर्घ काल तक ऐसा होते रहने पर, उनकी रोग प्रतिरोधक क्षमता क्षीण होकर, सन्तति के रोगी और विकलांग होने की सम्भावना प्रबल हो जाती है। मिस्र के फैरोआ राजपरिवारों में सहोदर भाई बहनों के विवाह की दीर्घकालीन परम्परा के कारण ही उनका अवसान होना आज का स्वीकृत सिद्धान्त है। आनुवंशिकी के इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर ही, मनु ने अपनी स्मृति में माता की असपिण्ड और पिता की असमान गोत्रजा कन्या से ही विवाह को प्रशस्त माना है– *असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः* (३.५)। साधारणतया इससे माता की पांच पीढ़ियों तक और पिता की सात पीढ़ियों तक रक्त का सीधा सम्बन्ध न होना ही समझा जाता है (विष्णु ध.सू. २४.१०;वसिष्ठ ध.सू.८.२;गौतम ध. सू. ४.३–५)।

वर्ण और गोत्र के बाद, कुलों की चर्चा करते हुए मनु ने कहा है कि धर्म–कर्तव्य–से हीन, पुरुषों अथवा सत् पुरुषों से रहित, वेद विद्या से विमुख, अत्यधिक लोमश और अर्श,क्षय, मंदाग्नि, अपस्मार और कुष्ठ और चित्र कुष्ठादि आनुवंशिक रोगों से पीड़ित परिवारों की, उनके अतुल सम्पत्ति के स्वामी होने पर (अधिक दहेज मिलने के लोभ में) भी, कन्या का वरण नहीं करना चाहिए–*महान्त्यपि समृद्धानि...... स्त्री सम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्* (मनु ३.६–७)

इसके अनन्तर स्वयं **कन्या के काम्य लक्षणों** का परिगणन करते हुए कहा गया है कि रक्ताल्पता से पीड़ित, अन्य कठिन रोगों से ग्रस्त, अत्यधिक अथवा अत्यल्प केशों और रोम वाली, अधिक अथवा हीन अंगों वाली, अति स्थूल या कृश, अति दीर्घ या फिर वामन, पिंगलाक्षी, (अपने से) अधिक वयस वाली, नक्षत्र, नदी कुलपर्वत, पक्षी, सर्प, दास्य भाव सूचक आदि नामों, जिनके पुकारने में भी भय, शंका, जगुप्सा अथवा लज्जा का अनुभव हो, वाली तथा अधिक वाचाल अथवा कलह प्रिया कन्या का त्याग कर देना चाहिए (मनु ३.८–९)। कोमल अंगों वाली, पतले केशों तथा छोटे दांतो वाली तथा *'हंस वारणगामिनीम्'* सुन्दर कन्या ही विवाह के लिए उपयुक्त कही गई है (वही १०)। इसी प्रकार, सन्तान के 'गोद' चले जाने अथवा 'घरजमाई' बना लिए जाने के भय से, भ्रातृहीना कन्या अथवा ऐसी कन्या जिसके पिता का परिचय अज्ञात हो, अर्थात् जो व्यभिचार की सन्तान हो, का भी परित्याग कर देना भी उचित है– *यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायते वा पिता* (३.११)। यहां यह जानना रोचक होगा कि वात्स्यायन मुनि ने भी 'कामसूत्र' में लगभग इन्हीं लक्षणों का निषेध करते हुए ही, वरणोत्सुक अभ्यागतों के आने पर सोती हुई, रोती हुई अथवा घूमने वाली तथा प्रेम–प्रसंगों के कारण भाग जाने की आशंका से घर में अवरुद्ध 'गुप्ता'–कन्या के साथ ही, भविष्य में उत्पन्न होने वाले प्रेम त्रिकोण की सम्भावना को देखते हुए ही, उस कन्या का भी निषेध किया है जिसकी छोटी बहिन उससे अधिक सुन्दर हो (३.१.११.१२)।

अतिदेश से, वर–वरण मेंभी इसी प्रकार के गुणों का ध्यान रखा जाना आवश्यक कहा गया है– *एतैरेवगुणैर्युक्तः* (याज्ञवल्क्य स्मृति १.५४)। आश्वलायन

गृह्य सूत्र में कन्या के लिए *'बुद्धि रूप शील लक्षण सम्पन्नामरोगाम् उपयच्छेत'* कह कर, वर के लिए भी बुद्धि को आवश्यक गुण कहा गया है — *बुद्धिमते कन्या प्रयच्छेत्* (१.५.२)। याज्ञवल्क्य ने तो *'यत्नात् परीक्षेत पुंसत्वे'* भी कहा है। इस अन्तिम तथ्य को ध्यान में रखते हुए, हमें तो एसा प्रतीत होता है कि फलित ज्योतिष के अनुसार विवाह के पूर्व जन्मपत्रिका का मिलान करते समय जिस वर्ण, योनि, गण और नाड़ी आदि का विचार किया जाता है, उसका वास्तविक रूप कुछ और ही था— 'वर्ण' तो स्पष्ट है, किन्तु 'योनि' से लोमश आदि शरीर के बाह्य लक्षण, 'गण' से मित्रवर्ग— तुलना करें— man is known by the company he keeps, तथा 'नाड़ी' से शरीर के अभ्यान्तर गुण—दोषों की परीक्षा हीकी जाती थी। इसी सम्बन्ध में कहा गया है कि यदि उत्कृष्ट, सुन्दर, गुणी और कर्म में समान वर मिल रहा हो तो, समय से पहले भी कन्यादान करने में संकोच नहीं करना चाहिए (मनु ६.८८)। परन्तु चाहे कन्या को आजन्म अविवाहित रह कर, घर में ही रखना पड़े, उसे कभी गुणहीन व्यक्ति को नहीं विवाह (वही ६.८६) देना चाहिए।

वैदिक मान्यता को दुहराते हुए ही, मनु ने कहा है कि कन्या का विवाह—कन्यादान एक बार ही होता है (६.४७) और किसी भी प्रकार पति पत्नी विलग नहीं किए जा सकते हैं— *न भर्तुभार्या विमुच्यते* (६.४६)। साध्वी पत्नियों का दूसरा पति विहित नहीं है (५.१६२) और न्यून गुणों वाले पति को छोड़ कर, श्रेष्ठगुणों वाले का भी सेवन करने वाली स्त्री निन्दा का पात्र होती है (५.१६३)। दोनों को ही आजन्म एक दूसरे के प्रति समर्पित रहने का उपदेश दिया गया है और कहा है कि यदि कभी अलग भी रहना पड़े, तो भी एक दूसरे को धोखा नहीं देना चाहिए— *नाभिचरेतां तौ विमुक्तावतरेतरम्* (६.१०१—१०२)। पति के जीवित रहते हुए उसकी सेवा करनी चाहिए और उसकी मृत्यु हो जाने पर न विवाह ही करना चाहिए और न व्यभिचार ही—*न च लंघयेत्* (५.१५१)। परन्तु समाज में सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं और विविध गुण कर्म स्वभाव वालों में सभी का केवल आदर्शों से निर्वाह करना कठिन होता है, अतः मनु ने व्यवहारिक विधायक की तरह ही विकल्प भी सुझाए हैं।

भार्या शब्द में ही पति द्वारा भरण पोषण का भाव निहित है। अतः प्रवास के लिए जाते समय पति को पत्नी के भरण —पोषण की समुचित व्यवस्था करके ही जाना चाहिए (६.७४) और किन्हीं अनिवार्य परिस्थितियों में, पत्नी को केवल अनिन्दित कार्यों से ही—*जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः* (६.७५) निर्वाह करना चाहिए। धर्म—कर्तव्य निर्वाह के लिए विदेश गए हुए पति की आठ वर्षों, विद्या और यश के लिए गए हुए की छह वर्षों और जीविका कार्य से गए हुए की तीन वर्षों तक प्रतीक्षा कर लेने बाद, स्त्री को (पुनर्विवाह के लिए?) स्वतंत्र हो जाने की आज्ञा दे दी गई है (६.७६)।

इसी प्रकार, मना किए जाने पर भी उत्सव आदि के अवसरों पर मद्यपान

करने वाली—*मद्यमभ्युदयेष्वपि*, तथा मेलों—ठेलों में जाने वाली—*प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा* (६.८४) स्त्रियों को पति द्वारा दण्ड दिया जाना भी स्वीकार किया गया है। उन्मत्त, कुष्ठी और व्यभिचारिणी कन्या के दोषों को छिपाकर विवाह कराए जाने के दोषी अभिभावकों को राज दण्ड की व्यवस्था के बाद भी (८.२०५), ऐसी स्त्रियों को एक वर्ष तक देखने के बाद, वस्त्राभूषण आदि लेकर—*दायं हृत्वा*, अलग कर देने — *न संवसेत्* (६.७७) और अन्ततः परित्याग कर देने (६.७८) और दूसरा विवाह कर लेने का विधान भी किया गया है (६.८०)। ऐसी स्त्री, दूसरा विवाह कर लेने पर, यदि घर छोड़ कर जाना चाहे तो उसे चाहे तो रोक रखे अथवा बन्धु बान्धवों की अनुमति से जाने दिया जा सकता है (६.८३)। परन्तु मारपीट करने वाली तथा धन नाश करने वाली— *हिंस्त्रतार्थध्नी* (६.८०) तथा कटु भाषिणी और कलह प्रिया के होते हुए भी तत्काल दूसरा विवाह कर लेने की आज्ञा दी गई है (६.८१)। परन्तु यदि वह कटुता और द्वेषपूर्ण व्यवहार पति के उन्मत्त, पतित, नपुंसक,हीनवीर्य होने अथवा अन्य पाप रोगों के कारण हो तो, उसे न तो त्यागा ही जाना चाहिए और न ही धन का हरण किया जाना चाहिए (६.७६)।

इसी प्रकार पत्नी के वन्ध्या होने पर आठ वर्ष और सदा ही जीवित न रहने वाली सन्तान को जन्म देते रहने पर दस वर्षों की प्रतीक्षा के बाद दूसरा विवाह कर लेने की अनुमति दी गई है (६.८१)। परन्तु रोगिणी स्त्री यदि पति की हितचिन्तक, कल्याणकारिणी हो तो दूसरा विवाह करने से पूर्व उसकी अनुमति आवश्यक कही गई है और बाद में उसे कभी अपमानित न होने देना चाहिए (६.८२) अर्थात् उसकी वरिष्ठता बनाए रखना चाहिए। दूसरा विवाह करने पर यदि कोई पत्नी हीन वर्णा हो तो, निजी सेवा और धर्म—कर्तव्य—कार्यों में — *भर्तुः शरीर शुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यकम्* (६.८६) सवर्णा पत्नी का अधिकार अक्षुण्ण रहेगा। और इस के विपरीत आचरण करने वाला मनुष्य चाण्डाल के समकक्ष हेय और निन्दनीय होता है (६.८७)।

जैसा कि बताया जा चुका है, मनु की व्यवस्था में विधवा के पुनर्विवाह के लिए कोई स्थान नहीं था। अतः उन्होंने विधवा की सामाजिक और पारमार्थिक, न कि शारीरिक, आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही, नियोग जैसी प्राचीन व्यवस्था को मान्यता प्रदान की थी। यह व्यवस्था केवल मृत पति की औरस सन्तान न होने की दशा में ही अनुमित थी। कहा गया है कि स्त्रियों को कभी स्वतंत्र नहीं रहना चाहिए — *न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति* (६.३), *न भजेस्त्री स्वतन्त्रताम्* (५.१४८) और पुरुषों को भी उसे स्वतंत्र न रहने देना चाहिए — *अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः* (६.२) जैसा कि माना जाता है, यहां स्त्री को सामाजिक अथवा आर्थिक, किसी भी प्रकार से हीन दिखाने की कोई भावना नहीं है। माता के गौरव का उल्लेख ऊपर किया ही जा चुका है। सम्पत्ति के उत्तराधिकार के प्रश्न पर माता—पिता, किसी एक के भी जीवित रहते, पुत्रों के अधिकार को अस्वीकार करके, विधवा स्त्री की आर्थिक स्थिति को भी सुदृढ़ कर दिया गया है— *भजेरन्पैतृकं रिक्थंमनीशास्ते हि जीवतोः* (६.१०४)। अब यदि मनु ने कौमार्यावस्था में पिता, यौवन में पति और वार्धक्य में पुत्र की रक्षा में रहने को आवश्यक कहा है (६.

३:५.१४८), तो निश्चय ही उनकी चिन्ता और उद्देश्य स्त्री की शारीरिक सुरक्षा को लेकर ही रही होगी। इस शारीरिक सुरक्षा के साथ ही ऊर्ध्वदैविक कृत्यों में भी पुत्र/पुत्रों की अनिवार्यता को दृष्टि में रख कर, मात्र सन्तान पाने के लिए, न कि यौनेच्छा की सन्तुष्टि के लिए, नियोग की अनुमति दी गई है। इसमें भाग लेने वाली स्त्री और उसके देवर अथवा अन्य किसी सम्बन्धी सहयोगी को विरूप होकर ही भाग लेना होता था (६.६०)। एक बार वांछित संख्या—एक से तीन—में सन्तान प्राप्त कर लेने पर उन दोनों को ही आपस में पूज्य भाव रखने का आदेश दिया गया था (६.६२) और अगले सभी यौन सम्पर्कों को महापातक की कोटि का व्यभिचार मानते हुए, उन्हें पतित घोषित कर दिए जाने का विधान किया गया है (६.६३)। इसके आगे के कुछ श्लोकों में नियोग प्रथा की निन्दा करते हुए, उसका विरोध ही नहीं, निषेध भी किया गया है (६.६४—६८)। अतः ये, निश्चित ही परवर्ती काल की मानसिकता दर्शाने वाले प्रक्षिप्त श्लोक हैं।

विवाह के सम्बन्ध में इतना कुछ कह चुकने के बाद, मनु स्मृति में वर्णित विवाह के विभिन्न प्रकारों की चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है। उन्होंने अपनी स्मृति में अच्छे बुरे—*हिताहितम्*, आठ प्रकार की वैवाहिक विधियों का उल्लेख किया है— *ब्राह्मोदैवस्तथैवार्षप्राजापत्यस्तथासुरः, गान्धर्वोराक्षस श्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः* (३.२१)। इन्हें पारिभाषित करने के पूर्व पांच श्लोकों में विभिन्न वर्णो के व्यक्तियों के विषय में इनकी उपयुक्तता की चर्चा होने के कारण कुछ विद्वान इन्हें, प्रक्षिप्त मानते हैं (यथा, विद्यालंकार)। जो भी हो, इन आठ प्रकारों में से प्रथम छह ब्राह्मण के लिए, अन्तिम चार क्षत्रिय के लिए और राक्षस को छोड़ कर अन्तिम तीन वैश्य के लिए उपयुक्त कहे गए है (३.२३)। पुनः ब्राह्मण के लिए प्रथम चार, क्षत्रिय के लिए राक्षस और वैश्य तथा शूद्र के लिए आसुर विवाह ही उत्तम कहा गया है (३.२४)। प्रजापत्य आदि पांच में से प्रथम तीन धर्मयुक्त, और दो धर्म विरुद्ध कहे गए है, और असुर और पैशाच को यथा सम्भव न करने का ही सुझाव दिया गया है (३.२५)।

इन विविध विधियों का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि विद्या और शीलवान वर को निमंत्रित करके, उसका सत्कार करते हुए कन्यादान कराना ब्राह्म (३.२७), वर से यज्ञ करवा करके उसे अलंकृत कन्या का दान दैव (३.२८), वर से कुछ ले कर—*एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादाय* (३.२६) आर्ष तथा सहधर्माचरण की आज्ञा देते हुए कन्या प्रदान प्राजापत्य (३.३०) विधि कहलाती थी। कन्या और उसके सम्बन्धियों को सामर्थ्यानुसार यथेच्छ धन देकर कन्यादान करवाना आसुर (३.३१), कामाभिभूत होकर परस्पर की सहमति से मैथुन करना गान्धर्व (३.३२), *'हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् प्रसह्य कन्याहरणं'* को राक्षस (३.३३) और *'सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति '* को अधम और पापपूर्ण पैशाच (३.३४) विधि कहा गया है।

इस सूची को देखने से प्रतीत होता है कि विवाह की विहित विधि एक ही थी। ब्राह्म, दैव और प्राजापत्य में निमंत्रित अथवा अनायास ही आ गए याजक

के अतिरिक्त कोई विशेष अन्तर नहीं है। **आर्ष** और **आसुर**—दोनों में कन्या विक्रय का भाव निहित है और अन्तर केवल मात्रा और प्रवृत्ति का ही है। मात्रा के इस अन्तर का कारण संस्कारों का वैभिन्न्य भी हो सकता है। कुछ जनजातियों मेंआज भी कन्या के चले जाने से श्रम शक्ति में होने वाली हानि की क्षतिपूर्ति के लिए ही, उसकी उत्पादन क्षमता के अनुपात में, कुछ लेने की प्रथा है। आर्ष विधि में भी कुछ इसी प्रकार की सामान्य भावना रही होगी। किन्तु **आसुर** विवाह में वर पक्ष की सामर्थ्य का अनुमान करते हुए, उनसे अधिकाधिक धन प्राप्त कर लेने की—*ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः* (३.३१) भावना अनायास ही नागर सभ्यता से प्रभावित आगरा भरतपुर क्षेत्र की उन जन जातियों का स्मरण करा देती है, जिनके यहां कन्या विक्रय जीवनयापन की वैशिक शैली का पर्याय बन चुका है। **गान्धर्व** विवाह, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, गुरुजनों की अनुमति के बिना ही, काममोहित होकर परस्पर की सहमति से यौन सम्बन्ध स्थापित करने को सामाजिक स्वीकृत प्रदान करना ही था। यद्यपि इसमें कोई भी पक्ष राजदण्ड का भागी नहीं होता था, फिर भी कन्या माता—पिता से वस्त्रालंकार प्राप्त करने का अधिकार खो बैठती थी और अनधिकृत रूप से कुछ लेने पर उसे चोर समझा जाता था— *अलंकारं... स्तेना स्याद्यदि तं हरेत्* (९.९२)। दूसरी ओर, कन्या का पिता भी वर से शुल्क पाने का अधिकारी नहीं रह जाता था (९.९३)

अन्तिम दो विधियां तो पूरी तरह से आपराधिक कृत्यों के बाद, प्रताड़ित स्त्री को समाज मेंउचित स्थान और सम्मान पूर्वक जीवन यापन का अवसर दिला कर, किसी सीमा तक, उसके घावों पर मलहम लगाने का प्रयास ही अधिक थीं। **राक्षस** विवाह में कन्या का उसकी ही नहीं, सभी की इच्छा के विरुद्ध बलात्कार पूर्वक हरण होता था और **पैशाच** विधि में चेतना खो कर, आत्म रक्षा में असमर्थ हो चुकी युवती का कायरता पूर्वक शीलहरण ही होता था। इसीलिए इस अन्तिम को अधमाधम और राक्षस को अपेक्षाकृत अच्छा कहा गया है। इस प्रकार दुर्दान्त पुरुष की सर्वग्राही यौनेच्छा और कामक्रीड़ा का आखेट हो चुकी प्रताड़ित स्त्रियों को समाज में उचित स्थान दिला कर, जीवन यापन की सुविधा दिलाते हुए मनु ने सामाजिक न्याय के प्रति अपनी प्रतिबद्धता ही उजागर कर दी है।

सामाजिक न्याय की इस भावना के पीछे, मनु के मनो मस्तिष्क में नारी का अत्यन्त उदात्त स्वरूप का सुस्पष्ट चित्र ही था। उनके लिए नारी जननी, माता—निर्मात्री एवं संरक्षक, धर्म—अनिवार्य कर्तव्यों में संगिनी तथा सुख—दुःख की सहभागिनी ही नहीं थी, वह तो स्वर्ग का द्वार खोलने का साधन होते होते, स्वयं साध्य भी हो चुकी थी। तभी तो उन्होंने माता को पिता की उपेक्षा सहस्त्र गुना अधिक '*गौरवार्ह*—गौरवास्पद् कहा है। अब आगे, मनु को मान्य पारिवारिक और सामाजिक संघटना और सौमनस्य—समरसता की मूल भित्ति, कुछ उन श्लोकों का देना अप्रासंगिक न होगा, जिनके उदात्त विचारों और भाव—सौन्दर्य से अभिभूत होकर ही डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने उन्हें 'आर्य नारी का यशोगीत'

कहा है—

> 'जिस कुल में नारियों की पूजा—सत्कार सम्मान—होता है, देवता वहीं वास करते हैं; जहां ऐसा नहीं होता, वहां कोई भी सत्कर्म फली भूत नहीं होता है। जिस कुल में स्त्रियां दुखी रहती हैं, वे कुल शीघ्र ही विनष्ट हो जाते है; बिखर जाते हैं और जिस कुल में उन्हें दुःखी नहीं होना पड़ता है, वे कुल सदा ही उन्नति करते रहते हैं। जिन घरों में कुल ललनाएं—*जामयो*— तिरस्कृत अपमानित होती हुई शाप देती रहती हैं, वे '*कृत्याहताविव* सभी प्रकार से नष्ट हो जाते हैं। इसलिए समृद्धि की ही नहीं, वरन अस्तित्व की रक्षा और वृद्धि—*भूतिकामैः*— की कामना से भी सत्कार उत्सवों के अवसर पर उन्हें वस्त्राभूषणादि देकर सम्मानित करते रहना चाहिए। जिस कुल में पत्नी से पति और पति से पत्नी सन्तुष्ट रहते हैं, उसी कुल में कल्याण चिरस्थाई होता हैं। स्त्री के प्रसन्न और सन्तुष्ट रहने पर ही सारा कुल सुखी और प्रसन्न रहता है और उसके अप्रसन्न और असन्तुष्ट होने पर सारे घर का वातावरण दुःखी हो उठता है। पत्नी को भी पति को रुचिपूर्वक प्रसन्न रखना चाहिए। ऐसा न होने पर उदासीनता उत्पन्न हो जाती है और फिर सन्तति नहीं चलती हैं (मनु ३.५६—६१)।

विवाह संस्कार के बाद गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर मनुष्य को पंच महायज्ञों का विधिवत् सम्पादन करते हुए अपनी आयु का द्वितीय चतुर्थांश बिता चुकने पर, **वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करने का विधान हुआ है** (४.१;५.१६६)। वेद में *'शतायुर्वैपुरुषः'* अर्थात् मनुष्यों की सौ वर्षों की पूर्ण आयु मानी गई है; परन्तु लोक में सौ कहने से १०८ से लेकर १२८ तक का यथा अवसर ग्रहण होता देखा जाता हैं। इसी से दक्षिण भारत में आधी आयु भोग चुकने के बाद *'षष्टि पूर्ति'* मनाने की परम्परा है। अतः सौ वर्षों की पूर्ण आयु के अनुसार पचास वर्ष की वयस हो जाने पर अथवा विकल्प से जब शरीर में झुर्रियां दिखने लग जांए, अथवा केश श्वेत हो जाएं, वानप्रस्थ ग्रहण का अवसर आ गया समझ लेना चाहिए (६.२) और वन प्रान्तर में आश्रय ले लेना चाहिए—*वने वसेत्* (६.१), *अरण्यं समाश्रयेत्* (६.२)। वान प्रस्थ ग्रहण करते समय, पत्नी यदि चाहे तो, उसे भी साथ रखा जा सकता है, किन्तु उसका पुत्रों के साथ रहना निषिद्ध नहीं था— *पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वने गच्छेत्सहैव वा* (६.३)।

वहां जाते समय ग्राम्य आहार और अन्य साज सामान आदि उपस्करों को छोड़ कर, केवल अग्निहोत्र ओर यज्ञादि के आवश्यक पात्रादि ही ले जाने का विधान हुआ है (६.४)। वहां रहते हुए उपयोगी होने से संग्रहणीय—*मेध्यैः*— मुनि के लिए उपयुक्त नीवार आदि विविध अन्न, शाक, मूल, फल आदि से ही अध्यापन, गुरुजनों की तृप्ति, होम, भूतबलि तथा अतिथि सत्कार (३.७०) आदि पंच महायज्ञ—*यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म* (श.ब्रा.१.७.१.५; तै. ब्रा. ३.२.१.४; क.क.सं. ४२.८ इत्यादि) करते हुए, उन्हीं से स्वयं भी निर्वाह करना चाहिए (६.५)। इनका भी संग्रह न करे

और अनिवार्य परिस्थितियों में आवश्यकतानुसार एक मास से एक वर्ष पर्यन्त उपयोग के लिए ही संग्रह करे, अधिक का नहीं (६.१८)। यदि कभी फल—फूल न मिलें तो केवल प्राण—धारण करने के लिए ही तपस्वियों अथवा वनवासी गृहस्थों से भिक्षा ले ले (६.२७)। उसके भी न मिलने पर ही, ग्राम से अंजंलि या उसी के बराबर दोना भर ही भिक्षा स्वीकार करे (६.२८)। इसे भी दिन में एक ही बार, प्रातः अथवा सायं काल लेना चाहिए (६.१५)। और आश्विन मास में व्रत करना चाहिए (६.१५)।

पर्यावरण की सुरक्षा का ध्यान रखते हुए ही कहा गया है कि किसी एक ही वृक्ष से अपनी फूल—फल आदि की सभी आवश्यकताएं नहीं पूरी करनी चाहिए (६.२८)

शरीर के रख—रखाव पर ध्यान न देते हुए, जटा, श्मश्रु, लोम और नखों को बढ़ने देने और मृगचर्भ अथवा बल्कल धारण करने का भी आदेश दिया गया है (६.६)। अगले आश्रम में प्रवेश करके सर्वजन समाज का हित साधन करने की तय्यारी करते हुए, उसे नित्य नियम पूर्वक वेद का स्वाध्याय, द्वन्दों को सहन करने का अभ्यास और मनुष्य मात्र का हितचिन्तन और समस्त पंचमहाभूतों अर्थात जड़ चेतन आदि सभी के प्रति करुणा वृत्ति का पोषण करते हुए, किसी से कुछ भी न ले करके, सभी को कुछ न कुछ देते रहने—*दाता नित्यमनादाता,* का अभ्यास करते हुए, संयम से रहना चाहिए (६.८)। अगले आश्रम की संचरण शील वृत्ति को ध्यान में रखकर ही, वानप्रस्थी को सुख भोगने का यत्न न करके, पृथिवी पर सोने और उस स्थान से भी मोह न बढ़ाने का (६.२८) भी आदेश दिया गया है।

आयु के तृतीय चतुर्थांश को वन में रहते हुए बिता कर, चौथे भाग में निसंग/असंग होकर *प्रव्रज्या* ले लेनी चाहिए— *त्यक्त्वा संगान्परिव्रिजेत्* (६.३३)। पर इस चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करने से पूर्व तीनों ऋणों को चुकाना और तीनों आश्रमों को अनुक्रम से पार कर लेना अनिवार्य कहा गया है। जो इसके विपरीत आचरण करता था, उसे पतित माना जाता था (६.३५—३७)। कहा गया है कि चिन्ह धारण कर लेने मात्र से ही कोई धार्मिक—कर्तव्य निष्ठ नहीं हो जाता है— *न लिङ्गं धर्म कारणम्* (६.६६)। ऐसे यथावसर और यथाक्रम हुए सन्यासी को वर्ण सूचक सभी चिन्हों का त्याग करके, पंचाग्नियों को अपनी आत्मा में सन्निविष्ट करते हुए ही, घर से निकल पड़ने का विधान था (६.३८)। प्राणि मात्र को अभय देने वाले सन्यासी को किसी से भय नहीं होता है (६.३६—४०)। उसे अकेले ही विचरण करना उचित बताया गया है, सिद्धि अकेले को ही मिलती है— *सिद्धिमेकस्य* (६.४२)। उसका न तो कोई चूल्हा होना चाहिए और न कोई घर। वह भोजनार्थ ही बस्ती में जाए (६.४३)। भिक्षा न मिलने पर दुःखी न हो, मिलने पर प्रसन्न न हो— *सिद्धयसिद्धयोः समोभूत्वा* (श्रीमदभगवद्गीता २.४८) तथा *सुख दुःखेषु समः संगविवर्जितः* (वही १२.१८), और जीवन यात्रा मात्र के लिए ही स्वीकार करे (६.

५७)। पूजापूर्वक दी गई भिक्षा से बचे, क्योंकि इस प्रकार की भिक्षा को स्वीकार करने पर वह, स्वतंत्र दिखाई देता हुआ भी, वस्तुतः बन्धनों में ही जकड़ा रहेगा— *अभिपूजित लाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्धयते* (६.५८)। यद्यपि उसे तरुतलवास ही करना था, फिर भी भोजन ग्रहण करने की सुविधा के लिए कपाल अर्थात् खप्पर तथा वनवास के समय मृगचर्म अथवा वल्कल के स्थान पर, ग्राम में जाते रहने की आवश्यकता को देखते हुए, मोटे अथवा असुन्दर वस्त्रों—*कुचेल*—को धारण करने का आदेश किया गया है (६.४४)।

सन्यासी को सभी से समानता का व्यवहार करते हुए—*समता चैव सर्वस्मिन्*—ही, सभी प्राणियों के हित साधन में निरत रहते हुए (६.४४) जाड़े और गर्मी के आठ महीने भ्रमण में व्यतीत करके, वर्षाकाल में ही एक स्थान पर रुकना चाहिए (६.४५)। उसे दूसरों के कठोर बचनों को सह कर भी— *अतिवादांस्तितिक्षेत्* — किसी का अपमान नहीं करना चाहिए और न ही बैर मानना चाहिए (६.४७)। क्रोध के बदले क्रोध न करते हुए, सदा झिड़की के बदले में आर्शीवाद ही देना चाहिए और पांच ज्ञानेन्द्रियों, तथा मन औरबुद्धि की सहायता से प्राप्त ज्ञान के आधार पर, विषय प्रतिपादन में समर्थ वाणी को 'झूठी' नहीं करना —*सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्* (६.४८)। इस प्रकार जो वाक् दण्ड, मनोदण्ड और काय दण्ड— तीनों प्रकार के विकारों के दमन (*दमनं दण्डः*—कुल्लूक) का विचार—बुद्धि द्वारा ध्यान रखता है, उसे हीं त्रिदण्डी' कहते हैं (१२.१०) न कि काष्ठ दण्ड धारण करने वाले कूट सन्यासी को।

इन ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आदि चारों आश्रमों में सभी का अपना अपना निर्विवाद महत्व है, किन्तु अन्य तीनों के, अपने भरण पोषण के लिए, गृहस्थ आश्रम पर ही निर्भर रहने के कारण ही, लौकिक दृष्टिसे, उसका स्थान श्रेष्ठ माना गया है— *गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्विभर्ति हि* (६.८९)। कहा गया है कि जिस प्रकार सभी बड़ी छोटी नदियां जाकर सागर में ही ठहरती हैं, उसी प्रकार सभी आश्रमों के लोग गृहस्थ के आश्रित ही रहते हैं— *आश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्* (६.९०)। अन्यत्र कहा गया है कि जिस प्रकार सारी भूत सृष्टि वायु पर निर्भर रहती है, उसी प्रकार अन्य आश्रमों के सभी लोग, अपने अपने प्राणों का धारण करने के लिए, गृहस्थ आश्रम के व्यक्तियों पर ही आश्रित रहते हैं (३.७७) और सबका धारण पोषण करने की कारण ही, यह दूसरा आश्रम सभी अन्य आश्रमों से वरिष्ठ है— *गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही* (३.७८)

---

४. वर्ण और वर्ण संकर

जीवन में मनुष्य की दोहरी भूमिका होती है— प्रथमतः, वह एक स्वतंत्र घटक—व्यक्ति—होता है, तो दूसरी ओर वही व्यक्ति अनेक घटकों के बीच, समिष्ट का एक अंग भी होता है। अब तक हमने उस एक घटक के बहमुखी और आत्यन्तिक विकास के लिए प्रायोजित की गई आश्रम व्यवस्था का यत्किंचित आकलन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया हैं। अब आगे उपरोक्त व्यवस्था के अन्तर्गत अर्जित योग्यता और विकसित क्षमता के अनुरूप ही, समिष्ट के बीच उसका स्थान निर्धारित करने और उसे उस स्थान पर प्रतिष्ठित कराने के लिए सुनियोजित **'वर्ण'** व्यवस्था का संक्षिप्त विवरण—विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाएगा।

'वर्ण' की अवधारणा के सम्बन्ध में, उसकी वैदिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त निदर्शन किया जा चुका है और बाद में भी यथावसर अनेकत्र चर्चा की गई है। इसी मान्यता को स्वीकार करते हुए ही, मनु ने इसका मूल आधार प्रकृति के तीन गुणों को बताते हुए, अन्तिम—बारहवें अध्याय में कुछ विस्तृत विवेचन किया है। कहा गया है कि आत्मा के तीन गुण हैं— सत्व, रजस् और तमस्। इन तीनों के द्वारा ही, सभी में भाव रूप में विद्यमान 'महान्'—*महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः, चरमोऽहङ् कारः* (सांख्य दर्शनम् १.३६—३७)—'अहंकार' होकर कर्म की प्रेरणा किया करता है (मनु १२.२४)। इनमें से जो गुण जिस शरीर में जिस मात्रा में अधिक होता है, उस शरीर को उसी गुणवाला बना देता है (वही १२.२५)। ज्ञान अर्थात् यथार्थ प्रीति सत्व गुण का लक्षण है। इसके विपरीत अज्ञान तमोगुण का और रागद्वेष रजोगुण का लक्षण है। प्राणियों का पांच भूतों से बना शरीर इन्हीं ज्ञान, अज्ञान, रागद्वेष से ओत—प्रोत है (वही १२.२६) इनं तीन गुणों के फल—क्रमशः श्रेष्ठ, मध्यम और निकृष्ट होते हैं (वही १२.३०)।

जिसके उदय होने पर सब दुःख दूर हो जाएं अर्थात् व्यक्ति दुःखों का अनुभव न करता हुआ, आत्मा में शान्ति सदृश प्रकाश का अनुभव करे, उसे *'सत्त्व गुण'* कहा जाता है (वही १२.२७)। वेद का स्वाध्याय, तप, शास्त्र ज्ञान, शौच, इन्द्रिय निग्रह, दान आदि धर्म और आत्म चिन्तन सत्त्व गुण के फल हैं (वही १२.२१)। पूर्ण ज्ञान से जिस कर्म को करते हुए लज्जा का अनुभव न हो, आत्मा आह्लादित हो, उसी कर्म को सात्विक जानना चाहिए (वही १२.३७)। जिसके कारण दुःख का अनुभव हो और इसीलिए जो अन्ततः अप्रिय लगे, प्राणियों को बहकाने वाली ऐसी प्रवृत्ति ही शत्रुस्वरूप *'रजोगुण'* का लक्षण है (वही १२.२८)। किसी कार्य को प्रारम्भ करने की इच्छा तो हो, परा पूरा करने का धैर्य न हो— *प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः* (भर्तृहरि, *नीतिशतक* २७), निषिद्ध कर्म करने की प्रवृत्ति और निरन्तर विषय—भोग की इच्छा—ये रजोगुण के फल हैं (वही १२.३२)। जिस कर्म को करते हुए, प्रसिद्धि की आकांक्षा हो और असफल रहने पर शोक हो, उसे रजोगुणी कर्म कहा जाता है (वही १२.३६)। जिससे विवेक नष्ट हो जाए, वस्तुस्थिति अस्पष्ट लगे, विषयासक्ति बढ़ती हो, बुद्धि से अगम्य और इन्द्रियों से अग्राह्य हो, उसे *'तमोगुण'* का लक्षण

समझना चाहिए (वही १२.३६)। लोभ, निद्रा, अधैर्य, निष्ठुरता, नास्तिकता अर्थात् सभी की अस्वीकृति, सदाचरण हीनता, कर्म करके प्राप्त करने के स्थान पर मांगने की प्रवृत्ति और आलस्य तमोगुण के फल है (वही १२.३३) जिस काम को करता हुआ और जब भी करे तो लज्जित होना पड़े, ऐसे सभी कार्य तामस जानने चाहिए (वही १२.३३)

इस सभी का सारतत्व समझाने के लिए संक्षेप करते हुए ही मनु ने कहा है कि 'काम' की प्रधानता तमस् है, 'अर्थ' की निष्ठा राजस है और 'धर्म'—कर्तव्य—परायणता ही सात्त्विक है (वही १२.३८)। इसी के आधार पर ही मनु ने त्रिवर्ग और चातुर्वर्ण की व्यवस्था का भव्य प्रासाद खड़ा किया है। व्यावाहारिक विधान होंने से ही मनुस्मृति में इनका संक्षिप्त विवेचन हुआ है। इसकी विशेष और विस्तृत दार्शनिक विवेचना श्रीमद्भगवद्गीता (२.४५;३.१८—१९,३३;४.१३,१९,७.१२—१२;९.१२—१३;१३.६—७,१४—१५,१९—२७;१४.५—७,२०.२५;१६;१७.८—२२ तथा १८.७—१०,१९—४८ तथा ५६—६०) आदि ग्रन्थों में देखी जा सकती है। ब्रह्मचर्य आश्रम में शिक्षा—विद्या और संस्कार के माध्यम से इन गुणों को परिष्कृत करके, शिक्षा देने के प्रयत्न के बाद व्यक्ति में जिस गुण, कर्म और स्वभाव का उदय और विकास होता है अर्थात जिनका वह वरण करता है, वे ही उसका 'वर्ण' निर्धारण करने में निर्णायक भूमिका निभाते हैं। इस प्रारम्भिक वरण् के बाद भी फिसलने से बचाने के लिए अनेक विधि निषेधों की व्यवस्था की गई थी, जिनका पालन अभ्युदय और निःश्रेयस अर्थात् लौकिक और परमार्थिक उन्नति की कामना करने वाले के लिए अनिवार्य कहा गया है। इन सभी का सार सत्व यही था कि वेद, शास्त्र आदि आर्ष ग्रन्थों का नित्य और सतत स्वाध्याय (वही ४.१९—२०,१४६) वयस और वरण किए हुए वर्ण के अनुकूल आचरण—*वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च, वेषवाग्बुद्धि सारूप्यमाचरान्वचरेदिह* (वही ४.१८) और अपनी परिष्कृत हुई प्रवृत्ति को दृढ़ करने के लिए उत्कृष्ट व्यक्ति का संग और हीन प्रवृत्तियों के आकर्षण से बचे रहने के उद्देश्य से निकृष्ट व्यक्तियों से सम्पर्क और सम्बन्ध न रखना चाहिए। अब आगे इन्हीं का कुछ विस्तार से उल्लेख किया जाएगा।

इन सभी विधि निषेधों का उपसंहार करते हुए कहा गया है कि सभी देहदारी अपने इन्हीं स्वाभाविक गुणों और उनमें हुए संस्कार परिष्कार की मात्रा के अनुरूप ही जायमान शूद्र की अपनी मूल 'प्रकृति' से विकसित और उन्नत होते हुए क्रमशः अधम, मध्यम और उत्तम, इन तीन 'द्विज' वर्णो में बंट जाते हैं— *तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्याधिष्ठानस्य देहिनः* (वही १२.३—४)। इन आध्यात्मिक गुणों का समाज में क्रमशः कृषि, पशुपालन और वाणिज्य व्यापार अर्थात् भरण पोषण, रक्षण और शिक्षण के कार्यो के रूप में प्रतिफलित होना स्वीकार किया गया है (मनुं १.८९—९२;१०.७४—८०)। इस प्रकार हम पाते हैं कि शिक्षण और उसके लिए आवश्यक विद्या— वेदाभ्यास—को सर्वाधिक महत्व देकर और सर्वश्रेष्ठ जीवन मूल्य मान कर, उसे ही ब्राह्मणत्व का प्रधान गुण ही नहीं, अनिवार्य लक्षण

भी स्वीकार किया गया है (वही १०.८०)।

कहा गया है कि स्वाध्याय—वेदाभ्यास—करने से व्यक्ति परम उत्कृष्ट हो जाता है— *प्राप्नोति परमां गतिः* (वही ४.१४) अतः स्वाध्याय में बाधक सभी कर्मो को छोड़कर— *सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः* (वही ४.१७), नित्य स्वाध्याय करना चाहिए— *नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्* (वही ४.१६)। कहा गया है कि जैसे जैसे व्यक्ति शास्त्रों का भाव ग्रहण करता जाता है, वैसे वैसे ही बढ़ते हुए ज्ञान के साथ ही, विज्ञान में उसकी रुचि बढ़ती जाती है (वही ४.२०)। जो वेदाध्ययन न करके, अन्य क्षेत्रों में अपनी ऊर्जा और शक्ति का उपयोग करता रहता है, वह इसी जीवन में पुत्र—पौत्रादि सहित शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है— *योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्रकुरुते वृथा श्रमम्, स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशुमागच्छति सान्वयः* (वही २.१६८)। वेदाभ्यास ही परम तप है (वही २.१६६) और इसके त्याग से *'कुला न्यकुलतां,यान्ति'* (वही ३.६३)। पढ़ा हुआ ही 'स्थविर' कहलाता है (वही २.१५६) और उनमें भी जो जितना ही अधिक विद्वान होता है, वही सबमें श्रेष्ठ होता है— *योऽनूचानः स नो महान्* (वही २.१५४)। धन हीन होते हुए भी वेदज्ञ ब्राह्मण सम्मान का पात्र होता है (वही ३.६६)। श्राद्ध समारोहों में सम्मान प्राप्त करने योग्य व्यक्तियों में वेदविद्या स्नातक और वेद पाठी की ही गणना की गई है (वही ४.३१)। ज्ञान वान और तपस्वी ब्राह्मणों को ही दान देना चाहिए (वही ३.९८) न कि अवेद् विद (वही ४.१९२) और तपः स्वाध्याय हीन (वही ३.१२८) को। एक वेदज्ञ को खिलाना सहस्त्रों सहस्त्र मूर्खो को खिलाने से अधिक श्रेयस्कर है (वही ३.१३१)। वेदविहीन को दान देना निष्फल होता है— *अनृचे हविर्दत्त्वा न दाता लभते फलम्* (वही ३.१४२)। बे पढ़ा ब्राह्मण तृणाग्नि की भस्म के समान होता है (वही ३.१६८) और ऐसे भस्मीभूत ब्राह्मण को दिया गया दान नष्ट हो जाता है (वही ३.९७)। वेद ज्ञान से रहित ब्राह्मण जीवन में उसी प्रकार निष्फल होते हैं जिस प्रकार स्त्रियों में नपुंसक— *विप्रोऽनृचोऽफलः* (वही २.१५८)। जटा जूट धारण कर के विद्वानों का वेश बना लेने पर भी मूर्ख अविद्वान अपांक्तेय ही रहता है (वही ३.१५१)। लक्षणों को धारण कर लेने से ही कोई धर्मयुक्त नहीं हो जाता है — *न लिंग धर्मकारणम्* (वही ६.६६) अतः दान और श्राद्ध से पूर्व ब्राह्मण की परीक्षा कर लेनी चाहिए (वही ३.१३०) । राजा और विद्वान स्नातक के एकत्रहोने पर, स्नातक का ही सर्वप्रथम सम्मान किया जाना चाहिए (वही २.१३८)। वेद और यज्ञ से हीन तथा अपने कर्मो में निष्ठा न रखने वाले और अकुशल लोगों से ब्रह्मचारी को भिक्षा ग्रहण करने से भी वर्जित किया गया था (वही २. १८३)। वानप्रस्थ को भी स्वाध्याय करते रहने का आदेश था (वही ६.८) और सन्यासी को, सभी कर्मो को छोड़ देने पर भी, वेदों का स्वाध्याय कभी न त्यागना चाहिए— वेद को छोड़ कर तो वह शूद्र ही हो जाएगा— *वेदसन्यासतः शूद्रः* (वही ६.९५)।

गुरु कुल से विद्या प्राप्त करके लौटे हुए स्नातकों का सत्कार करने का आदेश देते हुए कहा गया है कि ये ही राजाओं के अक्षय ब्राह्म कोश हैं— *नृपाणामक्षयो ह्येष निधि ब्राह्मोऽभिधीयते* (वही ७.८२) और राजा को इस अक्षय

कोश—ज्ञान के भण्डार विद्वान ब्राह्मणों—को सुरक्षित रखने की व्यवस्था करनी चाहिए अर्थात् विद्वानों का संरक्षण संवर्धन और पोषण करते हुए राज्य में ज्ञान—विज्ञान को अक्षुण्ण रखना चाहिए (वही ७.८३)। जिस राज्य में श्रोत्रिय अभाव से पीड़ित दुःखी होता है, वह राज्य अभाव ग्रस्त हो जाता है (वही ७.१३४)। श्रोत्रिय की विद्या और आचरण के अनुरूप ही— *श्रुते वृत्ते विदित्वा*—उचित वृत्ति की—*वृत्तिं धर्म्या*—व्यवस्था कराना राज्य का कर्तव्य है (वही ७.१३५)। सभा में भी राजा को तीन वेदज्ञ ब्राह्मणों को ही अधिकृत करना चाहिए (वही ८.११)। इसी प्रकार *'वेदशास्त्रविद्'* को ही राजा के पार्षद, सेनापति आदि सभी अधिकारी बनाने को भी कहा गया है (वही १२.११०—११५)।

विद्या और विद्वान—ब्राह्मण— की प्रशंसा के बाद, उसके आचारण पर भी बहुत बल दिया गया हैं। उसके श्रेष्ठ होने का एक और भी कारण बताया गया है— क्रोध रहित होना, सभी स्थितियों में प्रसन्न रहना और सर्वलोक हितकारी होना— *अक्रोधनान्सुप्रसादान्वदन्त्ये तान्पुरातनान्, लोकस्याप्या यने..*(वही ३.२१३)। उसे सन्तोषी होना चाहिए (वही ३.२३३) और सम्मान पाने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, अपितु, उससे उसी तरह और उतना ही डरना चाहिए, जितना कि कोई विष से डरता है— *संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत् विषादिव* (वही २.१०२)। जो विधाता, शासिता और वक्ता होने के साथ ही सभी का मित्र होता है, वही व्यक्ति ब्राह्मण हो पाता है (वही १०.१२६)।

वेदज्ञान के बल का आश्रय लेकर पापकर्म में लिप्त होने का निषेध किया गया है—*न वेद बलमाश्रित्य पापकर्म रुचिर्भवेत्* (वही १२.१०१)। वेद स्वाध्याय को छोड़ कर जो दुष्ट भाव ग्रहण करता है, उसे कभी सिद्ध नहीं मिल पाती है (वही २.६७)। अखण्ड वेदज्ञान प्राप्त करके भी जो अनियांत्रि—उच्छृंखल है, उसकी अपेक्षा साधारण शिक्षित किन्तु सुनियंत्रि ब्राह्मण को ही श्रेष्ठ कहा गया है— *वरं विप्र सुयन्त्रितः, नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि...*(वही २.११८)। जो वाणी और मन से असत्य रहित है— *यस्ये वाङ्मन सीशुद्धं सम्यगुप्तं च सर्वदा* (वही २.१५६—१६०) वही विद्वान अपने सम्पूर्ण वेद ज्ञाम का फल पाता है। आचारहीन ब्राह्मण निन्दित ही नहीं, अपांक्तेय भी हो जाता है (वही ३.१६५—६७)। ब्राह्मण में सत्य ही विशेष होता है— *सत्यं विशिष्यते* (वही २.८३) इसी लिए साक्ष्य देते समय उसे केवल सत्य का ही वास्ता दिया जाना ही यथेष्ट माना गया है (वही ८.११३)। जो विद्वान अहंकार वश प्रतिनमस्कार नहीं करता है, उसे शूद्र वत् कहा गया है —*यो न वेत्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्, नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः* (वही २.१२६)। धन होने पर भी यज्ञ की दक्षिणा न देने वालों की निन्दा की गई है, वह *'अनाहिताग्नि'* (यज्ञ का अनधिकारी शूद्र) हो जाता है (वही ११.३८)। कृपण श्रोत्रिय वार्धुषि के समकक्ष कहा गया है (वही ४.२२४)। सदाचरण से आयु, सन्तति, धन और वेद ज्ञान की वृद्धि होती है (वही ३.१५६;४.२२४) और असदाचार से निन्दा प्राप्त होती है (वही ४.१५६)। हीनाचार ब्राह्मणों को सूचीबद्ध करके उन्हें द्विजाधम कहा गया है (वही ३.१६०—६६.१७०—८०) और उन्हें श्रेष्ठ विद्वानों, द्विजों तथा पितृयज्ञ से

दूर रखने का आदेश दिया गया है (वही ३.१६७)। अनुचित विवाह सम्बन्धों और स्वकर्म हीनता से तथा विद्वानों की अवमानना करने से हीन होना (वही ३.६३) और उत्कृष्ट की संगति से श्रेष्ठ और हीन के संसर्ग से शूद्र हो जाना कह कर (वही ४.२४४—४३), अधार्मिकों के ग्राम में भी न रहने का निर्देश दिया गया है (वही ४.६०—६१)। वेदविहित कर्म करने से उत्कृष्ट होना (वही ४.१४) जान कर, जो अपने उत्कृष्ट होने का छल करता है, वह आत्मघाती ही होता है (वही २. २५५)। पाषण्डी, बैडाल व्रतिक और बकव्रतियों का सम्मान नहीं करना चाहिए (वही ४.३०) व्यसनों में फंसा हुआ ब्राह्मण नीच हो जाता है (वही ७.५३)।

पतित से सम्बन्ध रखने पर— *पतितेन सहाचरन्* (वही ११.१८०) और विकर्मस्थ उत्तराधिकार से वंचित हो जाते हैं (वही ६.२१४)। वेद का धारण करने से तथा अपने उत्तम संस्कारों—आचरणों से ही ब्राह्मण श्रेष्ठ होता है; अन्यथा होने से वह शूद्र ही हो जाता है (वही १०.३)। प्रतिकूल आचरण करने से बहिष्कृत और अधिक करने से और भी बहिष्कृत होता जाता है— *प्रतिकूलं वर्तमाना बाह्याः बाह्यतरान्पुनः* (वही १०.३१)। बीज के बाद भी, युग युग में तप के प्रभाव से इसी जन्म में मनुष्यों का उत्कर्ष और अपकर्ष होता रहता है— *तपोबीज प्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे, उत्कर्ष चापकर्ष च मनुष्येष्विह जन्मतः* (वही १०.४२)। अनेक क्षत्रिय जातियां ब्राह्मण गुरु से विद्या न प्राप्त कर सकने के कारण—*ब्राह्मणादर्शनेन च,* और तदनुसार कर्म न कर सकने के कारण —*शनकैस्तु क्रियालोपाद् वृषलत्वंगता लोके* (वही १०.४३—४५) अर्थात लोक में शूद्र हो गई हैं। धर्माचरण करने वाले व्यक्ति को इन सबके साथ सम्पर्क रखने का विचार भी न करना चाहिए: इन्हें आपस में ही व्यवहार करना उचित है (वही १०.५३)।

वेद का स्वाध्याय छोड़ देना, वेद ज्ञान की निन्दा, झूठी गवाही देना, मित्रवध आदि अपराध सुरापान जैसे ही महापातक है (वही ११.५६)। निन्दित व्यक्तियों से धन लेने से भी व्यक्ति अपात्र हो जाता है (वही ११.६६)। द्विजों को, विषेशतया ब्राह्मण को सुरापान नहीं करना चाहिए— *न पातव्याः द्विजोत्तमैः* (वही ११.६४—५)। शूद्रागमन नहीं करना चाहिए (वही ११.१७८), उससे '*ब्राह्मण्यादेव हीयते*' (वही ३.१७)। बालक, उपकारी, शरणागत तथा स्त्री की हत्या करने वालों से तो, प्रायश्चित कर लेने के बाद भी, सम्पर्क नहीं रखना चाहिए (वही ११.१६०)। पतित से सम्बन्ध रखने पर —*पतितेन सहाचरन* (वही ११.१८०) और सभी विकर्मस्थ उत्तराधिकार से वंचित हो जाते हैं (वही ११.१८०)। महापातक— *ब्रह्म हत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ् गनागमः* (वही ११.५४) के दोषों के दोषी ब्राह्मण को देश से निकाल देना चाहिए (वही ६.२४१)

एक ऋचा काभी पाठ न कर सकने वाला अर्थात् निरक्षर ब्राह्मण निन्दित होता है (वही २.८०)। ऐसे निरक्षर और संस्कार हीन—*अव्रतानाममन्त्रणां*—परन्तु जन्म मात्र से ब्राह्मण—*जातिमात्रोप जीविनाम्*—सहस्त्रों सहस्त्र भी एकत्र होकर यदि विचार करें और व्यवस्था दें, तो उसे नहीं माना जा सकता है (वही १२.११४)। अविद्वान ब्राह्मण को, काष्ठमय हाथी और चर्ममय मृग के समान ही, केवल नाम

का ही—*नामं विभ्रति*—ब्राह्मण कहा गया है (वही २.१५७)। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ऐसा ब्राह्मण अकुलीन होकर शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है। वेद का स्वाध्याय न करने से, आचार छोड़ देने से, आलस्य से और अन्नदोष से (वही ५.४) शीघ्र ही— *अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्, आलस्यादन्नदोषाच्च* (वही ५.४) आयु क्षीण हो जाती है। निन्दित व्यवसाय आदि करने से ब्राह्मण तत्काल शूद्र हो जाता है (वही १०.६२)। हीनवर्ण, निन्दित जन्मा, अज्ञात कुल शील वाला व्यक्ति, देखने में आर्य प्रतीत होता हुआ भी, अपने अनार्य आचरण से, अपना परिचय आप ही दे देता है— *अनार्यकर्मभिः स्वैर्विभावयेत्* (वही १०.५७)। असभ्यता, कठोरता, हिंस्र वृत्ति और विकर्म व्यक्ति के कलुष जन्म को सिद्ध कर देते हैं (वही १०.५८) क्योंकि कोई भी अपनी प्रकृति जन्य स्वभाव को छिपा नहीं सकता है— *न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति* (वही १०.५६)। गुणों के कारण ही व्यक्ति आर्य होता है— *भवेद्गुणैः आर्यः* (वही १०.६७)

इसीलिए हीन जन्मा शूद्र भी आचारवान हो कर दीर्घ आयुष्य भोग सकता है (वही ४.१६८)। अज्ञानी, मूढ़ और संस्कार हीन होने कारण ही शूद्र को कोई पाप नहीं है— *न शूद्रेपातकं किंचित* (वही १०.१२६), किन्तु वह भी सत्संगति के प्रभाव से, सदाचरण करता हुआ, इस लोक में ही उत्कृष्टता प्राप्त कर लेता है (वही १०.१२८) और आचरण के हेर फेर से 'ब्राह्मण शूद्र और शूद्र ब्राह्मण हो जाता है'—*शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम्* (वही १०.६५)। अतः जब तक पूरी तरह निश्चय न हो जाए, और संभ्रम की स्थिति बनी रहे, तब तक अपना अवर स्वधर्म भी, दूसरे के श्रेष्ठ प्रतीत होने वाले कर्म से, अच्छा समझ कर व्यवहार करना चाहिए। दूसरे के कर्म से जीविका निर्वाह करने वाला अपनी व्यवसायात्मिका जाति से बहिष्कृत हो जाता है (वही १०.६७)। राजा का कर्तव्य है कि वह सभी को अपने अपने कर्तव्य कर्मों में नियुक्त रखे — *स्वे स्वे धर्मे निविष्टायां सर्वेषामनुपूर्वशः, वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता* (वही ७.३५)

एक स्थान पर कहा गया है कि वेदज्ञ पिता के अश्रोत्रिय पुत्र और अश्रोत्रिय पिता के वेदज्ञ पुत्र में पारिवारिक संस्कारों के कारण श्रेष्ठ तो पहला ही है, किन्तु विद्वानों की सत्कार सभा में वेदज्ञ को ही सम्मान मिलेगा (वही ३.१३६—३७)। इस तथा विद्या, ज्ञान तथा सदाचरण की प्रशंसा में कहे गए अगणित बचनों में से ऊपर उद्धृत कुछ प्रमाणों को देखते हुए, पवित्रात्मा, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्रानुसार वर्तने वाले और सत्संग करने वाले बुद्धिमान (वही ७.३१) और सर्वलोक हितकारी ऋजु और क्षमाशील ब्राह्मणों का सत्कार करने वाले (वही ७.३२) राजा द्वारा *'जातिमात्रोपजीवी'* और *'ब्राह्मणब्रुवः'* को 'धर्म प्रवक्ता' नियुक्त करने की और किसी भी प्रकार शूद्र को नहीं— *न तु शूद्रं कथंचन* (वही ८.२०), की संस्तुति पूर्णतः असंगत ही प्रतीत होती है। अपनी अक्षमता— शास्त्र के अज्ञान और मूर्खता में तो दोनों समान ही कहे गए हैं; शूद्र तो अपने अज्ञान से ही शूद्र होता है परन्तु ब्राह्मण के घर में जन्म लेकर भी अविद्वान रह जाने वाला तो स्वेच्छा से ही शूद्र बन कर भी प्रतिष्ठा पाना चाहने के कारण और भी हीन कहा जाएगा। मनु ने अन्यत्र कहा भी है कि

अज्ञान और प्रमाद से किए गए पाप कर्मो का तो प्रायश्चित किया जा सकता है, किन्तु स्वेच्छा से किया गया पाप कर्म तो फलता ही है– *अज्ञानाच्च प्रमादाच्च* दहते *कर्म नेतरत्* (वही १२.१०१) । 'शूद्र' से यदि यहां विद्वान ब्राह्मण से आचरण विहीन हो कर शूद्र हो चुके व्यक्ति का ग्रहण किया जाए, तो समस्या सुलझ सकती है । वैसे भी, आगे कहा ही गया है कि जिस राज्य में शूद्र–विद्वान अथवा आचरण हीन पतित विद्वान– धर्म की विवेचना करता है, वह राज्य दलदल में फंसी गाय के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । (वही ८.२१) और जिस राज्य में शूद्र और सभी बातों को अस्वीकार करने वाले नास्तिक अधिक हो जाएं, वह राज्य दुर्भिक्ष और रोग से पीड़ित होकर शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है ।

इन सभी विधिनिषेधों का उपसंहार करते हुए कहा गया है कि सभी शरीर धारियों के सभी दस प्रकार के पाप कर्मो का प्रेरक मन ही है । इनमें से मानस कर्म तीनप्रकार के होते हैं –१,दूसरे की वस्तु पर दृष्टि रखना, २,मन में दूसरों का अनिष्ट चिन्तन करना और ३,निष्प्रयोजन अथवा अलीक वस्तु मेंआग्रह अथवा मोह रखना । वागाश्रित दुष्ट कर्म चार प्रकार के हैं–१, कठोर बचन बोलना, २,असत्य भाषण, ३,पैशुन्य अर्थात चुगली करना और ४, असम्बद्ध प्रलाप करना । शरीर से सम्पन्न होने वाले पापकर्म तीन प्रकार के होते हैं– १,बिना दिए हुए ही किसी की वस्तु ले लेना, २, शास्त्र विधान के अतिरिक्त किसी को पीड़ा पंहुचाना और ३, पराई स्त्री से सम्पर्क स्थापित करना (वही १२–४–७) । ब्राह्मण को अधर्म की ओर ले जाने वाले इस सभी दुष्ट कर्मो का त्याग कर ही देना चाहिए – *अधर्मपथांस्त्यजेत्* (वही १२.८) । पर अज्ञान और प्रमाद से ऐसे पाप हो जाने पर, उनको, चरित्र की उज्जवलता का प्रमाण देते हुए, साहस पूर्वक स्वीकार करना चाहिए और उनके लिए पश्चाताप प्रकट करना चाहिए । ऐसा करता हुआ ही, यदि वह 'अब आगे ऐसा नहीं करूंगा' जैसी प्रतिज्ञा करके, अपने कर्तव्य कर्मो का निष्ठापूर्वक पालन करता रहता है– *ख्यापने नानुतापेन तपसाऽध्यनेन च* (वही ११.२२७) और *नैवं कुर्या पुनरिति* –तो वह– *निवृत्त्या पूयते तु सः* (वही ११.२३०)– पाप के दोष से मुक्त हो जाता है ।

ब्राह्मण वर्ण के व्यक्तियों के लिए करणीय और अकरणीय कर्मो के इस अति संक्षिप्त विवरण से एक बात जो स्पष्ट होती है वह यही है कि **मनु की कल्पना का ब्राह्मण एक असाधारण प्रतिभा सम्पन्न महाविद्वान ही नहीं, अपितु आदर्शों के प्रति समर्पित, चरित्र– बल सम्पन्न, निर्लोभ और निःस्पृह तपस्वी ही था** । कहा जाता है कि मनु का यह विधान–मनु स्मृति– केवल विधि विशेषज्ञों के ही अध्ययन–अध्यापन का विषय होने से, केवल उन्हीं में सीमित रह गया था और लोक में बहुजन समाज को इन मान्यताओं और सिद्धान्तों से अपरिचित ही रखा गया था । यह भी प्रचारित किया जाता है कि बौद्ध सम्प्रदाय के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध ने ही सर्वप्रथम '*धम्मपद*' और फिर भदन्त अश्वघोष ने अपने 'वज्रसूचि *उपनिषद*' में उसे दुहरा कर ही, ब्राह्मणों की ज्ञान परक और सदाचरण पर आश्रित व्यवस्था दी थी । ये दोनों ही बाते सर्वथा सत्य नहीं है । इस सम्बन्ध में बौद्ध सम्प्रदाय

द्वारा की गई पहल के विषय में इतना ही बताना पर्याप्त है कि यदि महात्मा बुद्ध द्वारा ब्राह्मण की यह परिभाषा जन समाज मेंप्रचलित होकर सर्वमान्य न हो चुकी होती तो, उनके अधिकांश महत्वपूर्ण शिष्य अपनी ब्राह्मण वर्गगत सामाजिक प्रतिष्ठा को त्याग कर उनके अनुयायी न बने होते। तथा कथित निम्नवर्ग से आए हुए उनके शिष्यों की संख्या अंगुलियों पर गिनी जा सकती है। इस विषय में महात्मा बुद्ध द्वारा एक विशेष नियम, कि शूद्र अपनी स्वामी की आज्ञा—अनुमति लेंकर और उऋण होकर ही *'पब्बजा*—प्रब्रज्या ग्रहण कर संघ मेंसम्मिलित किया जा सकेगा, कुछ दूसरी ही कथा कहता प्रतीत होता है। इससे तो यही प्रकट होता है कि तथाकथित शूद्र वर्ग से आऐ हुए या आ रहे लौग, बुद्ध के संदेश के भाव सौन्दर्य अथवा दार्शनिक महत्व को स्वीकार करके नहीं, वरन् अपनी लोभ, नास्तिक्य, भिन्न— वृत्तिता, याचिष्णुता और प्रमाद—आलस्य आदि तामसिक गुणों (मनु १२.३३) के वशीभूत होकर ही, बिना कर्म किए ही वृत्ति— भरण पोषण— के साथ ही सुलभ होने वाले सम्मान की लालसा और आशा से ही बौद्ध हो रहे थे— होना चाह रहे थे।

दूसरी ओर, हमारे पुराण आदि इतिहास ग्रन्थों की रचना वैदिक मन्तव्यों को रोचक ढंग से प्रस्तुत करते हुए, लोक ग्राह्य बनाने के लिए ही हुई थी। आज कल होने वाले रामायण और गुरुग्रन्थ साहिब के अखण्ड पाठ, जिनमें समझने समझाने का कोई विशेष अवकाश नहीं रहता है, के स्थान पर, उस समय मन्दिरों में नित्य ही पुराणों और महाभारत आदि, जीवन में उदात्त जीवन—मूल्यों की स्थापना कराने में समर्थ ग्रन्थों का सव्याख्या सार्वजनिक वाचन होता था। अपनी कादम्बरी नामक आख्यायिका में महाकवि बाणभट्ट नेइसका बड़ा ही मार्मिक उल्लेख किया है। अब, महाभारत मेंअनेक स्थानों पर विभिन्न प्रसंगों में वर्ण धर्म की चर्चा आई है। एक स्थान पर महर्षि भृगु के मुख से कहलवाया गया है कि विभिन्न वर्णो में कोई तात्विक अन्तर नहीं हैं, ब्रह्म द्वारा उत्पन्न किए गए सभी प्रारम्भ मेंब्राह्मण ही थे (तुलना करें *भविष्य महापुराण*ब्राह्मपर्व४४५—६)। कालान्तर में उनमें अपने ही कर्मो के भेद से — *त्यक्त्वा स्वधर्मः* — स्वधर्म छोड़ दिए जाने से वर्ण विभाग उत्पन्न हो गया था (म. भा; १२.१८८.१०)। अन्यत्र, शुक्रनीति में भी इसी बात को दुहराते हुए कहा गया है कि संसार में कोई भी मनुष्य जन्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा म्लेच्छ नहीं होता है। वस्तुतः, इस सब भेद का कारण उनके गुण और कर्म ही होते हैं। सम्पूर्ण जीव ब्रह्मा से ही उत्पन्न हुए हैं, अतः क्या वे सभी ब्राह्मण कहला सकते हैं? कदापि नहीं। क्योंकि किसी वर्ण विशेष के पिता के घर में उत्पन्न होने से ही ब्रह्मवर्चस (अथवा क्षात्र तेज आदि) नहीं प्राप्त हो जाते हैं। इसके लिए तो श्रम और तप पूर्वक ज्ञान और कर्म की उपासना करते हुए, शान्ति, दानशीलता और दया, करुणा आदि गुणों को आत्मा मेंधारण करना होता है (*शुक्रनीतिसार*१.३८—४०)। इसी प्रकार अन्य वर्णो के लिए भी जानना चाहिए (वही ४१—६४)।

अन्यत्र, मार्कण्डेय ऋषि द्वारा सुनाई गई धर्मव्याध की कथा के अनु सार भी धर्म केवल जन्म और व्यवसायाश्रित जाति पर ही आधारित नहीं होते हैं

और स्वीकार किया गया है कि जो ब्राह्मण दाम्भिक, दुष्कृत होकर पतन की ओर ले जाने वाले विकर्म— शास्त्रादि विरुद्ध कर्मों—में फंसा हुआ है, वह शूद्र ही है और जो शूद्र शम, दम, सत्य करुणा— कृपा और स्वधर्म पालन में सदा तत्पर रहता है, वह ब्राह्मण ही होता है, क्योंकि कोई जन्म से नहीं, वरन *'वृत्तेन हिभवेद् द्विजः'* (म. भा. ३.२१६.१३—१५) । इसी प्रकार, आजगर' पर्व में भी सर्प के प्रश्नों का उत्तर देते हुए 'धर्मराज' युधिष्ठिर ने पूरी वैचारिक निष्ठा के साथ कहा था कि सत्य, दान, क्षमा, शील, आनृशंस्यता, तप और दया, जहां जिसमें भी मिलें, उसे ही ब्राह्मण जानना चाहिए (३.१८०.२१; देखें, १२.१८६.४) । यदि शूद्र में उपर्युक्त लक्षण हैं और ब्राह्मण में नहीं है, तो वह शूद्र शूद्र नहीं है, और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है । जिसमें ये लक्षण हैं, वही ब्राह्मण है और जिसमें नहीं है, उसे शूद्र ही कहना चाहिए (वही ३.१८०.२६ देखें, १२.१८६.८) । जब तक कोई वेदाध्ययन नहीं करता, वह शूद्र ही रहता है— *तावच्छूद्रसमो ह्योष यावद् वेदे न जायते* (वही ३.१८०.३३; देखें, मनु २.१७२) । और भी, कहा गया है कि यदि वैदिक संस्कारों और वेदाध्ययन करने के बाद भी ब्राह्मणादि द्विजवर्णों में शील और सदाचार का उदय नहीं हो सका है, यदि विद्या पाकर वह विनयी नहीं हो सका है — *विद्याददाति विनयं,* तो उसमें प्रबल वर्ण संकरता— *'नुत्फे में फर्क है'*— है, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए (वही ३.१८०.३५—३६) । जिनमें विद्या और संस्कार आदि के साथ ही सदाचार भी हो, उन्हें ही ब्राह्मण कहना चाहिए (वही ३७) ।

महाभारत में ही अन्यत्र कहा गया है कि लोक में यह सारा ब्राह्मण समुदाय अपने सदाचार से ही अपने पंद पर प्रतिष्ठित रहता आया है । सदाचार में स्थित रहने वाला शूद्र भी ब्राह्मण्य प्राप्त कर लेता है— *सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विधीयते, वृत्तस्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति* (म. भा. १३.१४३.४७) । शूद्र भी यदि जितेन्द्रिय होकर पवित्र कर्मों को करता हुआ, अपने अन्तः करण को शुद्ध बना लेता है, तो वह भी द्विज की तरह ही सेव्य हो जाता है (वही ४८) । यदि शूद्र का स्वभाव और कर्म—दोनों ही उत्तम हों, तो वह द्विज से भी अधिक सम्मान का पात्र है (वही ४६) द्विजत्व का कारण सदाचार ही है— *द्विजत्वस्य वृत्तमेवतु कारणम्* (वही ५०) । ब्राह्मण स्वभाव से ही समदर्शी होता है— *ब्राह्मः स्वभावः... ... समः सर्वत्र* (वही ५२) । अन्यत्र कहा गया है कि परिचर्या पूर्वक प्रजा का पालन करने के कारण वेदज्ञ लोग 'शूद्र' को प्रजापति कहते हैं, परन्तु पराशर मुनि का वचन है कि इसी (पालन) कर्म के कारण ही वह तो साक्षात् विष्णु है (म. भा. १२.२६६.२८) । उन्हीं ने आगे कहा है कि जन्म और संस्कार से श्रेष्ठ होकर भी कोई पुरुष यदि निन्दित कर्म—*कुर्वाणं कर्म धिक् कृतम्*—करता है तो, उसका वही कर्म उसे कलंकित कर देता है । अतः किसी भी दृष्टि से दुष्कर्म करना वांछनीय नहीं है (वही ३४) ।

वैदिक मन्तव्यों के आधार पर मनु प्रतिपादित चातुर्वर्ण विभाग की ही तरह, किसी न किसी प्रकार का सामाजिक स्तरीकरण और वर्ग-विभाग सभी देश-काल में मिलता है । सुमेर और असुर (ईराक और सीरिया) सभ्यता के *'अविलुन'*—

अभिजात वर्ग, *'उम्मने'*—व्यवसायी और *'मुश्केनुम'*— निम्न वर्ग (राक्स १९६६:३१३—३१४), ईरान के *'अथ्रवन'*— विद्वान पुरोहित, *'रथेस्था'*— राजन्य और सामान्य जन, यूनान में अथेन्स के *'यूपैट्रिडाय'*— अभिजात स्वामी, *'ज्योर्गी'*— भूमिधर कृषक और *'डेम्युर्गी'*— शिल्पादि व्यवसायी और सेवक (ब्यूरी १९०), रोम के *'पैट्रीशियन'*—उच्च और *'प्लेबियन'*—निम्न वर्ग ओर १८वीं शताब्दी ईस्वी के योरोप में मान्य होकर स्थापित होचुके चार प्रसिद्ध वर्ग— इसी वर्गीकरण की सार्वभौम प्रवृत्ति के कुछ प्रमुख उदाहरण और प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ईस्वी पूर्व पांचवीं और चौथी शताब्दी में यूनान के प्लाटो और अरस्तू जैसे प्रमुख विचारकों ने, भारतीय प्रभाव को ग्रहण करते हुए ही, इन वर्गो की समाज—पुरुष के विभिन्न अंगों के रूप में व्याख्या की थी (उर्विक १९२०)। सोलहवीं शताब्दी ईस्वी में चगताई वंश के अकबर बादशाह के दरबारी विद्वान अबुलफजल ने अपनी 'आइन—ए—अकबरी' में सैनिकों, व्यापारियों, विद्वानों और कृषक—श्रमिकों के चार वर्गो का उल्लेख करते हुए कहा था कि इन्हें व्यक्तिगत योग्यता और पारस्परिक सद्भाव और सम्मान के साथ अपने अपने कामों में लगा रखने से ही राज्य का अभ्युदय होसकता है। इन सभी के सामञ्जस्य से ही समाज का सन्तुलन बना रहता है (घरपुरे १९५०:५१)। इसी प्रकार, लगभग सौ वर्ष पूर्व जर्मनी के चिन्तक आदम म्यूलीर ने भी, आर्ष परम्परा के प्रभावों को ग्रहण करके ही, पुरोहितों—अध्यापकों, भूस्वामियों आदि राजन्य वर्ग, व्यापारियों—शिल्पियों तथा कृषक और अकुशल श्रमिकों जैसे चार वर्गो के आधार पर ही आदर्श समाज की व्यवस्था करने का सुझाव दिया था (वही ५१—५२)।

इन्हीं तथ्यों के आधार पर समाज शास्त्री भी स्वीकार करने लगे हैं कि सामाजिक संघटना में व्यक्ति को उचित स्थान दिलाने और उसे प्राप्त करने के लिए प्रेरित करने के लिए ही स्तरीकरण और वर्ग विभाजन कीमूल अवधारणा को समझने—समझाने की आवश्यकता होती है (किंग्स्ले डेवीस् और डब्ल्यू.ई. मूर १९४६:२४२—४६ प्रभु १९७९:३२७—२८)। व्यक्ति की योग्यता, क्षमता, बौद्धिक विकास और स्वाभाविक अभिरुचि के स्तर के अनुसार ही निकट आते गए लोगों के समुदाय के रूप में ही यह वर्गीकरण स्वतः ही होता जाता है (आर.एस. एलिस. द *साइकोलोजी आफ इन्डिवीजुल डिफरेन्सेज,* १९३०, ३८८—४०४;ए. अनस्तासी. *डिफरेन्शियल साइकोलोजी,* १९५८— प्रभु १९७९: ३२९)। मगर देखा गया है कि विभिन्न वर्ग एक बार अधिकार और विशेषाधिकार प्राप्त कर लेने पर, उनके स्थायित्व के लिए, सभी प्रकार के अच्छे और बुरे प्रयत्न करने लगते हैं और फिर जन्म होता है वर्ग संघर्ष का। कुछ कुटिल और स्वार्थी व्यक्ति इस वर्ग संघर्ष को अपने प्रवंचना पूर्ण किन्तु 'चारुवाक्' तर्को से बढ़ावा देकर, अपने ही वर्ग का वर्चस्व स्थापित करने का अवसर पा लेते हैं। कालान्तर में वे भी लोकहित और सामाजिक न्याय के नाम पर बलात् प्राप्त किए गए विशेषाधिकारों को स्थायित्व प्रदान करने में यत्नशील होकर, नवीन वर्ग संघर्षो की अनन्त श्रृंखला को जन्म देने में सफल हो जाते हैं। मार्क्स और लेनिन के अनुयायियों ने रूस, चीन और अन्यान्य स्थानों

पर इसी नीति का अनुपालन करके ही, सत्ता प्राप्त की हैं। जो कुछ भी हो, डब्ल्यू.जी.सुम्नर का कहना है इतिहास (पाश्चात्य देशों का ही?) की काफी छान–बीन करनें के बाद भी, उसे ऐसा कोई काल खण्ड नहीं मिला जिसमें वर्ग संघर्ष का अस्तित्व न रहा हो (१६१३:२५३– प्रभु १६७६:३२३)। निश्चय ही उसने भारतीय इतिहास का अध्ययन नहीं किया था। पाश्चात्य देशों की संस्कृतियों में सम्पत्ति–समृद्धि को ही इस वर्गीकरण का आधार बनाया गया था और सामाजिक परिवर्तन शीलता के विषाणुओं से ग्रस्त होने के कारण ही मैक आइवर जैसे अनेक समाज शास्त्री प्रत्यक्ष, अर्जित किए जाने योग्य और परिवर्तन शील होने की कारण, सम्पत्ति के आधार पर होने वाले वर्गीकरण को श्रेष्ठ मानते हैं (१६४६:१२४–प्रभु १६७६–३२३)।

इन विद्वानों ने निश्चित ही भारतीय इतिहास और परम्परा का समुचित अध्ययन नहीं किया था, अन्यथा वे ऐसी असंगत बात कभी न कहते। धन सम्पत्ति के प्रत्यक्ष होने से ही ईर्ष्या उत्पन्न होती है और परिवर्तन शील होने से ही बलपूर्वक प्राप्त करने की लालसा और फिर वर्ग संघर्ष का अनन्त क्रम चल पड़ता है। भारतीय आर्ष परम्परा में 'अर्थ' को कर्तव्य– 'धर्म' से नीचा स्थान दिया गया था और 'अर्थ' से प्राप्त की जाने वाली सुख–सुविधाओं को कभी भी सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार नहीं स्वीकार किया गया था। प्रत्यक्ष रूप से दिखने वाली धन –सम्पत्ति के स्थान पर, विद्वानों में परोक्ष रूप से रहने वाली विद्या, जिसे *'न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति'*, को ही वास्तविक और अक्षय निधि–*ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः* (मनु ७.८३) कहा गया है। जैसा कि पूर्व उद्धृत वचनों से स्पष्ट हो जाता है, व्यक्ति की कर्तव्य–परायणता और तदाश्रित ज्ञान, संस्कार, आचार और लोक–हित चिन्तन को ही प्रतिष्ठा का मूल आधार माना गया था। और इसी लिए सर्वोच्च प्रतिष्ठाप्राप्त ब्राह्मण को, स्वेच्छा से ही आर्थिक असुविधाओं को सहन करते हुए भी, सायास अपनी कर्तव्य परायणता सिद्ध करनी पड़ती थी, और तभी वह *ब्राह्मण्य* का अधिकारी हो पाता था। दूसरी ओर, शूद्र भी, जिसे अज्ञानी होने कारण ही 'पाप भावना' (न कि अपराध के दण्ड से) मुक्त रखा गया था– *न शूद्रे पातकं किंचित्'* (मनु १०.१२६),अपनी कर्तव्य निष्ठा, सदाचरण और ईर्ष्या हीन वृत्ति– *सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः* (वही १०.१२८) के अनुरूप ही इस लोक में अधिकाधिक प्रतिष्ठा पाता जाता था और सेव्य और सम्मान्य हो जाता था। ऐसी ही क्षमतानुरूप कर्तव्य परायणता की अपेक्षा अन्य दोनों वर्णो से भी की जाती थी। कर्तव्यच्युत होने पर पतन अवश्यम्भावी था और उसकी गम्भीरता का अनुपात व्यक्ति की ऊंचाई जितना ही होता था।

इस सन्दर्भ में इस्राईल के सामुदायिक सम्पत्ति रखने वाले 'वर्गविहीन' समाज की स्थापना के लिए किए जाने वाले 'किब्बुत्ज' संज्ञक प्रयोगों के विषय में जानना रोचक ही नहीं, ज्ञानवर्धक भी होगा। इन समुदायों में अर्थ और उसके आधार पर ही प्राप्त हो सकने वाली सुख–सुविधाओं के अभाव में, समाज का हित–चिन्तन करने की योग्यता, हित करने का सामर्थ्य और नेतृत्व प्रदान करने की क्षमता ही प्रतिष्ठा की कसौटी और प्रेरक तत्व हैं। क्रमशः इन वर्गों की सन्तति

भी जन्म अथवा पारिवारिक परिवेश में सुलभ संस्कारों के कारण ही, शीघ्र प्रतिष्ठा पाने में सफल होती देखी गई है। नए सिरे से सामुदायिक जीवन को आरम्भ करने के लिए उत्सुक लोगों से योग्यता, क्षमता और कर्तव्य परायणता की अपेक्षा होते हुए भी, प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्तियों की प्रतिष्ठा प्रायः अक्षुण्ण ही रहती है। अतः इवा रोजेन्थाल ने सामाजिक स्तरीकरण को सभी समाजों में समान रूप से होने वाली सामान्य प्रक्रिया मान कर भी, व्यक्तियोंऔर वर्गोमेंप्राप्त हो चुकी इस प्रतिष्ठा को स्थायित्व प्रदान किए जाने के प्रयत्नों के आरम्भ हो जाने को भी लगभग अनिवार्य ही माना है (१६५१:७६६–७४– प्रभु १६७६:३२४–२५)।

प्राचीन परिस्थितिओं और इन आधुनिक अध्ययनों को देखते हुए, मनु के विधान और उसकी पृष्ठभूमि में उपस्थित आर्ष अवधारणा की श्रेष्ठता स्वीकार करनी ही पड़ती है। इसका प्रधान कारण यही है कि उन्होंने स्तरीकरण की इस मूल प्रवृत्ति को पहचानते और स्वीकार करते हुए ही, इसे स्थायित्व प्रदान करने की स्वाभाविक किन्तु दूषित और विघटनकारी वर्ग संघर्ष को जन्म देने में समर्थ प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने का सफल प्रयास ही नहीं किया था, सफलता भी पाई थी। ईर्ष्या, द्वेष और तज्जन्य संघर्ष के प्रत्यक्ष कारण, धन–सम्पत्ति को ही नहीं, उसे छीनने में समर्थ होकर, उस संघर्ष को उत्तेजित कर सकने वाले बाहु–शस्त्र बल को अवर घोषित करते हुए, अर्थ औरबल हीनता के साथ ही ज्ञान और संस्कार को सर्वोच्च प्रतिष्ठा के कारण के रूप में प्रतिष्ठापित कराया था। अब सर्वोच्च प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए कुछ पाना नहीं था, सब कुछ त्यागना ही होता था। भारतीय इतिहास में जब भी किसी ने प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए संघर्ष करने का विचार किया भी है, तो उसने, भले ही पाषण्ड ही किया हो, सर्वस्व त्याग करके ही, सन्यासी होकर ही, अपना वांछित प्राप्त किया है। विश्वामित्र को वसिष्ठ से प्रतिस्पर्धा करने पर धन अथवा शस्त्र बल से नहीं, अपितु दोनों का त्याग करके, अपनी मनोवृत्ति सुधारने के बाद ही, सफलता मिली थी। कुछ पाने के स्थान पर सर्वस्व त्याग के ही महत्व पूर्ण हो जाने से, भारतीय इतिहास में ,पाश्चात्य जगत में सतत प्रवर्तित होने वाले, प्यूनिक युद्ध जैसे, वर्ग संघर्षों का नितान्त अभाव रहा है। कुछ पाने के लिए किए जाने वाले वर्ग संघर्षों के स्थान पर ,भारतीय आर्ष परम्परा का इतिहास व्यक्ति द्वारा सर्वस्य त्याग करके आत्मसंघर्ष की गाथाओं से ही भरा पड़ा है। इस वर्ग संघर्ष के अभाव को भारतीय इतिहास की गति हीनता मानना आत्मप्रवंचना की ही नहीं, वरन् अपने को ही सदा ठीक मानने की अतिमानग्रस्त आसुरी मानसिकता की भी उपज है।

श्रेष्ठ प्रवृत्तियां कष्ट साध्य होती हैं, किन्तु *'आगे मीठ अरु पाछे करुआई'* जैसी लोकोक्तियों के होते हुए भी,हीन प्रवृत्तियों का आकर्षण दुर्निवार और अत्यन्त प्रबल होता है। इन्हें दण्ड भय से ही नियंत्रित किया जा सकता है। इसी लिए इन दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाए रखने के लिए ही मनु ने राजा को सभी को क्रम से अपने अपने धर्म–कर्तव्य पालन में निविष्ट रखते हुए, वर्णों ओर आश्रमों की रक्षा करने के लिए अधिकृत किया था– *स्वे स्वे धर्मे निविष्टायां सर्वेषामनुपूर्वशः*

वर्णानामाश्रमाणा च राज्ञो सृष्टोऽभिरक्षिता (७.३५)। अतः जब तक शासक वर्ग भारतीय ही नहीं, वैदिक जीवन मूल्यों के प्रति निष्ठापूर्वक समर्पित रहा है, तब तक यह व्यवस्था ठीक से चलती रही है। बहुत बाद तक भी भारतीय आर्ष मूल्यों के प्रति समर्पित राजा गण अपने देश और काल में धर्म, अर्थ और काम को सुविभक्त रखते आए थे— *सुविभत तिवग देसकालस*, और गुण, कर्म और स्वभाव पर आधारित वर्णो में होने वाले सम्मिश्रण को रोकने के प्रयासों में सफल होकर—*विनिवतित चातूवणं संकरस*—गर्व का अनुभव करते थे (सातवाहन नरेश वासिष्ठीपुत्र पुळुमावि का नासिक गुहा लेख, सरकार १९४२:१९७—१९९)।

महात्मा बुद्ध के स्पष्ट समर्थन के बाद भी, उनके अनुयायियों द्वारा, स्वार्थवश ही भ्रम फैलाए जाने से, वैदिक जीवन मूल्यों के प्रति श्रद्धा और समर्पण घटने लगा था। इस घटती श्रद्धा और बढ़ती अश्रद्धा के समय में मात्र त्रिरत्न—बुद्ध,धर्म और संघ— में श्रद्धा रखते हुए, भिक्षुओं को भोजन वस्त्र दे देने से प्राप्त होने वाले निर्वाण जैसे सहज धर्म के आकर्षण से ही बौद्ध बनी विदेशी आक्रमणकारी जातियों ने श्रम और तप साध्य वैदिक मूल्यों की अवहेलना करनी प्रारम्भ कर दी थी। उन्हीं की देखा देखी, अथवा आगन्तुकों और उनके स्थानीय मतावालम्बियों को अल्पसंख्यक स्वीकार करते हुए, उनके तुष्टीकरण को भ्रम वश अंहिसा मान लिया गया था और त्रिवर्ग और वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठापना को, समान नागरिक संहिता के समान ही, उनके मौलिक अधिकारों में हस्तक्षेप और हनन्। इस प्रकार भारतीय नरेश भी अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करने लग गए थे। तभी से वर्ण व्यवस्था शिथिल होने लग गई थी और वर्ण संकरता बढ़ने लगी थी। इसी के वशीभूतं होकर ब्राह्मण गुरु ने अपने और अपने शिष्यों के भरण—पोषण के लिए मिलने वाले अन्न वस्त्र के स्थान पर शास्त्र में वर्जित—*कृषिर्वेदविनाशाय*—भूमि दान लेना प्रारम्भ कर दिया था। पहले तो उसकी सन्तान कृषक और भूस्वामी बन कर वेद—विद्या से कट गई और फिर शीघ्र ही हाथ में राजदण्ड भी ग्रहण करने लग गई थी। जो इतने क्षमता वान नहीं थे, उन्होंने व्यापार ही नहीं, निषिद्ध वस्तुओं का भी व्यापार प्रारंम्भ कर दिया था। जब गुरु और शिक्षक का यह हाल हो रहा हो, तब शिष्य—क्षत्रिय और वैश्यों— का तो कहना ही क्या था। सभी प्रकार से बढ़ती वर्ण संकरता के इसी युग में सर्वक्षयान्तकारी इस्लाम के बर्बर ध्वजाधारियों का आना प्रारम्भ हुआ था। वर्ण संकर हो चुके समाज में उस आंधी का सामना करने की शक्ति नहीं थी। अब सभी को अपनी सुरक्षा की लिए परिवार,कुल और फिर व्यवसायों के अनुसार संघटित होकर प्रतिरोध करने में ही कुशल दिखाई दी थी। इन्हीं व्यवसायाश्रित संगठनों के रूढ़ हो जाने के कारण ही आज मिलने वाली जाति—विरादरी की संस्थाओं का उदय हुआ है।

इनके वेद विरुद्ध होने और दोषों और दुष्प्रभावों को पहचान कर ही, महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इसे समाप्त करने के लिए गुण,कर्म और स्वाभाव के अनुसार सभी को आत्म विकास का समान अवसर देने वाली वैदिक वर्ण व्यवस्था की पुनर्प्रष्ठिा का ईस्वी सन् १८७५ से ही अथक प्रयत्न करना प्रारम्भ कर दिया था (१९७०:८४—९०)। तब से लेकर अब तक अनेक मनीषियों ने अपने अपने ढंग

से अनेक प्रयत्न किए हैं। दुर्भाग्य से स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद के इन पचास वर्षों में इन, प्रयत्नों को वोट की राजनीति से बहुत बड़ा धक्का लगा है। यूं तो प्रारम्भ से ही आर्ष परम्परा के उत्तराधिकारी बृहत् हिन्दू समाज में असुरक्षा की भावना से प्रेरित होकर बने अनेक व्यवसायाश्रित संघटनों—जातियों का प्रयोग निर्बाध रूप से होताआ रहा था, पर पिछले दशक में अल्पसंख्यकों को असुरक्षा की भावना के नाम पर तुष्टीकृत होते देख कर, कुछ स्वार्थी और अहंवादी नेताओं ने सामाजिक न्याय के नाम पर बहुजन समाज के इन विविध व्यवसायाश्रित संगठनों—जातियों में भी असुरक्षा की मध्यकालीन भावना को जगा कर, अपनी और अपने परिवार के नेतृत्व को सुदृढ़ करने और सत्ता की लालसा को तृप्त करने का प्रयास करना प्रारम्भ कर दिया है। इन्हें बृहत् हिन्दू समाज की चिन्ता नहीं है और ये उसे और भी विश्रृखंल करने में आंख मूंद कर लगे हैं और यह भूल जाते हैं अथवा स्मरण नहीं रखना चाहते है कि जब हिन्दू समाज ही नहीं रहेगा, तो सामाजिक न्याय कहां और किससे मिलेगा। 'आज की आज, आकबत की खुदा जाने' ही इनका आदर्श वाक्य हो गया प्रतीत होता है।

ऊपर अनेक बार **'वर्ण संकर'** शब्द की चर्चा आई है। भारतीय परम्परा से पूर्णतः परिचित और सुविज्ञ विद्वान भी इस समस्या का सामना करने से कतराते हैं, और सामना हो जाने पर मनु की गिनाई हुई जातियों को वास्तविक मानने की भूल करते हुए ही, क्षमा प्रार्थना की मुद्रा में आकर, अटक जाते हैं (देखें, प्रभु १६७६:२६६.७)। मनु से इस सूची के अन्त में कहा है कि माता पिता के ज्ञात होने से ही इस संकर जातियों का नामोल्लेख किया जा सका है —*संकरे जातयस्त्वेताः पितृ मातृप्रदर्शिताः*। अभिज्ञान लुप्त या गुप्त होने पर उनके माता पिता अर्थात् उनमें विद्यमान सत्त्वादि गुणों की पहचान अथवा अनुमान उनके अपने अपने कर्मो के आधार पर ही कर लेने का सुझाव भी दिया गया है— *प्रच्छन्ना वा प्रकाशः वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः* (१०.४०)। एक व्यक्ति के ही माता—पिता की पहचान कठिनाई से की जा सकती है, फिर गण समुदायों के माता पिता की वास्तविक पहचान किस प्रकार की जा सकेंगी? अग्रवालों के पूर्व पुरुष महाराज श्री अग्रसेन तथा कायस्थों के श्री चित्रगुप्त जैसे पूर्व पुरुषों की मान्यता तो, मनु जैसे किसी वैज्ञानिक अनुमान पर भी आधारित न हो कर, सर्वथा काल्पनिक ही होती है। अतः मनु और उन्हीं जैसे अन्य मनीषियों की इस प्रकार की मान्यता और वचनों का निश्चय ही कोई और ही अर्थ होना चाहिए।

मनु द्वारा प्रस्तुत संकर जातियों की सूची पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इनमें क्षेत्रीय गण समाज, जिनमें बहुत दिनों तक गणतंत्रीय शासन पद्धति अक्षुण्ण रही थी, के साथ ही विभिन्न व्यवसायों से जीवन—यापन करने वाले वनवासी औरजीविकोपार्जन करने वाले कुशल कर्मकरों का परिगणन किया गया है। उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध आन्ध्रों (३६) और द्रविड़ों (२२) के साथ वैशाली के लिच्छवियों, कुसीनारा और पावा के मल्लों (२२); मागध, विदेह (११); रीवां क्षेत्र के कारूष (२२, देखें, चौधुरी १६५५:३६—७); अम्बष्ट (१८, एरियन, मजूमदार १६६०.७५) जिनके नाम धारी आज बिहार में कायस्थ और दक्षिण भारत में 'अम्बट्टन'

के नाम से नापित माने जाते हैं; वाटधान (२१), जिन्हें महाभारत में द्विज— *वाटधानान् द्विजानथ* (२.२९.४) कहा गया है; सात्वत (२३) जो कभी श्री कृष्ण के यादव संघ के एक प्रमुख घटक रहे थे, का भी उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार, शकों पह्लवों की ही तरह मध्य एशिया से आए आभीर (१५,लाहा १९५४:२७५); ईरान के पारशव (८, पर्शव अथवा पार्थव) तथा इस्लाम के उदय के बहुत पूर्व से ही अरब से आते रहने वाले शेखों (२१) का भी उल्लेख हुआ है। मेद (३६) सम्भवतः मद्र देश के वासी थे अथवा मेदपाट—मेवाड़ के स्थानीय भील भी हो सकते हैं। मैत्रेयक (३३) तथा मैत्र (२३) का उल्लेख क्रमशः सौराष्ट्र के इसी वंश के शासकों तथा आधुनिक बंग के मैत्र या मित्र उपनामों का स्मरण करा देता है। इसी प्रकार बिहार में कायस्थ माने जाने वाले करण (२२) लिपिक वर्ग के अर्जीनवीस या नकल नवीस जैसा ही कोई व्यवसाय करते रहे होंगे। मछली पकड़ने वाले निषाद (८) और नौका चलाने वाले केवट—कैवर्त (३४) तो सुविज्ञात ही हैं। पुक्कस (१८), कुक्कुटक (१०) और श्वपाक (१९) भी सम्भवतः पक्षी पकड़ने और अन्य वन्य पशुओं का आखेट करके जीवन यापन करने वाले वनवासियों के प्रतिनिधि हैं। स्वतंत्र होते हुए भी प्रसाधन और शरीर संवाहन जैसे दासयोग्य कर्म करने वाला सैरिन्ध्र (३२) इस तरह के सेवा कर्मो से जीविकोपार्जन करने वालों का प्रतिनिधि माना जा सकता है। महाभारत के विराट पर्व में अज्ञातवास के समय इसी व्यवसाय कोअपनाने के कारण ही द्रौपदी को 'सैरिन्ध्री' कहा गया है। आज कल 'ब्यूटी पार्लर' चलाने वाले या वाली 'ब्यूटीशियन' को द्रौपदी की प्रतिमूर्ति माना जा सकता है।

मनु स्मृति की संकर जातियों की इस सूची में आए नामों की इस पहचान से ही इसका एतिहासिक काल में बना होना और प्रक्षिप्त किया जाना स्पष्ट हो जाता है। प्रतीत होता है कि मनु की मूल स्थापनाओं और मन्तव्यों के आधार पर किसी उपाध्याय ने अपने शिष्यों को वर्तमान समय की परिस्थितियों में उनका प्रयोग दिखलाने—सिखलाने के लिए ही इन श्लोकों की रचना की होगी और हस्तलिखित ग्रन्थों के उस काल में, उपान्तलेख — marginal notes — की तरह लिख लिए गए इन श्लोकों को प्रतिलिपि कार ने स्थायित्व प्रदान कर दिया था। जो भी रहा हो, निश्चय ही इन श्लोकों से मनु की मूल मन्तव्यों को समझने में सहायता तो निश्चय ही मिलती है।

अब इन सब गणों अथवा व्यवसायों के व्यक्तियों के माता—पिता के अभिज्ञान के कारण ही, इनके नामों और व्यवसायों का नामोल्लेख किए जाने की बात को शब्दशः सत्य मान लेने वालों की तत्वान्वेषिणी बुद्धि पर तो दया ही की जा सकती है, श्रद्धा नहीं। अभी पिछले दिनों 'वोट १९९९' की चर्चा में किसी ने कांग्रेस और रामो—वामों के 'कोहैबीटेशन'— cohabitation — का उल्लेख किया था। अब ऐसे विद्वान इसका क्या अर्थ ग्रहण करेंगे? ऐसे ही गाली देते हुए 'सुअर का बच्चा', 'गदहे की औलाद' या फिर 'उल्लू का पठ्ठा' भी कह दिया जाता है। ऐसे सभी प्रयोगों को अलंकारिक प्रयोग मानते हुए, उनके पीछे सन्निहित भावना पर ध्यान केन्द्रित करने का ही प्रयास किया जाना चाहिए और वही उचित भी होगा। यहां कुछ पूर्व उद्धृत वचनों को दुहराना अप्रासंगिक न होगा। एक स्थान पर पिता को बीज और माता को क्षेत्र मान कर— *क्षेत्रभूतास्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्*

(मनु ६.३३) कहा गया है कि कुछ लोग बीज की प्रशंसा करते हैं और कुछ लोग क्षेत्र की— *बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः* (वही १०.७०), परन्तु इन दोनों के समान रूप सेठीक होने पर ही उत्पन्न सन्तान श्रेष्ठ होती है— *उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते* (वही ६.३४)। परन्तु सभी भूतों में उत्पत्ति के बीज के ही लक्षणों वाली होने से— *सर्वभूत प्रसूतिर्हि बीज लक्षणा लक्षिता* (वही ६.३५), अन्ततः बीज अर्थात् पिता के महत्व को स्वीकार कर लिया गया है— *तस्माद्बीजं प्रशस्यते* (वही १०.७२)। अन्यत्र हीन कुल की स्त्रियों से विवाह (और सन्तान उत्पन्न) करने से कुल नाश और शूद्रत्व की प्राप्ति भी बताई गई है (वही ३.१५)। पुनः, कुविवाह, कर्मत्याग और गुरु की अवमानना करते हुए विद्या का तिरस्कार करने से भी कुलों का अकुलीन हो जाना कहा गया है (वही ३.६३)। अन्यत्र, ब्रह्मचर्या आदि तपः साधनों से प्राप्त विद्या और पिता से प्राप्त बैजिक प्रभाव अर्थात् आनुवांशिक गुणों— *तपोबीज प्रभावैस्तु*—से ही व्यक्ति का '*उत्कर्ष चापकर्ष*' होना सर्व स्वीकृत सिद्धान्त था (वही १०.४२)। पुनः, वर्णों के व्यभिचार अर्थात् अविवेकपूर्ण सम्मिश्रण, कुविवाहों तथा स्वभावनुकूल कर्मो के त्याग सें वर्ण संकरता का उत्पन्न होना कहा गया है —*व्यभिचारेण वर्णानामवेद्या वेदनेन च, स्वकर्माणां च त्यागेन जायन्ते वर्ण सङ्कराः* (वही १०.२४)। मनु स्मृति के इन संदर्भो के साथ ही महाभारत के 'आजगर पर्व' में युधिष्ठिर के उस कथन का भी स्मरण कर लेना चाहिए जिसमें उन्होंने कहा था कि वर्णोचित सभी संस्कारों को प्राप्त कर लेने पर भी यदि किसी में सद्वृत का अभाव ही दिखाई दे, तो वहां प्रबल वर्ण संकरता का अनुमान कर लेना चाहिए— *कृतकृत्याः पुनवर्णा यदि वृत्तं न विद्यते, संकरत्वत्र नागेन्द्र बलवान प्रसभीक्षते* (३.१८०.३६)।

इन मन्तव्यों के प्रकाश में देखने पर, दुर्योधनादि कौरवों, मथुरा के यादव नरेश कंस, कान्यकुब्जाधीश्वर जयति चन्द्र अथवा आमेर के मान सिंह कछवाहा की वर्ण संकरता क्या उनके माता—पिता के दोषों का फल मानी जाएगी? ऐसी स्थिति में माता—पिता के कथन से मात्र बीज और क्षेत्र तथा ब्राह्मण आदि वर्णो के कथन से केवल सत्त्व आदि गुणों का ही ग्रहण किया जाना चाहिए। इन गुणों के विभिन्न अनुपातों में हुए सम्मिश्रण की अनुमान आश्रित कल्पना से वर्णसंकरता की मात्रा का अनुमान ही किया जाना अधिक संगत प्रतीत होता है। भाषा में 'दोगला' अथवा अंग्रेजी में bastard कहे जाने में भी यही भाव निहित प्रतीत होता है। अतः मनु की इन संकर जातियों में गुणों के अव्यवस्थित सम्मिश्रण का लाक्षणिक और व्यञ्जनात्मक वर्णन ही समझना चाहिए, न कि मनु को कोसने वाले, सुविज्ञ और अज्ञ, सभी आलोचकों की तरह अभिधा मूलक, शाब्दिक सत्य। ऊपर उद्धृत श्लोक में, माता पिता का अनुमान किए जाने की विधि बताए जाने से भी इसी समाधान की पुष्टि होती है।

५.वर्ण और वृत्ति

वर्ण की अवधारणा और उसके निर्धारण में की जाने वाली सावधानियों के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि विद्या, ज्ञान, संस्कार और सद् आचरण की उत्तरोत्तर बढ़ती मात्रा और उसी के अनुपात में त्रिवर्ग के प्रति पूर्वापूर्व वर्द्धमान प्रतिबद्धता ही द्विज और द्विजों में भी अधम, मध्यम और उत्तम श्रेणियों का एक मात्र निर्णायक तत्व स्वीकार की गई थी। विद्या और संस्कार, तप और त्याग की चर्चा तो ऊपर हो चुकी है। अब आगे विभिन्न वर्णों की वृत्तियों की चर्चा की जाएगी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मनु ने वेदाध्ययन और स्वाध्याय के महत्व का प्रतिपादन करते हुए ही, इनमें बाधक वृत्तियों–धनार्जन के सभी साधनों– को त्याग देने का आदेश दिया था– *सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः* (मनु ४.१७)। बुद्धिमान द्विज को चाहिए कि वह सामान्य समय में तो प्राणियों को किसी प्रकार का कष्ट न देते हुए ही अथवा कम से कम हानि पहुंचाते हुए ही, जो आजीविका मिल सके, उसी का आश्रय ले– *अद्रोहेण भूतानामल्प द्रोहेण वा पुनः; या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदानापदि* (वही ४.२)। केवल जीवन यात्रा के निर्वाह के लिए ही, न कि भोगेच्छा की तृप्ति के लिए, अपने अनिन्दित कर्मों द्वारा, अपने या दूसरों के शरीर को कष्ट लिए बिना ही, जो और जितना धन संचय कर सके, करे– *यात्रामात्र प्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हि तैः, अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत् धनसंचयम्* (वही ४.३)।

सिद्धान्त भूत इन समान्य नियमों का निर्देश करने के अनन्तर, जीवन यापन के विभिन्न साधनों का वर्गीकरण करते हुए, कहा गया है कि जीविका के लिए ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत तथा सत्यानृत आदि वृत्तियों को ही अपनाना चाहिए, श्वान वृत्ति के समान निन्दनीय सेवा वृत्ति को नहीं– *न श्ववृत्तया कदाचन* (वही ४.४)। क्षेत्रादि में गिर कर छूट गए बालों और अन्न कणों को बीनने बटोरने वाली 'उञ्छ' और इसी विधि से तात्कालिक आवश्कयता से अधिक का संचय करने वाली 'शिल' वृत्ति को 'ऋत', अयाचित मिले दान को 'अमृत', याचना पूर्वक मिली भिक्षा को मृत्यु के समान पीड़ादायक होने से 'मृत', भूमि को पीड़ा देने और उसमें पाए जाने वाले अनेकानेक क्षुद्र जीवों की मृत्यु का कारण होने से कृषि कर्म से प्राप्त होने वाली वृत्ति को 'प्रमृत कहा गया है (वही ४.५)। सत्य और असत्य, दोनों का ही यथावसर प्रयोग अनिवार्य हो जाने से, मिली जुली 'सत्यानृत' कही गई वाणिज्य वृत्ति भी अपनाई जा सकती है– *तेन चैवापि जीव्यते,* परन्तु श्वान वृत्ति कही जाने वाली सेवा वृत्ति तो कभी नहीं अपनानी चाहिए– *से वा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्* (वही ४.६)। इनमें से आवश्यकतानुसार एक, दो, तीन अथवा सभी छहों वृत्तियां भी अपनाई जा सकती है, परन्तु अधिक लोभ न करना चाहिए। इनमें से प्रथम ही 'ब्रह्मसत्र' कही गई है और वही ब्राह्मण के लिए सर्वोत्तम मानी गई है (वही ४.६)।

जैसा कि कहा जा चुका है, भोगेच्छा की तृप्ति तो नहीं, परन्तु इस वृत्ति

से जीवन यात्रा तो चल ही जाएगी। इसी बात को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए, मनु ने कहा है कि गृहस्थ को अपने धर्म–कर्तव्य–कृत्यों के सम्पादन तथा आश्रित परिजनों के तीन वर्ष की अवधि मात्र के निर्वाह के लिए ही संचय करने वाला *'कुसूल धान्यक'* ही होना चाहिए, इससे अधिक का संचय सर्वथा निषिद्ध था। इससे भी अच्छा उसे कहा गया है जो *'कुम्भी धान्यक'* होकर मात्र एक वर्ष के भरण पोषण की सामग्री का ही संचय करता है। इसकी अपेक्षा मात्र तीन दिवस के उपयोग की ही सामग्री रखने वाला और सर्वोत्तम तो आज मात्र के लिए लेने वाला ही होता– *ज्यायान्परः परोज्ञेयो* (वही ४.७–८)। मनु ने तो प्रशंसा– निन्दा की व्यवस्था देकर ही बात समाप्त कर दी थी, किन्तु श्रीमद्भागवतकार ने तो उदर–पूर्ति के लिए यथेष्ठ अन्न अर्थात् मूल भूत भौतिक आवश्यकताओं को व्यक्ति मात्र का मौलिक अधिकार बताते हुए ही, लोभ वश इससे अधिक का संग्रह करने वाले को चोर कह कर, समाजद्रोही ही नहीं माना है, वरन् उसको राजा अर्थात् शासन की ओर से दण्ड दिलाने की भी व्यवस्था की है– *यावत्भ्रियते जठरं तावत् हि स्वत्वं देहिनाम्, अधिकं योऽभिमन्येत् स्तेनो सः दण्डमर्हति*।

गृहस्थों में अनेक इन छहों वृत्तियों को अपनाते थे। कोई इनमें से तीन और कोई दो से ही निर्वाह कर लिया करते थे, परन्तु केवल 'ब्रह्म सत्त्र'– उञ्छ और शिल वृत्ति – अपना कर निर्वाह करने वाले को भी, अन्य धन साध्य कर्म कर सकने का सामर्थ्य न होने पर भी, दैनिक अग्नि होत्र और अन्य पर्व इष्टियां तो अनिवार्यतः करनी ही पड़ती थीं (वही ४.१०)।

आजीविका के प्रयोजन से, अतिरिक्त लाभ पाने के लिए, कभी भी वाचालता– चापलूसी अथवा दूसरों की निन्दा का आश्रय लेना वर्जित था– *न लोक वृत्तं वर्तेत वृत्ति हेतोः कथंचन्* (वही ४.११)। सदा ही सरल, कुटिलता रहित और शुद्ध ब्राह्मण वृत्ति से निर्वाह करना ही श्रेयस्कर कहा गया है (वही)। अति प्रसक्ति से धनोपार्जन की चेष्टा न करनी चाहिए, और न शास्त्र और नीति विरुद्ध कर्मों से ही। उपलब्ध धन को छिपा कर, और अधिक उपार्जन की चेष्टा करने का भी निषेध किया गया हैं। आपत्ति काल में भी जहां तहां और जैसे तैसे अनुपयुक्त साधनों से भी धनार्जन करने का निषेध किया गया है– *न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः* (वही ४.१५)। केवल उपभोग की कामना से ही रूप रस आदि इन्द्रियों के विषयों में नहीं फंसना चाहिए और इन विषयों में अत्यन्त आसक्ति से भी मन को दूर रखने का आदेश दिया गया है– *इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः, अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिर्वतयेत्* (वही ४:१६)। सुख चाहने वाले व्यक्ति को परमसंन्तोष पूर्वक ही, धनार्जन में संयम रखते हुए, आजीविका प्राप्त करनी चाहिए। सुख का मूल कारण सन्तोष ही है और दुःख का कारण तृष्णा है–*सन्तोषं मूलं.हि सुखं दुःख मूलं विपर्ययः* (वही ४.१२)

वृत्तियों के इस सामान्य वर्गीकरण के अनन्तर, ब्राह्मण के लिए निर्दिष्ट–पढ़ना पढ़ाना, यजन और याजन तथा दान देना और लेना आदि छह

कर्मों (वही १०.७४.७५) में से पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना, ये तीन ही कर्म उसकी जीविका के साधन बताए गए हैं— *त्रीणि कर्माणि जीविका* (वही १०.७६)। अध्यापन कर्म से मिलने वाली वृत्ति का उल्लेख तो ब्रह्मचर्याश्रम की चर्चा के प्रसंग में किया जा चुका है। फिर भी उसका सार संक्षेप दुहराते हुए इतना तो कहा ही जा सकता है कि ब्रह्मचारियों की भैक्षचर्या और यदा कदा अयाचित मिलने वाले अनिश्चित दान ही उस वृत्ति के प्रमुख अंग थे। इनसे शरीर धारण मात्र ही सम्भव था। अतः इस वृत्ति में तप और त्याग की ही प्रधानता थी; भोग तो दूर, जीवन की साधारण सुविधाओं का भी नितान्त अभाव ही रहा होगा। गुरु दक्षिणा में जूते, छाते और आसन के उल्लेख से उनका महत्व और अभाव ही सूचित होता है (वही २.२४६)। यतः जीवनोपाय की तीसरी वृत्ति— प्रतिग्रहण अर्थात् दान लेने का भी इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है, दूसरी वृत्ति— याजन अर्थात दूसरों के लिए यज्ञ कराने की चर्चा को कुछ काल के लिए स्थगित रख कर, पहले इसी की चर्चा कर लेना सुविधा जनक होगा।

दान लेने की चर्चा करते हुए **'विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः'** (वही १०.७६) कहने से यही प्रकट होता है कि मनु के मन्तव्यानुसार शुद्ध वृत्ति से धनार्जन करने वालों से ही दान लेने की अनुमति थी, मगर स्मरण रखना होगा कि मनु ने कभी भी प्रतिग्रहण को अच्छा नहीं माना है। उनके अनुसार दान लेने की सुपात्रता होने पर भी, दान स्वीकार करने के अवसरों को यथा सम्भव टालते रहना ही श्रेयस्कर है— *प्रतिग्रहसमर्थेऽपि प्रसगं तत्र वर्जयेत,* क्योंकि दान लेने से ब्राह्म तेज शीघ्र ही नष्ट हो जाता है— *प्रतिग्रहणेन ह्यस्याशु ब्राह्मतेजः प्रशाम्यति* (वही ४.१८६)। ब्राह्मण जैसे विद्या जीवियों का तेज उसकी सत्यवाणी में ही होता है। प्रतिग्रह स्वीकार कर के सत्य के प्रति आग्रह के शान्त होने का उदाहरण तो श्री मुलायम सिंह से धन स्वीकार करके, उनके कुकृत्यों को देख सुन कर भी मौन रह जाने वाले पत्रकारों में प्रत्यक्ष हो उठा है। इसीलिए ही कहा गया है कि वेदविद होने पर भी, विद्वान यदि लोभ में पड़ कर प्रतिग्रह स्वीकार कर लेता है, तो पानी में पड़े कच्चे घड़े की तरह ही वह शीघ्र नष्ट हो जाता है— *वेदविच्चापि विप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा प्रतिग्रहः विनाशं व्रजति क्षिप्रमाम पात्रमिवाम्भसि* (वही ३.१७६)। जो सत्पात्र होते हुए भी, दान का सदुपयोग न जानता हो, जो मात्र दुरुपयोग या केवल संग्रह ही करना चाहता है, उस चोर को भी प्रतिग्रह नहीं मिलना चाहिए— *पात्रभूतोहि यो विप्रः प्रतिगृह्य प्रतिग्रहम्, असत्सु विवियुञ्जीत् तस्मैदेयं न किञ्चन। संचयं कुरुते यस्तु प्रतिग्रह्य समंततः नोपयुंक्ते च न तं तस्करमचर्येत्* (वही ४. २२७)। अर्थात् प्रतिग्रह या दान विद्वान ब्राह्मण को उसके वैयक्तिक प्रयोग के लिए लिए न होकर, प्रधानतः उसके द्वारा धर्मार्थ अर्थात् विद्या के प्रसार के लिए ही दिया जाता है। मनु के अनुसार दान लेने की पात्रता के अभाव में तो भूखों मर जाना अच्छा है, मगर दान स्वीकार करना नहीं (वही ४.१८७)।

अन्यत्र, ज्ञान, तप, मन, कर्म, आहार, मृत्तिका, लिपाई—पुताई, अग्नि, वायु,

सूर्य और काल को शुद्धि का साधन बताते हुए (वहीं ५.१०५) भी, कहा गया है कि अर्थोपार्जन के साधनों की पवित्रता इन सभी से श्रेष्ठ है— *सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परंस्मृतम्;* मिट्टी और पानी से शुद्ध होकर भी यदि किसी व्यक्ति के अर्थोपार्जन के साधनशुद्ध और पवित्र नहीं हैं, तो उसे पवित्र नहीं कहा जा सकता है— *योऽर्थे शुचिर्हि स शुचि र्न मृद्वारि शुचिः शुचिः* (मनु ५.१०६)। मनु की अर्थशुचिता की इस अवधारणा से दान के स्रोतों को अत्यन्त संकुचित और सीमित कर दिया गया था। ब्रह्मचारियों को वेद और यज्ञ से रहित और अपने कर्मों में अकुशल गृहस्थों से भिक्षा ग्रहण करने का निषेध का उल्लेख (वही२.१८३—८५) ऊपर किया जा चुका है। इसी प्रकार विद्वान गृहस्थों को भी महापातकी, चोर, निगड़ बद्ध अपराधी, नपुंसक/ जार को घर में रखने वाली स्त्री— *उपपति गृहे*—(वही ४.२१६) अर्थात् व्यभिचारिणी, कृतघ्न, चुगलखोर, दम्भी, क्रूर, निर्दय, झूठी गवाही देने वाला, कृपण, सूदखोर, गायक—वादक, नटनर्तक और अभिनेता, कुत्ता पालने वाले शिकारी, निषाद, बंसोर, धोबी, रंगरेज, दर्जी, लुहार, सुनार, शराब बनाने बेचने वाले, शस्त्र विक्रेता, चिकित्सक, पतिपुत्र हीना, बिना सत्कार के देने वाले, देकर बखान करने वाले तथा शत्रु से दान लेने का निषेध किया गया है (वही ४.२१०—२१६)। वहां से भी दान नहीं लेना चाहिए जहां बहुत से मांगने वाले पहले से ही एकत्र हो चुके हों (वही ६.५१)। कृपण वेदपाठी गृहस्थ और सूदखोर, दोनों से ही दान लेने का निषेध करते हुए भी, कहा गया है कि आन्तरिक श्रद्धा के उद्रेक से सूदखोर का दान कभी पवित्र भी हो सकता है, किन्तु ज्ञान वान होकर भी आन्तरिक श्रद्धा के अभाव में कृपण का दान तो सदा दूषित ही रहता है— *श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत्* (वही ४.२२५)। इस प्रकार, श्रद्धा और सत्कार पूर्वक दिया गया दान ही स्वीकार करना चाहिए। वहीं दोनों —देने और लेने वाले—का कल्याण करता है, अन्यथा होने से परिणाम भी विपरीत ही होता है (वही ४.२३५)। दान देकर, उसका बखान करने वाले का दान नहीं लेना चाहिए— *न दत्त्वा परिकीर्तयेत्* (वही ४.२३६), ऐसा दान निष्फल ही होता है— *क्षरति...... दानं च परिकीर्तनात्* (वही २३७)।

बिना मांगे मिलने वाला प्रतिग्रह ही श्रेष्ठ होता है। उसे विचार पूर्वक ही अस्वीकार करना चाहिए'— *आहृताभ्युद्यतां भिक्षां परस्ताद् प्रचोदिताम्* (वही २४८—४६)। आपातकाल में गुरुजनों और अश्रित परिजनों के निर्वाहार्थ और देव तथा अतिथि की पूजा सत्कार के लिए ही सभी से प्रतिग्रह स्वीकार करने की आज्ञा दी गई थी, परन्तु उस वृत्ति से कभी भी अपना भरण पोषण नहीं करना चाहिए— *न तु तृप्येत्स्वयं ततः* (वही ४.२५१)। अपने शरीर का पोषण तो शिष्टों से प्राप्त वृत्ति से ही करना चाहिए— *आत्मनो वृत्ति मन्विच्छन्गृह्णीयात्साधुतः सदा* (वही ४.२५२)। इसी प्रकार 'शूद्र'— अविद्वान —का पक्वान्न खाने का भी निषेध किया गया है, पर आपात्काल में यदि श्रद्धा पूर्वक दिया जा रहा है तो, ग्रहण कर लेना चाहिए (वही ४.२२३)। आपात्काल में अभिमान त्याग कर ही दान ग्रहण करना चाहिए, अपने कुल, गोत्र अथवा विद्या का अहंकार पूर्वक उल्लेख नहीं करना चाहिए—

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रं निवेदयेत् (वही ३.१०६)।

मनु की मान्यता है कि समर्थ विद्वान कभी भी भूखा नहीं रह सकता — *न सीदेत्स्नातको विप्रःक्षुधा शक्तः कथंचन्* (वही ४.३४)। फिर भी यदि किसी कारण वश ऐसी स्थिति आ ही जाए, तो उसे, जिन्हें परिचय देते हुए आत्म प्रशंसा न करनी पड़े ऐसे राजा, यजमान अथवा शिष्य के पास ही जाना चाहिए, किसी अन्य के पास नहीं— *राजतोधनमन्विच्छेत्सं सीदन्स्नातकः क्षुधा, याज्यान्तेवासिनो वापि न त्वन्यत इति स्थितिः* (वही ४.३३)। इनमें भी उत्तरोत्तर मिली सहायता ही श्रेष्ठ कही गई है और राजा से प्राप्त होने वाली वृत्ति को, आत्मोन्नति अथवा विचार स्वातंत्र्य में बाधक होने के कारण ही, भयावह कहा गया है— *राजा, घोरस्तस्य प्रतिग्रहः* (वही ४.८६)। कहा गया है कि दस कसाई के बराबर एक तेली, दस तेलियों के बराबर एक कलार, दस कलारों के बराबर एक वेश्या जीवी और दस वेश्या जीवियों के समकक्ष एक राजा होता है— *दशवेश समो नृपः* (वही ४.८५) अतः इनका दान नहीं लेना चाहिए —*न प्रतिगृह्णीयात्... सूना चक्र ध्वजवतां वेशैनैव च जीवताम्* (वही ४.८४) ।आगे बताया गया है कि जो व्यक्ति लोभी और (शास्त्र) मर्यादा का उल्लंघन करने वाले राजा का प्रतिग्रह स्वीकारं करता है, वह शारीरिक सुख सुविधाओं के होते हुए भी, क्रम से इक्कीस नरकों में पड़ने जितना मनो—सन्ताप भोगता है (वही ४.८७)। इसलिए, मरणोपरान्त भी यश की कामना करने वाले विद्वान को राजा का प्रतिग्रह नहीं स्वीकार करना चाहिए— *न राज्ञः प्रतिग्रह्णंत प्रेत्य श्रेयाभिकांक्षिणः* (वही ४.९२)। और भी, राजा से प्राप्त होने वाली वृत्ति से जीवन यापन करने पर तेज का नाश अवश्यम्भावी है— *राजान्नं तेज आदत्ते* (वही ४. २१८)। अन्यत्र, शिल्प, व्यवहार— मुकदमेबाजी और कृषि की तरह ही, राजा की चाकरी से प्राप्त होने वाली वृत्ति से कुलीनता—कुल की कीर्ति— नष्ट हो जाना— *शिल्पव्यवहारेण ... कृष्याराजोपसेवया... कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मंत्रतः* (वही ३.६४—६५) भी कहा गया है।

दैव—जीवित और पितृ—मृतक श्राद्ध भोज और उसके साथ ही मिलने वाली दक्षिणा से प्राप्त होने वाली वृत्ति को लेकर भी ब्राह्मण वर्ग को बहुविधि कोसा जाता है। परन्तु मनु के आदेशों के अनुसार यह अत्यन्त सरल और सामान्य व्यवस्था थी और आज कल की दावतों और पार्टियों की तरह ही, इसे ब्राह्मण की वृत्ति में गिनना सर्वथा अनुचित है। मनु के विधान के अनुसार दैव श्राद्ध में दो तथा पितृ श्राद्ध में तीन अथवा दोनों में ही एक एक ही ब्राह्मण को भोजन कराना उचित कहा गया है— *द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमु भयमत्र वा, भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे* (वही ३.१२५) और समृद्धि और सामर्थ्य होते हुए भी विस्तार के झमेले में नहीं पड़ना चाहिए। इन श्राद्धो में दूर से भी वेद के प्रसिद्ध विद्वानों को ही निमंत्रित करना चाहिए — *दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगं* (वही ३.१३०) और विस्तार के लोभ में सत्कार, देश काल, पवित्रता औरगुणी ब्राह्मण मिलने में बाधा हो सकती है, अतः इसके चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए (वही ४.१२६)। एक

विद्वान को खिला कर तृप्त करने से जितना पुण्य होता है, उतना सहस्त्रों सहस्त्र मूर्खों को खिलाने से भी नहीं हो पाता है (वही ३.१२८—३१)। वेदज्ञ, अक्रोधन और बहुजन हिताय समर्पित ब्राह्मण— *अक्रोधन..... लोकस्याप्यायने* (वही ३.२१३) को ही पंक्ति पावन माना जाता था (वही ३.१८४—१८६) और ऐसे ही ब्राह्मणों में पितरों की आत्माओं का निवास कहा गया है— *निमन्त्रितान्हि पितर उपतिष्ठन्ति तान्द्विजान्* (वही ३.१८६)

इसी प्रकार याजन द्वारा प्राप्त होने वाली वृत्ति को भी अनावश्यक रूप से अधिक महत्व दिया गया है। सामान्य रूप से माना जाता है कि यजमान से प्राप्त होले वाले धन से ब्राह्मण अतिशय समृद्ध हो उठते थे। परन्तु वस्तु स्थिति इसके सर्वथा विपरीत ही है। जिस प्रकार अध्यापन निःशुल्क होता था, उसमें किसी प्रकार के मोलभाव का कोई अवकाश नहीं था, उसी प्रकार यज्ञ कराने वाले ऋत्विक् को भी अपनी दान—दक्षिणा तय करने के अधिकार से वंचित ही कर दिया गया था। यज्ञ में भाग लेने वाले सभी सोलह ऋत्विकों को, उनके कर्तव्यों के अनुरूप ही, एक निश्चित मात्रा में दान— और दक्षिणा दिए जाने का विधान था। यह सब भी संयुक्त रूप से ही दिया जाता था और उसके बटवारे में *'सम्भूय समुत्थानं'* अर्थात् सामुदायिक उद्योगों के ही नियम चलते थे (वही ८.२०६—२१०)। इसके अतिरिक्त, इनकी प्रायिकता भी संदिग्ध ही है। यजमान को कभी भी थोड़ी या कम दक्षिणा देकर ही यज्ञ को पूरा कराने का निषेध किया गया है— *न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञै र्यजतेह कथंचन्* (वही ११.३६)। अतः जिसके पास पर्याप्त धन न हो, उसका यज्ञ न करना ही उचित है— *तस्मान्नाल्पधनो यजेत्* (वही ११.४०)। अतः सामान्य रूप से ऐसे अवसर कम ही होते रहे होंगे जब कि ब्राह्मण सदगृहस्थ को यज्ञ करा के कुछ विशेष की प्राप्ति होती रही होगी और ऐसे अवसरों पर भी याजक ऋत्विकों की संख्या भी सीमित ही थी।

सामान्य जनसमाज में विद्वेष से प्रेरित होकर, जानबूझ कर यह भ्रम फैलाया गया है कि दान और दक्षिणा से ब्राह्मण वर्ग समृद्ध हो गया था। वस्तु स्थिति कुछ और ही थी। जो लोग सहज ही कह देते है कि बौद्ध धर्म के उदय और स्थापना के साथ ही सहस्त्रों पशुओं की हिंसा वाले यज्ञों का उन्मूलन हुआ था, वे सुनी सुनाई बातों को दुहरा कर अपने अज्ञान का ढिंढोरा ही पीटते हैं। सर्वप्रथम तो, वैदिक यज्ञों में कभी भी हिसां के लिए कोई अवकाश ही नहीं था। वहां तो स्पष्ट ही उसका निषेध किया गया है। यास्क ने अपने निरुक्त में लिखा है— अध्वर, यह यज्ञ का नाम है। ध्वरति हिंसा अर्थ वाला है। उसका प्रतिषेध है— *अध्वर इति यज्ञ नाम। ध्वरित हिंसा कर्मा तत्प्रतिषेधः* (१.८)। स्वयं वेद में पशु अर्पित करते समय पढ़े जाने वाले मंत्रों में भी इसी अर्थ की ही पुष्टि होती है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि 'हे पशुपति अग्नि, तुम्हारे पुण्यक्षेत्र में आज इस पशु को बांधता हूँ। आप इस कृत्य का अनुमोदन करें। हमारे भली भांति अर्पित किए गए इस हव्य को देव यज्ञ के लिए स्वीकार करें। जिन चतुष्पाद और द्विपाद पशुओं पर

पशुपति (अग्नि) शासन करते हैं, वे यज्ञमान को उऋण करते हुए, उसकी समृद्धि बढ़ावें।' आगे कहा गया है 'ये पशु जीवित ही देवों को प्राप्त हों और यज मान की कामनाएं पूर्ण हों'; 'घी से ही तुम अपने शरीरों का पोषण संवर्द्धन करो और देव तुम्हारी इन भेंटों का भोग करें' (३.१४.२,६,८ और अन्तिम मंत्र)। अतः निश्चित ही परवर्ती काल में धूर्तो ने अपनी जिह्वातृप्ति के लिए ही यज्ञ में पशुहिंसा परक अनेक प्रक्षेप किए होगें (देखें, चारवाक दर्शन)। यहां *'प्रदर्शन परः'* पाणिनि के शास्त्र में हुई एक वृद्धि, जिससे आर्ष संस्कृति की पहचान विकृत हो गई है, का उल्लेख यथेष्ठ होगा। हमको बताया जांता रहा है कि वैदिक आर्य अतिथि सत्कार के लिए गो घात् किया करते थे। परन्तु पाणिनि के जिस सूत्र (३.४.७३) पर यह मान्यता आधारित बताई जाती है वहा *'गोघ्न'* के साथ *'अतिथि'* शब्द का दूर दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सूत्र पर महाभाष्य नहीं है, परन्तु पांचवीं शताब्दी ईस्वी के पूर्व हो चुके वामन और जयादित्य ने, जैनियों के बीच वैदिक धर्म और संस्कृति की खिल्ली उड़ाने के लिए, अपनी स्वतंत्र काशिका वृत्ति मे *'अतिथि'* शब्द का अध्याहार कर लिया था और *'गतानुगतिक हि लोको'* के अनुसार परवर्ती वैयाकरणों ने इसको दुहराते हुए इस प्रवंचना को स्थायित्व प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यद्यपि महावैयाकरण स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने अष्टाध्यायी भाष्य (सं. १६३५–३६) में 'अतिथि' शब्द को हटा दिया था, परन्तु अभी भी अनेक आचार्य इसे स्वीकार करके ही पढ़ा रहे हैं (जिज्ञासु, भाग १,१६७६, ५३१)।

फिर भी 'दुर्जन तोष न्याय' के अनुसार, बाद के किसी समय में यज्ञों में पशुहिंसा का प्रचलन स्वीकार भी कर लिया जाए तो भी बात बनती नहीं दिखती है। बाद के विधान में भी केवल एक ही पशु की हिंसा विहित है और अनेक यज्ञों में तो उस एक पशु का भी विधान नहीं हुआ है। सात सात के तीन वर्गों में विभाजित यज्ञों की कुल संख्या मात्र इक्कीस ही है। इनमें से *'हविर्यज्ञ'* नामक प्रथम सप्तक में गव्य—गोदुग्ध और घृत—के लिए गौ के अतिरिक्त किसी अन्य पशु की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार *'पाकयज्ञों'* के दूसरे सप्तक के किसी भी यज्ञ में किसी भी पशु की हिंसा का विधान नहीं मिलता है। *'सोम संस्था'* नामक तीसरे सप्तक के यज्ञ, जिनमें पुरोहितों और यजमानों की नासमझी अथवा हीन और पाशविक प्रवृत्तियों की तुष्टि के लिए पशुहिंसा का विधान जोड़ा गया था (अरुण कुमार १६६६,१३), बहुधन साध्य ही नहीं, दीर्घ काल तक सोलह ऋत्विजों और अन्यान्य सहयोगियों के सामुदायिक सहयोग से ही सम्पूर्ण हो पाते थे (मीमांसक और विजयपाल १६८४)। अतः निश्चित ही इनकी प्रायिकता भी अत्यन्त विरल ही रही होगी। मनु ने स्पष्ट ही कहा है कि जिसके पास अवश्यपोषणीय गुरुजनों और परिजनों के तीन या अधिक वर्षों तक निर्वाह के आवश्यक संसाधन हों, उसे ही सोम यज्ञ करना चाहिए—*यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्य वृत्तये, अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति* (वही ११.७)। इससे कम द्रव्य— साधन होने पर भी जो द्विज सोम यज्ञ करता है, वह उसे करके भी उसका फल नहीं पाता है(वही ११.

८) । जो व्यक्ति अपने परिवार के पोषणीय जनों को अभाव का दुःख सहन कराते हुए भी, परायों को दान देता है, वह धर्म नहीं, धर्म की छाया का ही अनुसरण करता है—*सधर्मप्रतिरूपकः*(वही ६) । और उसे इस जीवन में दुःख और मरणोपरान्त अपयश ही मिलता है— *तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च* (वही १०) । और भी, अल्प दक्षिणा वाले यज्ञों का निषेध करते हुए, मनु ने कहा है कि ऐसे यज्ञों से यजमान की इन्द्रियां, कीर्ति, आयु, प्रजा ओर पशु आदि नष्ट हो जाते है—*इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून् हन्ति*(वही ११.४०) । आगे कहा गया है कि यज्ञ जैसा कोई शत्रु नहीं है— अन्न की कमी रह जाने से राज्य का नाश हो जाता है, मंत्र की कमी अर्थात् ऋत्विकों की योग्यता में किसी प्रकार की कमी रह जानें पर वे स्वंय और दक्षिणा में कमी रह जाने पर तो यजमान ही नष्ट हो जाता है । अपूर्ण यज्ञ जैसा कोई शत्रु नहीं होता है— *दीक्षितं दक्षिणाहीनो, नास्ति यज्ञसमो रिपुः* (वही ११.४०) ।

अन्यत्र, इष्ट और आपूर्त आदि यज्ञों को सद ा ही करते रहने का आदेश देते हुए भी, मनु ने कहा है कि भली प्रकार, स्वयं के अर्जित धन से, श्रद्धापूर्वक किए गए कर्म से ही अक्षय फल की प्राप्ति होती है— *श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतै र्धनैः* (वही ४.२२६) । अतः ऐसे यज्ञों को करने की योग्यता और सामर्थ्य बहुत थोड़े ही व्यक्तियों में होती रही होगी । धन—जन अथवा किसी विघ्न के पड़ने से यज्ञ के अधूरा रह जाने के भय से बहुत थोड़े से ही राजा भी इन्हें करने का साहस जुटा पाते रहे होंगे । सम्भवतः इसीलिए बहुत पहले से ही वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध आदि यज्ञों को केवल सम्राटों द्वारा ही किए जाने के लिए आरक्षित कर दिया गया था । काव्यों के अतिशयोक्ति पूर्ण कथनों के रूप में दिए गए विवरणों के आधार पर बनाए गए दान दक्षिणा के धन से समृद्ध हुए ब्राह्मण ऋत्विजों के चित्रों का वास्तविकता से दूर दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है । और थोड़े से राजाओं द्वारा किए जाने वाले इन यज्ञों में भाग लेने वाले ऋत्विजों की संख्या पूर्वनिर्धारित और सीमित ही हुआ करती थी । छान्दोग्य उपनिषद में जनक के बहुदक्षिणा यज्ञ में केवल याज्ञवल्क्य को ही सहस्त्र गौवें मिली थीं । (३.१.१) । अन्यत्र, काशिराज अजातशत्रु से भी केवल दृप्त बलाकि गार्ग्य को ही सहस्त्र गौवों के मिलने का उल्लेख हुआ है (२.१.१) । अतः इस प्रकार की दान—दक्षिणा के बल पर समस्त ब्राह्मण वर्ग के ही समृद्ध हो जाने की बात कुछ वैसी ही असंगत और अव्यावहारिक है जैसा कि कुछेक लेखकों, अध्यापकों या कला कारों को राष्ट्रीय पुस्तकार मिलने से सभी के लखपती हो जाने की चर्चा ।

एक स्थल पर धार्मिक राजा के राज्य में किसी यजमान का, विशेषकर किसी ब्राह्मण का यज्ञ, धनाभाव के कारण किसी एक अंग से, रुक जाने पर, राज्य के समृद्ध किन्तु यज्ञ हीन वैश्य अथवा उसके परिवार से, यज्ञ पूरा करने भर का धन ले लेने की बात कही गई है (वही ११.११—१२) । *'अनाहिताग्नि'* और *'अयज्वा'* धनी से भी बिना विचारे ही, यज्ञ की पूर्ति के लिए, धन ले लेने की अनुमति भी दी गई है (वही ११.१४) । जो सदा लेता ही रहता है, कभी देता नहीं है, यदि ऐसा

व्यक्ति स्वेच्छा से न दे, तो उससे बलात् भी धन ले लेने में दोष नहीं माना गया है (वही ११.१५)। शूद्र, जिसकी यज्ञों के प्रति कोई प्रतिज्ञा नहीं है, से भी, अत्यावश्यक हो जाने पर, दो या तीन अंगों की पूर्ति के लिए धन ले लेने में कोई हानि नहीं है (वही ११.१३)। इस प्रकार भी पूरे किए गए यज्ञ से न केवल यज्ञ पूरा होकर कर्तव्यों का पालन ही होता था, वरन् यज्ञ कर्ता की कीर्ति भी होती थी(वही ११.१५)।

परन्तु इसी अध्याय में अन्यत्र शूद्र से मांग कर यज्ञ करने वाले को चाण्डाल— *न यज्ञार्थं धनं शूद्राद् विप्रो भिक्षेत् कर्हिचित, यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते* (वही ११.२४) तथा उनसे धन छीन कर यज्ञ करने वालों को *'गर्हिताः'* (वही ११.४२) भी कहा गया है। यही नहीं, शूद्र के अन्न को रुधिर के समान अमेध्य —*शूद्रस्य रुधिरं स्मृतम्* (वही ४.२२१) तथा ब्रह्मवर्चस का विनाशक (वही ४.२१८) कहा जाने से इन श्लोकों के प्रक्षिप्त होने का सन्देह होता है। यदि ये श्लोक मनु की ही रचना है, तो इन्हें पूर्व उद्धृत 'सत्पात्र होते हुए भी दान का सद् उपयोग न जाने वाले', 'केवल संग्रह करना चाहने' वाले दान ग्रहीता को 'तस्कर' कह कर दान दिए जाने का निषेध करने वाले श्लोकों (वही ४.२२७) के साथ मिला कर देखने पर मनु का दूसरा ही मन्तव्य स्पष्ट होने लगता है। यज्ञ को श्रेष्ठ तम कर्म कहा गया है और ये, व्यक्ति के निजी लाभ के लिए न होकर, समाज के लाभ के लिए ही किए जाते थे (श्रीमद् भगद्गीता ३.१३—१५; अरुणकुमार १९९९:२३—२५)। अतः धनाभाव के कारण आई बाधा से रुक कर अपूर्ण रह गए— विशेषतया आपूर्त— यज्ञों से जहां अब तक व्यय किया गया धन व्यर्थ हो जाता था, वहीं समाज सम्पूर्ण यज्ञ के लाभ से भी वंचित रह जाता था। ऐसी स्थिति में किसी भी व्यक्ति का, सम्पत्ति को, अपना बता कर अहं की तुष्टि करते हुए, बंधक रखने और सर्वहितकारी कार्यों में अड़चन उत्पन्न करने का अधिकार निरस्त कर दिया जाना एक महान उपलब्धि थी। इस प्रकार सम्पत्ति के अर्जक और सर्जक को मात्र न्यासी ही मान कर, उस पर समस्त समाज का ही अधिकार स्वीकृत किया गया था।

ब्राह्मण के लिए विहित इन तीन वृत्तियों के अतिरिक्त अनेक अन्य वृत्तियों की निन्दा किए जाने से भी, इस वर्ग के व्यक्तियों द्वारा विविध वृत्तियों के अपनाए जाने की सूचना मिलती है। यथा, पतित महापातकी, नास्तिक, माता,पिता गुरु आदि से विवाद करके, उनको अकारण ही निराश्रित छोड़ देने वाला, चोर आदि के साथ ही, मांस, तेल, रस आदि के विपणन से जीवन यापन करने वाले—*विपणेन च जीवन्तो*, शराब बेचने और पीने वाले, द्यूत क्रीड़ा करने वाले, सूदखोर ,पशु पक्षियों को प्रशिक्षित करने वाले, वृक्षारोपण करने वाले, राजा और ग्राम के हरकारे के अतिरिक्त, समूह का पौरोहित्य कर्म करने वाले—*याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च* (वही ३.१५१), मन्दिर के पुजारी—*देवलकान्* (वही ३.१५२), *भृतकाध्यापक* (वही ३. १५६), ज्योतिष के आधार पर फल का कथन करने वाले— *नक्षत्रैर्यश्च जीवति* (वही

३.१६२) के साथ साथ विष बेचने वाले और चिकित्सक (वही ३.१५२) नहरें काटने वाले और उन्हें बन्द करने वाले— *स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणेरतः* वास्तु का मानचित्र बना कर गृहादि की निर्माण योजना बनाने वाले स्थपति (वही ३.१६३) तथा शस्त्र निर्माण कर्ता और विक्रेता तथा युद्धाचार्य को भी निन्दित वृत्ति और अपांक्तेय और द्विजाधम बताते हुए श्राद्ध आदि के अवसरों पर पूजा—सत्कार के आयोजनों से बाहर रखने का विधान किया गया था *एतान्विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान्द्विजाधमान् विवर्जयेत्* (वही ३.१६७)। चिकित्सा आदि विज्ञानों के वेत्ताओं को द्विजाधम कहा जाना, धन्वन्तरि, अग्निवेश, भरद्वाज आदि आयुर्वेद विशारदों, परशुराम तथा सांदीपनि आदि युद्धाचार्यों को मिलने वाले ऋषि कल्प सम्मान तथा मनु द्वारा ही ब्राह्मणों को सभी विज्ञानों को सीख कर अन्य सभी को वृत्ति के लिए सिखाने का आदेश— *सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद् वृत्त्युपायान्यथा विध, प्रब्रूयादितरेभ्यश्च...* (वही १०.२)— इन तीनों को एक साथ देखने पर यही स्पष्ट होता है कि मनु की कल्पना का आदर्श ब्राह्मण केवल गुरु ही था। वह विधाता, शासिता, वक्ता—उपदेशक और सभी का निस्वार्थ भाव से मित्र वत् हितचिन्तन करके ही ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी हो पाता था—*विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते* (वही ११.३५)। अतः, अनेक वैज्ञानिक विषयों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करके, उसे दूसरे सत्पात्रों को सिखा कर, उनके ही माध्यम से बहुजन समाज का लाभ करवाना ही उसका कर्तव्य था। इन विज्ञानों के ज्ञान का अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए प्रयोग करने पर वह अपने उच्चादर्शों से च्युत हो जाता था। आज की सामान्य शब्दावली में, इसे मनु द्वारा वैज्ञानिकों—अध्यापकों की 'प्राइवेट प्रैक्टिस' पर लगाया गया प्रतिबन्ध ही कहा जा सकता है। तपस्या और त्याग की शोध परक वृत्ति का स्वेच्छा से वरण करने वाले को समृद्धि के प्रलोभन से बचते हुए (वही ४.१६०), लोकहित में कार्य करना ही ब्राह्मण का आदर्श था। आज भी प्रशिक्षण अथवा शोधसंस्थानों में कार्यरत वैज्ञानिकों को, चाहे वे अभियांत्रिकी, आयुर्वेद अथवा रक्षा संस्थानों में कहीं भी कार्यरत क्यों न हों, व्यक्तिगत धनार्जन की पूरी छूट नहीं दी जाती है। एक बार छूट मिल जाने पर, अध्ययन—अध्यापन और शोध गौण ही जाएगी और, जैसा कि आजकल चिकित्सा केन्द्रों और आयुर्विज्ञान की शिक्षण संस्थाओं में हो रहा है, लोकहित के स्थान पर, धन की लिप्सा ही प्रधान हो जाएगी।

यद्यपि मनु का दृढ. विश्वास था कि समर्थ स्नातक कभी भी भूखा नहीं रह सकता है, फिर भी व्यावहारिक विधायक की दूरदृष्टि से सभी प्रकार की सम्भावनाओं का आकलन करते हुए उन्होंने उन विशेष आपात्कालीन परिस्थितियों में जब इन वृत्तियों से जीवन यापन करना असम्भव हो उठे, तो ब्राह्मण को, अन्य वर्णों की तरह ही, क्रमशः अवर वर्णों की वृत्ति अपनाने की छूट दे दी थी। कहा गया है कि *'अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा'*, वह क्षत्रिय वर्ण के लिए नियत कर्मों द्वारा निर्वाह कर ले, क्योंकि वही उसका निकटतम वर्ण

है। यदि इनमें भी निर्वाह न हो सके, तो कृषि, गोरक्षा— पशुपालन आदि वैश्य कर्मों से जीविकोपार्जन कर ले। परन्तु ब्राह्मण और क्षत्रिय, दोनों को, वैश्य वृत्ति से निर्वाह करने की स्थिति में भी, हिसां प्रधान और पराधीन खेती को तो छोड़ ही देना चाहिए। जो ब्राह्मण और क्षत्रिय उस वर्ण के लिए विहित आजीविका से निर्वाह न कर पाएं और उसे शास्त्रोक्त धर्म छोड़ना ही पड़े तो वे वैश्य द्वारा विक्रेय पदार्थों में से आगे उदाहृत द्रव्यों को छोड़कर लेन देन करें— *वित्तवर्धनम्* (वही १०.८१—८५)। इस अपात् स्थिति में भी, मनु के मनोमस्तिष्क से आदर्श ब्राह्मण के गुणों की परिकल्पना धूमिल नहीं हो सकी थी और वे उनको यथा सम्भव अक्षुण्ण रखने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। इसीलिए उनका आदेश था कि विपत्ति हटते ही, स्थिति के सामान्य होते ही, नए व्यवसाय को छोड़ करके, ब्राह्मण आदि वर्णों को अपनी मूल वृत्ति में लौट आना चाहिए। उनका कहना था कि अपना विगुण—गुणहीन—स्वधर्म भी दूसरे के स्वानुष्ठित कर्तव्य— नियत—कर्म से अच्छा होता है। दूसरे के लिए नियत वृत्ति से जीवनयापन करने वाला तत्काल अपने वर्ण से भ्रष्ट हो जाता है— *परधर्मेण जीवन्हि सद्यः पतति जातितः* (वही १०.९७; तुलना करें, श्री मद्भगवद्गीता ३.३५)।

आपात्कालकी वृत्ति को, समय के सामान्य हो उठने पर भी, करतें रहने वाला, उसका फल इस लोक में तो क्या, पर लोक में भी नहीं पा सकता है (वही १०.२८)। जो मुख्य विधि कर्म को करने में समर्थ होकर भी, आपद्धमर्य का आश्रय लेता है, उस दुर्बुद्धि को कोई पारमार्थिक फल—यश और कीर्ति—नहीं मिलती है (वही ११.२८—३०)। इस प्रकार स्वेच्छा से और लोभ, मोहवश किए गए गर्हित कर्मों के पाप से विविध प्रायश्यित्तों द्वारा ही छुटकारा मिल सकता है— *कामतस्तुकृतं मोहात्प्रायश्चितैः पृथग्विधैः* (वही ११.४६) और जब तक ऐसे प्रायश्चित न कर लिए ज़ाएं, सज्जनों को उससे संसर्ग रखने का निषेध किया गया था— *न संसर्गं व्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृतेद्विजः* (वही ११.४७)।

विपत्ति या आपात्काल का निर्धारण, व्यक्ति की रुचि या इच्छा पर आश्रित न होकर, नियमित करते हुए कहा गया था कि शरीर यात्रा के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति में कमी होकर, प्राण जाने के भय के उपस्थिति होने कोही आपात्काल समझना चाहिए— *जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमति यतस्ततः* (वही १०. १०४—१०६)। पर ऐसा करने से पूर्व, उसे अपने लिए नियत वृत्ति की सभी सम्भावनाओं को खंगाल कर ही, परधर्म वृत्ति स्वीकार करनी चाहिए। यथा, यद्यपि दान लेना बुरा है, और बुरा दान लेना तो मरणोपरान्त भी निन्दित है— *प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः* (वही १०.१०९), परन्तु आपात् काल में तो इसके क्षेत्र को विस्तृत करके, अब निकृष्ट जन्मा शूद्र से भी ले लेना विहित कर दिया गया था— *प्रतिग्रहस्तु, क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः* (वही १०.११०)

आरण्यकोंऔर उपनिषदों की सन्यास परक चिन्तनपद्धति के अनुरूप ही, जिस ब्राह्मण को परीक्षा के लिए भी आयुधग्रहण करने का निषेध कर दिया गया था— *परीक्षार्थमपि ब्राह्मण आयुधं नाददीत्* (आप. ध. सू. १.१०.२९७), जिसके लिए

मनु ने आनृशंस्य, क्षमा, सत्य और अहिंसा को प्राथमिकता दी थी (वही ४.२०४;१०.६२) और युद्धाचार्य की वृत्ति को भी गर्हित घोषित करने में कोई संकोच नहीं किया था, उसी का आत्मरक्षा (सामान्य काल में तो उसकी रक्षा का दायित्व राजा का ही था) और वर्ण धर्म—कर्तव्यों में बाधा उत्पन्न होने पर—*धर्मो यत्रोपरुध्यते, द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे काल कारिते* (वही ८.३४८) समष्टि की हितों की रक्षा के लिए तथा निर्बल वर्ग के प्रतिनिधि स्वरूपा नारी और विद्या के मूर्त स्वरूप विद्वान ब्राह्मण की रक्षा के लिए, द्विज श्रेष्ठ को शस्त्रग्रहण की आज्ञा देकर, आततायी की हत्या करने में कोई दोष न मानना—*स्त्री विप्राभ्युपपत्तौ न ध्नन्धर्मेण न दुष्यति* (वही १०.३४८), उनकी समाज के हित और निर्बल वर्ग की रक्षा के प्रति प्रतिबद्धता को ही रेखांकित करता है।

अन्य अवर वर्णों के लिए नियत वृत्तियों का आश्रय लेकर भी ब्राह्मण को अपना स्वाभाविक गुण—धर्म नहीं छोड़ना चाहिए। यथा, वैश्यों के लिए नियत वृत्ति को अपनाने पर भी उसे हिंसा पूर्ण और दैव तथा नदी आदि के आधीन—*हिंसा प्राया पराधीनां* (वही १०.८३) तथा पूर्णकालिक कर्म होने के कारण ही वेद के स्वाध्याय में बाधक—*कृषिर्वेदविनाशाय* (बौधा. ध. सू. १.३०.३१), कृषि कर्म को न करने का आदेश दिया गया था— *कृषिं यत्नेन वर्जयेत* (वही १०.८३)। आपातकाल में भी भारवाही पशुओं से निर्दय व्यवहार न करने—*प्रतोदेनातुदन्भृशम्* (वही ४.६८) और न ही उनका बन्ध्याकरण करने या कराने का आदेश दिया गया है।

व्यापार में अधिक लाभ की आशा से विक्रय को रोक रखने का निषेध करते हुए, तुरन्त ही विक्रय करने का आदेश दिया गया है— *विक्रीणीत.... अचिरस्थितान्* (मनु १०.९०; मेघातिथि की व्याख्या भी देखें)। सभी प्रकार के रसों, कृतान्नों (वही १०.८६) के विक्रय का भी निषेध किया गया था। पत्थर, नमक, सन, रेशम, ऊन और कपास के वस्त्र, फल,फूल औषधि, जल,सोम मधु,दूध—दही,धृत,तेल,गुड़,कुश,मद्य,नील, शस्त्र, पशु और मनुष्यों के विक्रय पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया था (वही १०.८६.८९)। कहा गया है कि गव्य पदार्थ बेचने पर तीन दिनों में ब्राह्मण शूद्र हो जाता है, किन्तु मांस, लाक्षा और नमक बेचने से तत्काल ही शूद्रत्व की प्राप्ति हो जाती है (वही १०.९२)।

यद्यपि भारत में सुदूर देशों से व्यापार की बहुत प्राचीन परम्परा के रहे होने के कारण (भगवानसिंह १९९१) ही ब्याज पर ऋण लेना देना बुरा नहीं समझा जाता था (योरोप में मध्यकालीन सामन्तवादी अर्थव्यवस्था के युग में हुए महाकवि दान्ते ने सूदखोर और पुंसिमैथुन करने वालों को समान रूप से गर्हित मानते हुए, एक ही नरक में स्थान दिया था) पर इस पर अंकुश लगाते हुए, मनु ने ब्याज की दर को नियत करके— *पञ्चकं शतमर्हति* (वही ८.१५२), उसका मूल से बढ़ जाना निषिद्ध घोषित कर दिया था— *कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता* (वही ८.१५१—५३)। प्रस्तुत विषय से किंचित हट कर हम कहना चाहते हैं कि मनु का सांस्कृतिक—सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक—परिवेश उनके ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी के मान्य काल से अत्यधिक प्राचीन है। उस काल के पूर्वापूर्व

हो चुके मेगस्थिनीज, कौटिल्य अथवा प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य से मिलने वाली सूचनाएं भी उनसे परवर्ती ही प्रतीत होती हैं। परन्तु मनु को बुद्ध पूर्व के काल में हुआ मानने पर, देशान्तरों से होने वाले समृद्ध व्यापार की परम्परा को खोजने के लिए हमें काली वंगा, हड़प्पा और मोएनजोदड़ो की सारस्वत सभ्यता तक जाना ही होगा। ब्याज लेने–देने की इस सुस्थापित परम्परा और सुनियोजित पद्धति के साथ ही, जैसा कि आगे दिखाया जाऐगा, ब्राह्मणों और शूद्रों के सहचार से स्थापित होने वाले उद्योग–धन्धों और क्षत्रिय राजा– इन्द्र के संरक्षण में वैश्यों की वाणिज्यिक प्रवृत्ति को देखते हुए, हमें तो मनु को सारस्वत सभ्यता के काल में रखने में कोई संकोच नहीं हो रहा है। जो कुछ भी हो, मुन ने, सरलता से प्राप्त होने वाले धन के प्रलोभन में पड़ कर स्वाभाविक ऋजुता और निःसपृहता के साथ ही तपः – स्वाध्याय जैसे गुणों के क्षरण की सम्भावना को देखते हुए ही, वैश्यों की यह वृत्ति प्रथम दो वर्णों के लिए आपातकाल में भी वर्जित कर रखी थी (१०.११७)।

कैसी भी घोर आवश्यकता का आश्रय लेकर, अपराध, अनैतिकता और अमर्यादित आचरण को उचित सिद्ध करने की प्रवृत्ति मनु में नहीं है। क्षुधाकुल होने पर भी उचित–अनुचित का ध्यान रखते हुए ही, सभी से भिक्षा नहीं ली जा सकती थी (४.३३)। अहंकार नाश और कष्ट से परिचित करा कर, आत्मोन्नति की साधना के रूप में तो ब्रह्मचारियों और वान्प्रस्थ–सन्यासियों को इसकी अनुमति दी गई थी, परन्तु गृहस्थों के लिए भैक्षचर्या से धारण किए जाने वाले जीवन को तो मृतक के समान ही कहा गया था (४.३)। अपात्रों को अविवेकपूर्ण ढंग से दिए जाने वाले दान को, निष्फल कह कर, हतोत्साहित किया गया था (४.१९०–१९४)। आज सभी के लिए वृत्ति की व्यवस्था करके भिक्षावृत्ति के उन्मूलन के जो आधे–अधूरे प्रयास किए जा रहे हैं, उनको वर्ण और आश्रम की मर्यादा में बांध कर मनु प्रतिपादित आर्ष परम्परा ने बहुत पहले ही सिद्ध करने में अपूर्व सफलता पाई थी। आज जो साधु वेश बना कर भिक्षा मांगने की प्रवृत्ति इतनी बढ़ी हुई दिख रही है, वह तो स्पष्ट ही बौद्ध प्रभाव के अन्तर्गत हुए वर्णाश्रम व्यवस्था के क्षरण का ही अवश्यम्भावी दुष्परिणाम हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, आर्ष परम्परा में ब्रह्मचारियों और सन्यासियों के लिए ही भिक्षा वृत्ति विहित थी। अन्य सभी को *'प्रशस्तानां स्वकर्मसु'* (२.१८२) होकर ही सम्मान मिलने की आशा थी। परन्तु बौद्ध धर्म के उदय के साथ ही, गृहस्थ भी तप और श्रम पूर्वक जीविकोपार्जन के कष्ट से बचने के लिए, विहारों में रहते हुए, सभी प्रकार के 'विहार' की सुविधाएं पाने लग गए थे। इस स्थिति की भयावहता का कुछ कुछ अनुमान, चीनी यात्रियों के वृत्तान्तों में दी गई विभिन्न नगरों और क्षेत्रों में स्थापित किए गए विहारों और उनमें विहार करने वाले भिक्षुओं की संख्या से किया जा सकता है। इसके पहले स्त्री और अविद्वान श्रमिक–शूद्र–को भिक्षा मांगना–मंगवाना दण्डनीय अपराध माना जाता था– *पुत्र दारमप्रतिविधाय प्रव्रजतः पूर्व साहस दण्ड; स्त्रियं च प्रव्रा*

जयतः (कौटिल्य, अ.शा;२.१.२६)। मध्यकालीन योरोप के उन देशों, जहां गृहस्थों की अपेक्षा ईसाई भिक्षुकों की संख्या अधिक होने लग गई थी, की अर्थव्यवस्था लड़खड़ा कर विखर गई थी। जहां एक ओर सबल जन शक्ति के परजीवी हो उठने से राष्ट्रीय उत्पादन घटाथा, वहीं असमय ही, सात्त्विक गुणों के अभाव में, केवल बिना परिश्रम किए ही सभी प्रकार के भोगों के साथ साथ सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होने के लोभ में हीलोगों के भिक्षु बन जाने से, समाज में भ्रष्टाचार और व्यभिचार इतना बढ़ गया था कि आन्ध्र प्रदेश में आज भी विहारों के ध्वंसावशेषों को' वेश्या ग्राम' कहा जाता है। इन्हीं सब दोषों का निराकरण और परिहार करते हुए ही, आर्ष परम्परा में एक आश्रम से दूसरे में जाते हुए—*आश्रमादाश्रमं गत्वा* (६.३४) शास्त्रोक्त विधि से सभी का क्रमशः निर्वाह करते हुए —*सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रंनिषेविताः* (६.८८) इसी क्रम से प्रव्रज्या ग्रहण करके ही परम् ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए— *सविधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति* (६.८५), वर्ण और आश्रम की सार्वकालिक और सार्वभौम व्यवस्था प्रतिष्ठापित की गई थी।

मनु स्मृति, में और 'उसी के आधार पर अब तक जो कुछ भी कहा है वह, अधिकांशतः ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व' अथवा 'श्रेष्ठत्व' की स्थापना के ही सम्बन्ध में ही है। अन्य वर्णों के सम्बन्ध में बहुत कम ही कहा गया है। एक दृष्टि से यह उचित भी है। जब 'श्रेष्ठत्व' की स्थापना हो जाएगी ,उसका आदर्श सर्वमान्य हो जाएगा, और अन्य सभी इसी आदर्श की उपासना करने लगेंगे, तब अन्य अवर आदर्श—कोटि की चर्चा का कोई विशेष औचित्य नहीं रह जाता है। फिर भी, समाज मेंआदर्श के अतिरिक्त , उस तक पहुंचने की सोपान श्रेणियों की चर्चा से बिल्कुल बचा भी नहीं जा सकता है। अतः मनु ने राजा अर्थात् शासन तंत्र के लिए दो अध्यायों की व्यवस्था करके, द्विजों के अध्ययन, यजन और दान जैसे सामान्य कर्तव्यों केअतिरिक्त 'क्षत्रिय' को लिए विषयभोगोंमेंअनासक्ति— *विषयेष्वप्रसक्तिश्च* (१.६०) पूर्वक प्रजाओं के रक्षण—*प्रजानां रक्षणं* (वही) और उसी कर्तव्य के सम्यक निर्वहन के लिए शस्त्रास्त्र धारण— *शस्त्रास्त्र भृत्त्वं* (वही १०.७६) कहा है। शस्त्र धारण प्रजा के रक्षण के लिए ही है, उसके उत्पीड़न के लिए तो कदापि नहीं है। मगर हम आज इसके विपरीत होता हुआ देख रहे हैं। आज क्षत्रियों का क्षत्रियत्व और ठाकुरों की ठकुराई मात्र कण्डक्टर के टिकट का पैसा मांगने पर उसे मारने पीटने और 'हम ठाकुर हैं' कह कर दुर्बलों के उत्पीड़न तक ही सीमित रह गई है। अब 'क्षत्रिय' दूसरों को क्षति से बचा कर नहीं, वरन उन्हें क्षति पहुंचाने में गर्व का अनुभव करते हैंऔर इस प्रकार वे अपने वैदिक गौरव से च्युत होकर, मनु केआदर्शों का उल्लंघन कर रहे हैं। 'वैश्य' के लिए पशुपालन— *पशूनांरक्षणं*, व्यापार, ऋण देना और कृषि— *वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च* (वही १.६१;८.४१०;१०.७६) आदि वार्ता कर्म— *वार्तायां नित्य युक्तं* (वही ६.३२६;१०.८०) नियत किए थे। जब तक वैश्य पशुपालन की वृत्ति अपनाए रहे, तब तक अन्य किसी को ऐसा करने का निषेध करते हुए, व्यावसायिक आरक्षण भी प्रदान किया

था– *वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथंचन* (वही ६.३२८ । उसको, मणि मुक्ता प्रवाल, लौहादि धातुओं, कार्पास आदि सूत्रों, गन्ध और रस की बढ़ती घटती उपलब्धि और मूल्य तथा गुण--दोषों का ज्ञान प्राप्त करते रहने का आदेश दिया गया था । इसके अतिरिक्त भी, उसे बीजों के बोने की विधि को जानने, खेत के गुण–दोषों को पहचानने , मापों और तौलों का यथोचित ज्ञान प्राप्त करने, अन्यान्य द्रव्यों के गुण–दोष, विविध देशों की व्यापारिक व्यवस्थाओं, व्यापार की वस्तुओं की प्राप्ति--अप्राप्ति की सूचना रखने और पशुओं की उन्नति की रहस्यों से भली–भांति परिचित होने का निर्देश दिया गया है (वही ६.३३०–१) । प्रतीत होता है कि कौटिल्य ने मनु की इन्हीं व्यवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए, अपने अर्थशास्त्र में उस समय तक उपलब्ध सभी ज्ञान को संग्रहीत कर दिया था ।

यहां यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि आज अपने नाम के आगे 'सिंह' लगा कर भी अपने को पिछड़ी जातियों में गिनवाने के लिए उत्सुक सभी व्यावसायिक वर्ग मनु की अवधारणा के अनुसार वैश्य वर्ण में ही रखे गए हैं । गोपालक अहीर–आभीर,जो आज अपने को यदुवंश से जोड़ने के लिए 'यादव' लिखने लगे हैं, अजा और अविपालक गड़रिए जो पाल लिखने लगे है तथा सुअर पालने वाले पासी–पासवान, जिन्हें इस्लाम की सुअरों के प्रति वितृष्णा के चलते ही हीन बनना पड़ा है ,आदि पशुपालक तथा अन्न उपजाने वाले कुर्मी, कुनबी अथवा पटेल, शाक–भाजी उत्पन्न करने वाले मुराईया खटिक जो आज शाक्य अथवा मौर्य लिख कर बुद्ध अथवा अशोक से सम्बन्ध स्थपित करने लगे हैं तथा माली आदि कृषिकर्म करने वाले सभी समुदाय मनु के अनुसार वैश्य वर्ण के ही अन्तर्भुक्त थे । इसी प्रकार साहू–तेली आदि फुटकर व्यापारियों के सम्बन्ध में समझना चाहिए ।

आपातकाल में यदि क्षत्रिय अपनी विहित वृत्ति छोड़ने के लिए बाध्य हो उठे, तो उसे वैश्य की भांति ही लेन–देन के व्यवहार से अपनी आजीविका प्राप्त करने की अनुमति दी गई है (वही १०.६५) । इसी प्रकार यदि वैश्य भी अपने नियत कर्म से निर्वाह करने में असमर्थ हो जाए तो उसे भी शूद्र कर्म से निर्वाह कर लेने के लिए कहा गया हैं । परन्तु ऐसा करते समय भी सर्वदा ही यत्न यही होना चाहिए कि कभी भी अकार्य न करने पड़ें और आपत्ति टल जाने पर, फिर सामर्थ्यवान हो जाने पर, तत्काल ही निम्न वर्ण के आपात्कालीन कर्म से हट कर, अपना वर्णोचित कार्य अपना लेना चाहिए(वही १०.६८), क्योंकि दूसरे वर्णों के लिए नियत कर्म द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले अपने वर्ण से भ्रष्ट हो जाते हैं– *परधर्मेण जीवन्हि सद्यः पतति* (वही१०.६७) । मगर, अपने से अनपेक्षित योग्यता वाली उच्च वर्णों की वृत्ति अपनाने का आडम्बर अत्यन्त गर्हित माना गया है– *अनृतं च समुत्कर्षे* (वही ११.५५) । कहा गया है अपने से ज्येष्ठ वर्ण की वृत्ति को ग्रहण करने का अभिमान नहीं करना चाहिए– *न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित्* (वही १०.६५) । जो हीन वर्ण–योग्यता–होते हुए भी लोभवश, अपने से उत्कृष्ट वर्ण के लिए विहित कर्मों से जीवन निर्वाह करना चाहता है –*यो*

लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्ट कर्मभिः राजा को उसका सारा धन छीन कर, शीघ्र ही देश से निकाल देना चाहिए— *तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत्* (वही ६.६६)।

इन तीन उच्च वर्णों अर्थात् द्विजों के अतिरिक्त, चतुर्थ एक—जाति के अविद्वान 'शूद्र' वर्ण के व्यक्ति के लिए केवल इन तीनों वर्णों की ईष्या रहित सेवा— *एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयसा* (वही १.६२) कर्तव्य कर्म ही नहीं, आजीविका भी कही गई है। परन्तु, मुख्य रूप से उसके लिए वेदों के पारंगत विद्वान और यशस्वी ब्राह्मण गृहस्थों— *विप्राणां वेद विदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम्* (वही ६.३३४), की सेवा ही धर्म—कर्तव्य कहा गया है। उसे यह सेवा शुद्ध भाव से, मृदुवाक् और निरहंकार पूर्वक— *शुचिरुत्कृष्ट शुश्रूषुर्मृदुवागनंहकृतः* (वही ६.३३५) ही करने का विधान किया गया है। कहा है कि इसी से उसका जन्म उत्कृष्ट होकर सफल हो पाता है— *उत्कृष्टा जातिमश्नुते* (वही) और इसी से उसकी मुक्ति भी सम्भव हो जाती है, यही उसके लिए *'नैश्रेयसपरः'* (वही ६.३३४) भी है।

यशस्वी और वेदविद् गृहस्थों की सेवा करते हुए इन भृत्य वर्गीय कर्मकर शूद्रों के लिए द्विजों का 'उच्छिष्ट' मिलने का विधान भी किया गया है— *शूद्राणां. ..... द्विजोच्छिष्टं भोजनम्* (वही ५.१४०)। इसे लेकर मनु की अनेक प्रकार से निन्दा की जाती है। अन्यत्र, श्राद्ध में — *उच्छेषणं भूमिगतं*—अर्थात् भूमि पर गिरा रह कर बचा हुआ भोजन भी उन्हीं का भाग कहा गया है (वही ३.२४६)। परन्तु थोड़ा आगे ही 'श्राद्ध में खाकर वृषल को जूठा देने वाले'— *श्राद्धं भुक्तवा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति* (वही ३.२४६) को नरक में भी भेजा गया है। इसके कुछ पूर्व, अतिथि सत्कार के सम्बन्ध में व्यवस्था देते हुए कहा गया है कि वैश्य और शूद्र वर्ग के अतिथियों को भृत्यों के साथ बैठाकर ही खिलाना चाहिए— *वैश्य शूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ, भोजयेत्सह भृत्यैः* (वही ३.११२) और अतिथि, परिवार जनों और भृत्यों के भोजन कर चुकने के अनन्तर ही दम्पति—गृहपति और गृहपत्नी—को— *भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु भृत्येषु चैव हि, भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती* (वही ३.११६) खाने को कहा गया है। इन सारे ही सन्दर्भों को देखते हुए, 'उच्छिष्ट' का अर्थ जूठा अथवा बचा हुआ मानना भी संगत नहीं प्रतीत होता है। वस्तुतः, इसका मूल अर्थ होना चाहिए, 'पहले से निकाल कर रखा हुआ' जिससे अतिथि और परिवार के सत्कार के उत्साह में भृत्यों के भोज्य—पक्वानों में न्यूनता न होने पावे। गृहस्थों को उनके कर्तव्य कर्म का स्मरण दिलाते हुए कहा भी गया है कि उन्हें अपने कुटुम्बी जनों की ही तरह, पोषणीय वर्ग के भृत्यों को, उनकी शक्ति, निपुणता और उनके परिमाण को देख कर, उनके निर्वाह की व्यवस्था करनी चाहिए— प्रकल्प्या.....तै *वृर्त्ति ... शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम्* (वही १०.१२४) और अपने आश्रित शूद्रों को बचा हुआ भोजन, वस्त्र, धान्य और पुराने उपस्कर भी देते रहना चाहिए (वही १०.१२५)। आपात्काल में , विद्वान ब्राह्मण को गुरु और आश्रित सेवकों के उद्धारार्थ कहीं से भी प्रतिग्रह ले लेने की छूट

के आदेश (वही ४.२५१) से भी उनके निर्वाह और भरण—पोषण के लिए गृहस्थ की प्रतिबद्धता उजागर होती है।

हमारे समाज में अभी भी पुराने वस्त्रों के लेन—देन की परम्परागत प्रथा चली आ रही है। यथा, सन्तान के उत्पन्न होने पर, प्रारम्भिक कुछ दिनों तक उसे आस—पास के अपने हितचिन्तक और वरिष्ठ परिवारों से लेकर पुराने वस्त्र ही पहनाने का प्रचलन है। पुनः आने जाने वाली स्त्रियों को वस्त्रादि देने की प्रथा भी कोई नई नहीं है। आज तो बहुतायत से खुली दुकानों से तुरन्त लाकर दिया जा सकता है, दिया जाता है। पर उस समय जब कपड़ा मिलें नहीं थीं, इस तरह की और इतनी दुकानें भी नहीं थीं, और वस्त्रादि समय समय पर जुड़ने वाले मेलों, और बाद में घूम—घूम कर बेचने वालों से , और मुद्रा के अभाव में, उपज की कटाई—दंवाई—भराई के तुरन्त बाद ही, लिए जाते रहे होंगे, तब क्या हर बार नए वस्त्र ही दिए जाते रहे होंगे? फिर, मध्यकालीन दरबारों में बंटने वाली 'खिलअत' और आज गुरुद्वारों तथा मजारों पर मिलने वाला 'सरोपा'—'शिरोपाव' भी तो उतारने ही हैं, भले ही वह देव या देव—तुल्य किसी वस्तु या व्यक्ति की ही क्यों न हों! और अन्त में, 'निक्सन' या 'जानसन' 'मार्केट' से ही वस्त्र लाकर ठाठ बनाने वाले 'बुद्धिविक्रेता' किस मुंह से इसे गर्हित और अपमान सूचक प्रथा कह कर धिक्कारते है? वस्तुतः, आपसी सौहार्द्र के दिनों में इस प्रथा के अन्तर्गत 'उतारन' पाकर आश्रित जन भी वैसी और उतनी ही प्रसन्नता,सम्मान और गौरव का अनुभव करते रहे होगें, जैसा और जितना अभिभावक पिता,पितृव्य या माता के पुराने वस्त्रों—'उतारन'—को पाकर पुत्र, पुत्री या पौत्र—पौत्री आज भी अनुभव करते हैं। प्रश्न केवल देने और पाने वाले के पारस्परिक सम्बन्धों और सौहार्द्र का ही है।

इन भृत्य वर्गीय शूद्रों को ब्राह्मण गृहस्थ के कुटुम्ब का ही अंग माना गया है (वही ११.२०)। इन्हें पत्नी, पुत्र और सहोदर भ्राता तथा अन्यान्य शिष्यों की तरह ही, शिक्षा देने के लिए, न कि दण्ड देने के लिए, ताड़ित किए जाने का निर्देश हुआ है (वही ८.२९९—३००;४.१६४)। अन्यत्र भी, परिवार के अन्य गुरुजनों तथा अन्य निकट सम्बन्धियों की तरह ही, इनसे भी *'विवादं न समाचरेत'* (वही ४. १७९—८०) का आदेश दिया गया है। यद्यपि 'विवाद' शब्द से न्याय व्यवहार और वितण्डा, दोनों का हीग्रहण किया जा सकता है, परन्तु अन्यत्र 'शूद्र को सम्मति न देने' — *न शूद्राय मतिं दद्यात्* (वही ४.८०) के निर्देश से जहां दूसरा अर्थ ही अधिक संगत प्रतीत होता है, वहीं, सम्मति, जिसमें तर्क—वितर्क का कुछ न कुछ अवकाश अवश्य ही रहता है, न देकर, आदेश ही देने की भावना भी प्रकट होती है।

अन्यत्र सम्पत्ति के अधिकार निरूपण के प्रकरण में कहा गया है कि पत्नी, पुत्र और शूद्र भृत्य, ये तीनों ही 'अधना' होते हैं— *त्रय एवाधना स्मृताः* (वही ८. ४१६)। सम्भवतः इसीलिए आपात्काल में कारुककर्म के द्वारा स्वतंत्र रूप से जीविकोपार्जन का अवसर उपस्थित होने पर, पूंजी जुटाने के लिए, लिए गए ऋण

पर उनसे सर्वाधिक ब्याज लिए जाने का विधान किया गया है— *द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शत समम्, मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः* (वही ८.१४२)। आज भी नए उद्योगों को स्थापित करने के लिए जुटाई गई पूंजी पर प्रतिभूति के भाव–अभाव और फल की निश्चयात्मकता–अनिश्चयात्मकता का आकलन करके ही ब्याज की न्यूनाधिक दर निश्चित की जाती है। यहां किसी प्रकार का वर्ग–विभेद पढ़ना उचित नहीं प्रतीत होता है।

स्वतंत्र रूप से सम्पत्ति का स्वामी न होने के कारण ही, उनके भरण पोषण का सारा दायित्व गृहस्थ का ही स्वीकार किया गया है (वही ४.२५१)। इसी लिए वेद और विद्या से रहित शूद्र से भिक्षा ग्रहण करने का (वही २.१८३), उससे धन लेकर इष्ट और आपूर्त आदि यज्ञ कर्म सम्पादित करने का (वही ११.२४,४२–४३) तथा दान–दक्षिणा प्राप्त करने के लोभ में, उन्हें बहका–फुसला कर, उन्हें यज्ञ करने के लिए प्रेरित करने और उनका यज्ञ करवाने का निषेध भी किया गया है। कहा गया है कि शूद्र को धर्म में न कोई *'नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधम्* (वही १०.१२६)। अतः, उन्हें स्वार्थी ब्राह्मण ब्रुव पुरोहितों की लिप्सा क्षेत्र से बाहर रखने के लिए ही *'मन्त्र वर्ज्य'* घोषित करते हुए, केवल सज्जनों के आचार–व्यवहार का ही अनुपालन करने— *सतां वृत्तमनुष्ठिताः* (वही १०.१२७) का आदेश दिया गया था। और उन्हें फुसलाने वाले ऐसे पुरोहितों को *'शूद्रयाजक'* कह कर *'ब्रह्मवादिषु गर्हिताः'* (वही ११.४२) कहा गया है और बताया गया है कि ऐसे ऋत्विज कच्चे घड़े की भांति ही शीघ्र नष्ट हो जाते हैं— *विनांश व्रजति क्षिप्रमामपात्रामिवाम्भसा* (वही ३.१७६)। अन्यत्र, अतिशयोक्ति कथन–अर्थवाद का आश्रय लेते हुए कहा गया है कि शूद्र का अन्न रुधिर के समान ही अभक्ष्य है, उसके सेवन से ब्रह्मवर्चस की हानि होती है— *आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम्* (वही ४.२१८)।

अपनी इसी 'मन्त्रवर्ज्य' संस्कार और विद्या हीनता तथा पराश्रित होने के कारण ही, उसे सभी प्रकार के पातकों से (न कि अपराध के दण्ड से) मुक्त रखा गया है— *न शूद्रे पातकं किञ्चित्* (वही १०.१२६)। किन्तु उसकी अस्मिता की रक्षा का भरपूर ध्यान रखा गया था। उनकी स्त्रियों की सुरक्षा के लिए ही, विशेषतया गृहस्थों और उनके परिवार के अन्य सदस्यों के अवैध प्रस्तावों से रक्षा करने के लिए ही, न कि उन्हें हीन समझ कर उनका अपमान करने के लिए, उनसे यौन सम्बन्ध स्थापित करने पर— *शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्*–अधोगति प्राप्त होने और सन्तान उत्पन्न कर लेने पर— *जयनियत्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते*–ब्राह्मण्य से हीन होकर शूद्र ही हो जाने की व्यवस्था दी गई थी (मनु ३.१७)। यह व्यवस्था केवल अवैध सम्बन्धों को लेकर ही थी। शूद्राओं से विवाह, अवांछनीय होकर भी, नितान्त अस्वीकार्य नहीं थे, अन्यथा मनु ने स्वयंही वसिष्ठ की पत्नी अक्षमाला तथा मन्दपाल मुनि की पत्नी शारगीं का इतना प्रशंसा पूर्वक उल्लेख न किया होता (वही ६.२३)। इसके गूढ़ अभिप्राय और अर्थवाद को न समझकर ही, सामाजिक न्याय के तथाकथित पक्ष धरों की इसे शूद्रों की अवमानना

समझने की हठवादिता का ही दुष्परिणाम है कि आज तथाकथित दलित वर्ग की महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि होती जा रही है और समाजिक न्याय की गुहार लगाने वाले नेता उन्हें सान्त्वना राशि बांट बांट कर, उनका उत्थान करने का दम्भ भर रहे है। मनु की इन व्यवस्थाओं में किसी भी प्रकार शूद्रों के तिरस्कार और अपमान करने की दुर्भावना नहीं थी। जिस प्रकार के अत्याचार, अनाचार और कदाचार आज दलित वर्ग की ही नहीं, स्त्री मात्र के प्रति हो रहे हैं, वैसे न तो मनु के विधान के अन्तर्गत सम्भव ही थे और न कभी उनके होने का कोई प्रमाण ही मिलता है। ये तो ईस्लामी आक्रमणकारियों द्वारा किए गए और किए जा रहे अत्याचारों का बरबस ही स्मरण करा देते हैं।

आपात्काल उपस्थित होने पर, शूद्र भृत्य को विद्वान और यशस्वी ब्राह्मण की सेवा से अपना भरण पोषण होता न दिखे और उसके पत्नी और पुत्रों को अभाव की पीड़ा सहनी पड़ जाए, तो उसे विविध शिल्प आदि— *कारुक कर्माणि शिल्पनि विविधानि च* (वही १०.१००) कारुक कर्मों से अपनी जीविका चलाने का आदेश दिया गया था— *जीवेत्कारुक कर्मभिः* (वही १०.६६)। यदि इस प्रकार से भी जीवन निर्वाह होने में कठिनाई आवे और भली—भांति काम न चल सके, तो उसे किसी क्षत्रिय अथवा धनी वैश्य का आश्रय ग्रहण कर लेना ही उचित होगा— *आराधयेद्* (वही १०.१२१)। परन्तु ऐसा करने की अनुमति देते हुए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इन दोनों वर्णों का आश्रय ले लेने से उसका और उसके परिवार का जीवन धारण तो अवश्य सम्भव हो जाएगा, किन्तु विद्वान ब्राह्मण की सेवा से हटकर, अन्य वर्णों के आश्रय में रहते हुए, उसकी आत्मोन्नति, उसके शिल्प की उन्नति और विकास में किंचित मात्र भी सहायता नहीं मिल पाएगी और उस दृष्टि से यह नई आराधना निष्फल ही सिद्ध होगी— *यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम्* (वही १०.१२३)। किसी न किसी का आश्रय आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी होने के कारण ही कहा गया है कि एक स्वामी का आश्रय छोड़ कर दूसरे का आश्रय ढूंढ़ने वाले ये शूद्र वर्गीय कारुक शिल्पी कभी भी वास्तविक रूप में स्वतंत्र नहीं हो पाते हैं— *न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्धि मुच्यते* (वही ८.४१४)

ऊपर हम अनेक बार शूद्रों को 'अशिक्षित मूर्ख' कह आए हैं। उस समय भी (और किसी सीमा तक आज भी) शिक्षा का अर्थ मुख्यतया गुरु मुख से सैद्धान्तिक ज्ञान—वेद तथा उसी के सान्निध्य में रह कर विधिवत् प्राप्त किए गए सत्य निष्ठा आदि संस्कारों का ही ग्रहण होता आया है। कहा भी गया है कि गुरु मुख के स्थान पर पुस्तक से ज्ञान प्राप्त करने वाले को, जार से गर्भवती हुई स्त्रियों की तरह ही, विद्वज्जनों के बीच में लज्जित होना पड़ता है— *पुस्तक प्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ, भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियाः* (पाराशर माधवीय भाग१ खण्ड १:१५४)। अन्यत्र, 'पुस्तक शुश्रूषा' को द्यूत, नाटकासक्ति, स्त्री,

आलस्य और निद्रा के समान ही *'विद्याविघ्नकराणि षट्'* भी कहा गया है (नारदवचनं, स्मृति (चन्द्रिका ६.१.५२) । आज भी बी.ए. पास व्यक्ति को ही स्नातक माना जाता है, परन्तु उच्चमाध्यामिक शिक्षा प्राप्त करके तीन वर्षों में प्राविधिक योग्यता प्राप्त कर चुके व्यक्ति को नहीं । परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं समझाना चाहिए कि अवर अभियन्ता अथवा शूद्र सर्वथा निरक्षर ही होते थे । ब्रह्मचर्याश्रम के प्रकरण में गुरु के आश्रम में सद्यः उपनीत हुए ब्रह्मचारी को *'शौचमदितः आचारमग्निकार्य च सन्ध्योपासनमेव च'* (२.६६)ही सिखाए जाने का उल्लेख हुआ है, न कि अक्षर और अंक ज्ञान कराए जाने का । इससे यही प्रकट होता है कि अक्षर और अंक ज्ञान की प्रारम्भिक शिक्षा प्रत्येक बालक को माता—पिता से ही मिल जाया करती थी । इस माता—पिता पर आश्रित प्रारम्भिक शिक्षा व्यवस्था के चलते रहने से और फिर माता पिता के भी विद्वान ब्राह्मणों की सेवा के लिए उनके सतत सान्निध्य में रहने के कारण ही, शूद्रों का सर्वथा निरक्षर होना किसी भी प्रकार संगत नहीं प्रतीत होता है ।

दूसरी ओर, सामान्य स्थित में शूद्रों का विद्वान ब्राह्मणों की ही सेवा में रहने को ही *'स्वर्गार्थमुभयार्थं'* (वही १०.१२२) तथा *'धर्मोनैश्रेयस परः'* (वही ६.३३४) कहे जाने से, उन शारीरिक श्रम कर सकने में समर्थ व्यक्तियों का सैद्धान्तिक ज्ञान की उन्नति के लिए समर्पित व्यक्तियों से जुड़े रह कर कार्य कुशलता—*शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च.....* (वही १०.१२४) प्राप्त कर सकने का संकेत पढ़ा जा सकता है । अन्यथा, मूर्ख और अशिक्षित व्यक्तियों का आपात्काल में शिल्प आदि कारुककर्मों से स्वतंत्र जीविका प्राप्त करने की अनुमति व्यर्थ ही हो जाएगी ।

यहां स्मरण रखना होगा कि ब्राह्मणों को 'सभी के निर्वाह के साधनों का ज्ञान प्राप्त करके दूसरों को सिखाने' (वही १०.२) तथा इसके लिए ही कुछ समय तक ब्राह्मणेतर गुरु के समीप रह कर भी शिल्प आदि की शिक्षा ग्रहण करने का (वही २.२४२) कथन भी हुआ है । इस प्रकार सभी प्रकार के ज्ञान विज्ञान का अभ्यास करने वाले विद्वान गुरुओं की सेवा संगति करने वाले शूद्रों को भी, आजकल के प्रयोगशाला के सहायकों की तरह ही, सिद्धान्तों को पूर्णतया न समझते हुए भी, विविध शिल्पों में पटु ही नहीं, निष्णात भी हो जाने की बात समझी जा सकती है । इसी से ही उनका कारुक कर्मों में दक्ष होकर जीविका उपार्जन कर लेने के आदेश की भी संगति लग जाती है । और इसी से ही ज्ञान के अन्यान्य क्षेत्रों की ही तरह शिल्प में भी नई नई उद्‌भावनाएं करने वाले विद्वान ब्राह्मण की सेवा संगति छोड़ देने से उनकी आत्मोन्नति, उनके शिल्प की प्रगति, रुक जाने की बात भी समझ में आने लगती है ।

इस तथ्य को स्वीकार करके ही, भारतीय समाज व्यवस्था की मूल प्रकृति, जिसके अन्तर्गत ज्ञान के सिद्धान्त पक्ष का अनुशीलन अनुसंधान करने वालों को ब्राह्मण, और क्रियात्मक प्रयोग—पक्ष का अभ्यास करके निर्माण कार्य मेंरत व्यक्तियों को शूद्र कहा गया है, समझी जा सकती है । इन दोनों ही प्रकार के ज्ञान और

उसके अभ्यास कर्मियों का संरक्षण और सवर्धन करने में सहायक वर्गों को इन दोनों के मध्य में ही रखा गया है। और समाज के इन चारों ही वर्गों—वर्णों में ऊंच नीच का भाव न आने देने के लिए, इनके अन्योन्याश्रित्व को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए ही, इनकी समाज या लोक पुरुष के विभिन्न अंगों से समनुरूपता स्थापित की गई है। इन सभी अंगों को उनकी शक्ति और क्षमता के अनुसार ही, न कि किसी के प्रति पक्षपात करने के लिए, प्रकृति ने शरीर में उच्चावच्च भाव से रखा है। ज्ञान शक्ति का ही प्रभाव है कि वह सर्वोच्च स्थान में आधष्ठित होती है। इसीलिए शिर को सभी अवयवों में ऊंचा स्थान दिया गया है और उसे सदा ही ऊंचा रखा जाता है। यदि सभी अंगों को एक सीध में लिटाया जाएं तो भी शिर को तकिया लगाकर कुछ ऊंचा ही रखा जाता है; अन्यथा उसे चैन नहीं मिल पाएगा। इसी प्रकार अन्यान्य शक्तियों को भी उनके प्रभाव और सामर्थ्य के अनुसार ही सन्निविष्ट किया गया है। इनमें राग द्वेष की कोई बात नहीं है, ऊंच नीच का भी कोई प्रश्न नहीं है, वरन सदा ही सभी का आत्यन्तिक सहयोग ही रहता है और इसी से शरीर और उसके अधिष्ठाता आत्मा का निर्वाह होता है। इस साम्य को स्थापित करके ही, वर्ण व्यवस्था का निरूपण करने वाले शास्त्रों ने समाज को भी इसी प्रकार के अंगिक सहयोग की प्रेरणा और आज्ञा दी है।

वैदिक साहित्य में अनेकत्र 'पाद' को 'प्रतिष्ठा (का कारण)' कहा गया है। 'पाद' से ही गति होती है और स्मरण रखना होगा कि संस्कृत भाषा में ज्ञान सम्बन्धी अनेक धातुओं का गत्यर्थक प्रयोग भी होता है। अतः सिद्धान्त पक्ष का ज्ञान प्राप्त करके, उसमें अतिरिक्त अनुसन्धान करने वाले ब्राह्मण तथा उसके क्रियात्मक पक्ष का कौशल प्राप्त करके निर्माण कुशल शिल्पी शूद्र को मनु के विधान में संपृक्त रखने की चेष्टा की गई थी। लोक—पुरुष के दो छोरों पर स्थित होकर भी, ये दोनों प्रतिस्पर्धी न होकर, एक दूसरे के सम्पूरक ही अधिक थे। ऐसी सम्पूरकता के भाव को अक्षुण्ण रखने के लिए ही, सिद्धान्त—ज्ञान सम्पन्न शोघार्थी को अर्थ लोलुपता से बचाते हुए, शूद्रादि शिल्पियों को आरक्षण दिलाने के लिए ही, मनु ने अपने विधान में ऐसे नियमों का समावेश किया था, जिनके अनुसार अपने ज्ञान का अर्थार्जन में प्रयोग करने वाले ब्राह्मणों को ब्राह्मण्य हीन और सपरिवार शूद्र घोषित कर दिया जाता था (वही ३.१५,१७)। इसी प्रकार, सैकड़ो और सहस्रों गौवों के स्वामी होकर भी ब्राह्मण को, वैश्यों की व्यावसायिक सुरक्षा के लिए ही, गव्य पदार्थों का तीन दिन से अधिक बेचना शूद्र बना देता था (वही १०.९२)

व्यापारियों को ब्याज पर ऋण दिए जाने की सुविधा दिलाने के कारण हीं हमने मनु की अर्थव्यवस्था की सुदूर देशान्तरों से व्यापारिक सम्बन्ध रखने वाली सारस्वत सभ्यता (चक्रवर्ती ; शीरीं रत्नागर १९८१) से तुलना करते हुए ही, मनु स्मृति को उसी काल में रखने का घृष्टतापूर्ण सुझाव दिया है। परन्तु यहां विद्वान ब्राह्मण वैज्ञानिक और निर्माण कुशल शूद्र शिल्पी के जैसे सहयोग और सहचार का चित्र उभरता है, उससे हमारी पूर्वोक्त धारणा को और भी अधिक समर्थन

मिलता है। सारस्वत सभ्यता में सामाजिक स्तरीकरण का अनुमान तो किया जाता है (सुभाष मलिक १९६८) किन्तु पुरातत्व के मूक प्रमाणों से स्पष्ट नहीं किया जा सका है। इसी सामाजिक स्तरीकरण में कहीं भी बल का प्रयोग न होकर, सर्वत्र स्वैच्छिक सहयोग, सहचार और फलस्वरूप सौमनस्य की प्रवृत्ति ही दिखाई देती है (फेयर सर्विस १९६२)। घरों में उद्योग थे, पर स्वामी और कर्मकरों के बीच का भौतिक भेद पहचानना कठिन है और यदि अन्तर था भी, तो अत्यन्त नगण्य ही रहा होगा (मैके १९४३; राव १९८५ इत्यादि)। और वैश्यों द्वारा संचालित होने पर भी, व्यापार को राजा, शासक, पुरोहित–कुछ भी कहें–का संरक्षण ही नहीं प्राप्त था, वह उसके सक्रिय संरक्षण और सहयोग से ही होता था (राव १९८५; भगवान सिहं १९९१)।

यहीं एक अन्य बात की ओर भी ध्यान आकर्षित करना अप्रासंगिक न होगा। मनु की आपात्कालीन व्यवस्थाओं की चर्चा की जा चुकी है। आपात्कालीन स्थितियों के उत्पन्न होने के दो ही सम्भावित कारण हो सकते हैं– बाह्य आक्रमण और आन्तरिक विप्लव तथा प्राकृतिक आपदाएं – अति अथवा अनावृष्टि तथा भूकम्प आदि। जैसा कि ऊपर कहा चुका है, मनु का सांस्कृतिक परिवेश उनके लिए प्रस्तावित ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी से पीछे चलते हुए बुद्ध के समय तक की ज्ञात परिस्थितियों से सर्वथा भिन्न है। अब यदि मुन को बुद्धपूर्व ही रखना हो, तो उस काल में इक्ष्वाकु नरेश सगर के समय में हुए शक आदि के आक्रमण (पार्जिटर १९७२ (१९२२): २०७, २६८) के अतिरिक्त किसी अन्य आक्रमण –आव्रजन का सन्धान नहीं मिलता है। इन्हें यवन इतिहासकारों द्वारा सुवास्तु के क्षेत्र में स्थित बताए गए मस्सागेताओं–महाशकों से जोड़ा जा सकता है (मजूमदार १९६०:२१४,१४५)। और भी, घोड़ों की साज–सज्जा और उन्हें मानवीय शवों के साथ अथवा अकेले ही भूमि सात करने की परम्परा के अतिरिक्त, उनके साथ ही मिलने वाले विशिष्ट आकार के मृत् चषकों की तक्षशिला में ऐतिहासिक काल तक चली आने वाली श्रृखंला के आधार पर उसी सुवास्तु घाटी के क्षेत्र में पहचानी गई गन्धार शवाधान संस्कृति – Gandhara Grave Culture– से भी इनका पुरातात्विक समीकरण स्थापित किया जा सकता है (दानी १९६७;सिल्वी एन्टोनिनी और ज्योर्ज स्टाकुंल १९७२)। इन शकों के अतिरिक्त अन्य किसी आक्रमण/आक्रामक आव्रजन के न कोई साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध है और न ही किन्हीं पुरातात्विक प्रमाणों से ही पहचान हो पाई है। ऐसी स्थिति में मनु स्मृति को सारस्वत सभ्यता से जोड़ने पर, मनु के आपात्काल को देखते हुए, सारस्वत सभ्यता के मोहनजोदड़ों और लोथल जैसे केन्द्रों पर विनाशकारी बाढ़ और काली बंगा के भूकंम्प (लाल १९७६) के अतिरिक्त अनावृष्टि से उत्पन्न दुर्भिक्ष का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। महाभारत आदि ग्रन्थों में ऐसे अनेक उल्लेखों से जो विवरण प्राप्त होते हैं, वे सारस्वत सभ्यता में हुई इन विनाश लीलाओं का अत्यन्त जीवन्त और सटीक चित्र प्रस्तुत करते हैं (भुवन विक्रम और अरुण कुमार, *प्रकाशनाधीन*)। इन्हीं कुछ आधारों पर वर्तमान मनुस्मृति की मूल अवधारणा को सारस्वत सभ्यता के विकास

की चरम स्थिति के कुछ पूर्व रखा जा सकता है ।.

सभी प्रकार के शिल्पों की उन्नति के कारण ही सारस्वत सभ्यता को समकालीन सभ्यताओं के बीच अपूर्व स्थान प्राप्त हो सका था । और सब प्रकार के शिल्पों की उन्नति के बिना कोई भी देश या समाज उन्नति नहीं कर सकता है । शास्त्रहीन कर्मशक्ति और कर्महीन शास्त्र बल के साथ ही शस्त्र बल से भी हीन होकर, राजनीतिक रूप से पराधीन होकर विकृत हो चुके समाज की अवनति से दुःखी होते हुए ही, स्वामी दयानन्द सरस्वती का ध्यान भी शिल्प विद्या और अन्यान्य उद्योगों की उन्नति की ओर ही गया था, और उन्होंने भारतीय युवकों को जर्मनी भेज कर प्रशिक्षित कराने के लिए प्रयत्न भी किया था । (यदुवंश सहाय १६७१ (१६६१): २६३–२६४) ।

क्रिया शक्ति पर आश्रित शिल्प विद्या और उद्योगों की प्रगति सैद्धान्तिक विज्ञान के विकास के अभाव में असम्भव ही है । इन दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । इसी लिए हमारे प्राचीन मनीषी विधायकों ने समाज में सभी प्रकार के ज्ञान और कर्म शक्ति की उन्नति के साथ ही, उन बलों के दुरुपयोग को रोकने, उन्हें निरंकुश और स्वेच्छा चारी न होने देने के लिए ही, ज्ञान शक्ति सम्पन्न ब्राह्मण और कर्म शक्ति के धनी शूद्र को एक ही सूत्र में बांध कर, तथा प्रत्येक बल को दूसरे से नियंत्रित करा करके ही, सामाजिक समरसता का विधान रचा था । नियंत्रण, निग्रह और अनुग्रह, दोनों ही विधियों से साधा जा सकता है । हितैषिता भी हो और साथ ही निरंकुश दुरुपयोग से भी बचा जा सके, तभी उचित और सम्यक नियंत्रण सफल हो सकता है और ऐसा नियंत्रण, निग्रह और अनुग्रह के सन्तुलित सम्मिश्रण से ही होना सम्भव है ।

इसी दृष्टि से शूद्र की प्रौद्योगिक कर्म शक्ति का उद्बोधन ब्राह्मण की ज्ञान शक्ति और नियंत्रण वैश्य के व्यापार बल से कराया गया था । शिल्पी को अपने उत्पादन के प्रचार–प्रसार से अधिकाधिक लाभ पाने की व्यवस्था व्यापार द्वारा ही सम्भव है और इसी लिए व्यापार जहां एक ओर शिल्पी की सहायता करता है, वहीं दूसरी ओर उसे आलस्य आदि दुरुपयोगी तत्वों से बचने की प्रेरणा भी देता है ।

व्यापार से धन–सम्पत्ति और समृद्धि आती है और इस आती हुई समृद्धि से उन्मत्त होकर, उसका दुरुपयोग करते हुए ही, कहीं वैश्य–व्यापारी बहुजन समाज को त्रस्त न करने लगें, इसकी सम्भावना का निराकरण करने के लिए वैश्य पर, समाज को क्षति से बचाने वाले–*क्षतात् त्रायते इति क्षत्रियः*–क्षत्रिय का नियंत्रण आवश्यक समझा गया था । यह क्षत्र बल जहां एक ओर शिल्पियों और व्यापारियों, जिनके कर्तव्य च्युत हो जाने पर सारे समाज की आर्थिक व्यवस्था छिन्न–भिन्न होने लगती है– *तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत*, को अपने अपने कर्तव्य कर्म में लगाए रहता है– *प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्* (वही ८.४१८), उन्हें सुरक्षा प्रदान करके व्यापार को बढ़ाने में सहायक होता है,

तो दूसरी ओर उन्हें निरंकुश होकर उन्मार्गगामी होने से भी रोकता है।

चातुवर्ण्य की व्यवस्था में यूं तो सभी अंगों का अपना अपना महत्व और तदनुरूप निश्चित स्थान था, परन्तु ब्राह्मण और क्षत्रिण वर्णों का आत्यन्तिक सहयोग अपेक्षित था। कहा गया है कि ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय और क्षत्रिय के अभाव में ब्राह्मण को ऋद्धि–सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती है। इन दोनों के सह–युक्त रहने पर ही लोक का कल्याण हो पाता है– *ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तामिह चामुत्र वर्धते* (मनु ६.३२२)। परन्तु पिछले ग्रीष्मावकाश में अवध विश्वविद्यालय में आयोजित विस्तार–व्याख्यान माला में बोलते हुए किन्हीं प्रो. विजय बहादुर राव ने इस आत्यन्तिक सहचार को अन्य दोनों वर्णों के शोषण के लिए किया गया षडयंत्र कहा था। ईसाई पंथ प्रचारकों द्वारा प्रस्तुत की गई प्रचार सामग्री की तोता रटन्त करते हुए, मनु के शूद्र की तरह ही, केवल वर्षों की संख्या के बल पर ही वरिष्ठ कहलाने वाले ऐसे प्राध्यापकों से एक प्रश्न पूछना चाहूंगा– क्या उन्होंने शस्त्र बल से सम्यक् रूप से सुरक्षित राष्ट्र में ही समृद्धि की वृद्धि होने की बात नहीं सुनी है? आज जो C T B T के सम्बन्ध में इतनी ऊहापोह, इतना वाद विवाद, इतनी धमकियां दी जा रही हैं और मनुहार हो रही है, क्या वह अपने अपने राष्ट्र को शस्त्र–बल से सुरक्षित करने के लिए ही नहीं हो रहा? श्रम शक्ति का इतना अकूत और अक्षय भण्डार होते हुए भी, पुरानी पड़ चुकी अथवा पड़ रही प्रौद्योगिकी को विकसित कर सकने में समर्थ ज्ञान–शक्ति के अभाव में, इस क्षेत्र की नवीनतम उपलब्धियों को आयात करने के अथक प्रयत्नों के बाद भी क्या उन्हें ब्राह्मण– ब्रह्मशक्ति–का महत्व नहीं समझ मेंआ पाया है? ज्ञान शक्ति के अभाव में प्रौद्योगिकी को और अधिक विकसित कर पाना सम्भव नहीं होगा; उत्पादन, मात्रा में ही नहीं, गुणवत्ता में भी, घट जाएगा और तब बेचारा व्यापारी ही क्या कर पाएगा। क्या अब भी ब्रह्म– ज्ञान शक्ति और क्षत्र–रक्षा बल के सहयोग सहचार को षड़यंत्र ही कहा जाएगा? जो भी हो, यह मनु की स्वतंत्र उद्भावना नहीं है। यही वेद–ज्ञान–का सुचिन्तित निष्कर्ष भी है। यजुर्वेद में कहा गया है: जहां ब्रह्म और क्षत्र, दोनों ही सम्यक रूप से सहयोग करते रहते हैं, मैं उसी लोक को पुण्य लोक मानता हूं। वहीं अग्नि और देव निवास करते हैं'– *यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह, तल्लोंक पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना* (२०.२५; देव और अग्नि के सम्बन्ध में देखें, अरुणकुमार १९९६)। तभी ज्ञान शक्ति और रक्षक बल को दृढ़ करने की आज्ञा दी गई है– *ब्रह्म दृंह क्षंत्र दृंह* (६.३)।

क्षत्र बल या शासन तंत्र भी यदि विकृत होकर उच्छृखंल हो जाए, और रक्षक के स्थान पर बहुजन समाज का भक्षक हो जाए, तो उसको नियिंत्रित करने का उपाय किसी भी अन्य सांस्कृतिक परम्परा में नहीं सोचा सुझाया जा सका है। कहने के लिए 'विधि' या 'विधान' के शासन को सर्वोपरि मान लिया जाता है, परन्तु अपने वास्तविक रूप में न्याय या विधान तो जड़ वस्तु ही है और क्षत्र–बल, शासन के हाथों में ही केन्द्रित रहता है। केवल भारत में आर्ष परम्परा ने ही इस शस्त्र बल या राजतंत्र को नियंत्रित करने के लिए आत्मबल की अवधारणा का आविष्कार

और विकास किया था। सांसारिक बल तो पूर्णतः राजा के हाथों में ही रहने देना आवश्यक है, अन्यथा शासन कैसे चल पाएगा? और फिर, उस पर नियंत्रण रखने के लिए किसी अन्य सांसारिक बल की कल्पना करने के प्रयास में ऐसे अनन्त बलों की एक अन्त हीन श्रृखंला खड़ी होती चली जाएगी। इसी लिए आत्मबल, आध्यात्मिक बल के रूप में ब्राह्मशक्ति की प्रतिष्ठा की गई थी। अपने तप, त्याग और निःस्पृह कर्तव्य निष्ठा से *'सर्वभूतहितेरतः'* और सदाचरण के अमित प्रभाव से ही ब्राह्मशक्ति राजा के क्षत्रबल पर भारी पड़ती थी, और उसका नियंत्रण करने में सक्षम हो पाती थी और उस पर अनिवार्य अंकुश लगा सकने में समर्थ हो जाती थी। भारतीय इतिहास में इस ब्राह्मबल द्वारा अनेक बार उन्मार्ग गामी राजाओं का नियंत्रण किए जाने के उदाहरण मिलते हैं। इस ब्राह्म बल को नियंत्रित करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। इसे तो आत्मनियंत्रित ही रहना होता है। कहा भी गया है कि ब्राह्म शक्ति को अपने वेद—ज्ञान—बल का आश्रय लेकर कभी भी पाप कर्म में नहीं प्रवृत्त होना चाहिए— *न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरुचिर्भवेत्* (वही १२.१०१), क्योंकि एक बार विकृत हो जाने पर यह बल स्वतः विनिष्ट हो जाता है, तिरोहित हो जाता है, तब इस बल का दम्भ करने वालों का नियंत्रण राजतंत्र के क्षत्र बल के हाथों चला जाता है। क्षत्र बल से नियंत्रित होकर ब्राह्मबल, आत्मशक्ति खोकर, मात्र पुस्तक बल ही रह जाता है और सरकस के सिंह की तरह ही, अपने नियंत्रक के कशाघातों को सहन करता हुआ, उसके आज्ञा मानने को विवश होकर, उससे सहयोग करने लगता है। और तक वे सब विकृतियां जन्म लेने लगती है, जिन्हें हम भारत युद्ध के बाद से बढ़ते हुए, आज पराकष्ठा पर पहुंचा हुआ पा रहे हैं।

---

६ ब्राह्मणों के तथाकथित विशेषाधिकार

सामान्य और विशेष—आपात् कालीन, दोनों ही परिस्थितियों में सभी वर्णो की विहित और निषिद्ध, दोनों प्रकार की वृत्तियों का संक्षिप्त आकलन करने के बाद, यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण को अकारण ही द्विजोत्तम और द्विज श्रेष्ठ नहीं कहा गया था। ब्राह्मण के लिए महान धन—समृद्धि अनर्थकारी कही गई है—*अनर्थो ब्राह्मणस्येष यद्वित्तनिचयो महान्* (म. भा;१३.६१.३६)। अतः वह स्वेच्छा पूर्वक ही तप और त्याग का अभावपूर्ण जीवन जीने का व्रत लेकर वेद—ज्ञान— का स्वाध्याय करता हुआ, विधायक, उपदेशक और निर्देशक हो पाता था, और मनुष्यों का ही नहीं, अपितु सभी भूतों का हित चिन्तन करके ही महान 'गुरु' पद प्राप्त करता था। इसी 'आदर्श' ब्राह्मण को मनु द्वारा दिए या दिलाए गए, कुछ विशेष—लगने वाले ही— अधिकारों को इधर बहुत अधिक उछाल कर अत्यधिक हो—हल्ला' मचाया जा रहा है; और खड़ा किए जाते हुए इसी तुमार के अनुपात में ही 'मनु ' और 'मनुवादियों' को गालियां भी दी जा रही हैं। ऐसा अनर्गल प्रलाप करने वाले तथाकथित विद्वान और नेता कहलाने वाले आलोचक यह भूल जाते हैं कि प्रत्येक समाज में, चाहे वह पूंजीवादी हो या तथाकथित साम्यवादी—समाजवादी,चाहे असभ्य कहलाने वाला वन्य समुदाय हो अथवा सामुदायिक सम्पत्ति रखने वाला वर्गविहीन यहूदी 'किब्बुत्ज' समाज, सभी में कुछ विशेष व्यक्तियों को लोक हित में उनके योगदान की मात्रा और महत्व के अनुरूप ही कुछ न कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होते ही हैं। सामाजिक न्याय की पक्षधरता के नाम पर अपना नेतृत्व चलाते हुए, अपनी चुपड़ी का जुगाड़ करने वाले सर्वश्री मुलायम सिंह, लालू प्रसाद तथा शरद 'यादव' क्या अपने अनुयायियों जैसी ही सुविधा—असुविधा पूर्ण जीवन शैली अपनाते हैं? क्या सर्वश्री 'मान्यवर' कांशीराम 'साहिब', रामविलास पासवान या फिर कुमारी मायावती अपने वर्ग के अन्यान्य स्त्री—पुरुषों की तरह ही तथाकथित अभाव में ही जीते हैं? कुमारी मायावती को अठ्ठाइस सहस्र से कम के पलंग पर नींद क्यों नहीं आती? क्या उन्होंने सुना नहीं कि 'नींद' तो दर्द के बिस्तर पर भी आ जाती है, अठ्ठाइस हजार का पंलग ही हो, जरूरी तो नहीं?' फिर अपने को 'किसान का बेटा' कहलाने गर्व का अनुभव करने वाले और इसीलिए विशेषाधिकार चाहने, मांगने और पाने भी वाले सर्वश्री अजीत सिंह, बलराम जाखड़ या अब हरदनहल्ली दोड्डे गोड़ा देवगौड़ा बता सकेंगे कि उन्होंने कब से हल की मूंठ नहीं पकड़ी है? यदि अपने पिताओं और पितामहों आदि के कभी कृषक रहे होने के कारण ही, अपने को भी जोर जोर से वंचित घोषित करा कर, ये सब अनेक विशेष सुविधाएं पाना चाहते हैं, तब फिर मनु द्वारा निन्दित भी, उन ब्राह्मणों को ही क्यों कोसा जाता है, जो अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित योग्यता की ख्याति के आधार पर ही गर्व करते हुए आज, कुछ विशेष सुविधाएं नहीं, मात्र मौखिक सम्मान ही पाना चाहते हैं? जोर जोर से चिल्लाते हुए मिथ्या और तथ्य हीन आरोप लगा दूसरों का मुंह बन्द करा कर, अपनी सुविधाओं को

अक्षुण्ण ही नहीं, निरन्तर बढ़ाते रहने के लिए सतत् जागरूक और प्रयत्नशील ये 'कुटिल–कुचाली' और अवसरवादी आलोचक और नेता यह भूल जाते हैं या क्षुद्र स्वार्थों की चमक में अन्धे होकर भूल जाना चाहते हैं कि जिन पर वे आरोप लगा रहे हैं, उस वर्ग ने कभी कुछ भी न लेकर सदा सर्वदा दिया ही दिया है, जब कि वे स्वयं मौखिक और प्रवंचना पूर्ण सहानुभूति के अतिरिक्त कुछ भी न देकर, सदा से सब कुछ लेते ही नहीं, वरन लूटते ही रहे हें, ओर अब भी, अपने अनुयायियों को बहला फुसला कर, और अधिक ही लूटना चाहते हैं।

जो कुछ भी हो, भारतीय आर्ष परम्परा में कर्तव्य कर्म साधन ही नहीं, स्वयं साध्य भी हैं—कर्म करने के लिए ही कर्म किया जाता है। इसी को भगवान श्री कृष्ण ने गीता में निष्काम कर्म कहा है। किसी भी क्रिया की अनिवार्य और अवश्यम्भावी प्रतिक्रिया की तरह ही कर्म के बाद उसके फल की प्राप्ति तो होगी ही, अतः उसकी चिन्ता और आकांक्षा किए बिना ही, सफलता में सुख और असफलता में दुःख— *नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः* (मनु ४.१३७)— का अनुभव न करते हुए ही, अपने कर्तव्य कर्म—धर्म— का सम्यक् निर्वाह— 'नेकी कर, कुएं में डाल'— को ही श्रेष्ठ पुरुष का लक्षण माना गया है। गीता में इसे ही 'समत्व योग' कह कर, इसकी सिद्धि कठिन और विरल बता दी गई है। अन्यान्य सामान्य बहुजन समाज इस आदर्श की ओर उन्मुख होते हुए भी, सेवा के प्रतिदान स्वरूप, अपनी साधना की ऊंचाई—निचाई के अनुरूप ही, कुछ मूर्त अथवा अमूर्त लाभ पाना चाहता है। मरणोपरान्त परलोक में मिलने वाले दण्ड से न सभी व्यक्तियों को भयभीत ही किया जा सकता है, और न ही वहां मिलने वाले पुरस्कारों से सभी व्यक्तियों के आकर्षित ही किया जा सकता है। अतः 'त्रिवर्ग' की आर्ष अवधारणा में इसी आकांक्षा को रूपायित करने का प्रयास किया गया है। आधुनिक समाज शास्त्री और अर्थशास्त्री भी अब स्वीकार करने लग गए हैं कि उच्च चेतना सम्पन्न व्यक्तियों को 'योग'—भौतिक सुख सुविधाओं के कारण भूत काम्य पदार्थों और 'क्षेम' आर्थिक सुरक्षा की अपेक्षा इस जीवन में प्राप्त होने वाला 'यश' और मरणोपरान्त 'कीर्ति' अधिक प्रिय होती है। मूर्त 'योग—क्षेम' से तो कभी न कभी व्यक्ति तृप्त होकर वितृष्ण भी हो सकता है, किन्तु अमूर्त यश और कीर्ति और मूर्त सम्मान से तृप्त होकर वितृष्णा उत्पन्न होने का कभी भी कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। सांसारिक यश—कीर्ति, आदर—सम्मान तथा पदोचित सुख सुविधाओं जैसे अमूर्त—मूर्त विशेषाधिकारों की पृष्ठभूमि में यही प्रवृत्ति पाई जाती है। राजा और ब्राह्मण, दोनों को ही समाज—सेवा के लिए प्रतिबद्ध और कृतसंकल्प होने के कारण ही 'धृतव्रत' कहा जाता है। अतः साधारण जनों की अपेक्षा इन दोनों की ही प्रतिष्ठा अधिक होती है। परन्तु यतः, राजा अपनी सेवा का कुछ मूल्य भौतिक सुख—सुविधाओं के रूप में प्राप्त कर ही लेता है, निःस्पृह ब्राह्मण और सर्वस्व त्यागी सन्यासी को उससे कहीं अधिक सम्मानास्पद माना गया है।

अपने स्वाभाविक गुणों से प्रेरित होकर ही, गृहस्थी के भार के उत्तरदायित्वों को—धर्म—कर्तव्यों के, न कि काम—सुखों की तृप्ति का सम्यक निर्वहन का

आवश्यक अंग मानते हुए, स्वेच्छा से तप—स्वाध्याय की व्यस्त किन्तु अभाव पूर्ण जीवन पद्धति अपना कर, समष्टि को अभ्युदय और निः श्रेयस की प्राप्ति का मार्ग दिखाने वाले, इन ब्राह्मणों को सुपात्र को शिक्षा देने से अस्वीकार करने का, याजन कर्म में भी मोल—भाव करने का और अपने विद्या और ज्ञान वैदग्ध को अर्थकरी ही नहीं, यशस्करी भी बनाने का निषेध किया गया था। यहां यह स्पष्ट कर देना होगा कि द्रोणाचार्य द्वारा एकलव्य को अस्वीकार किंए जाने की घटना गुरु और शिष्य के सम्बन्धों का उदाहरण न होकर, मात्र राजकर्मचारी के, राजाज्ञा के बिना, किसी अन्य कार्य को न करने की 'आचरण—संहिता' केअनुपालन का ही उदाहरण है। यूनान के प्रचीन एथेन्स गणराज्य के सोफिस्टों की स्थिति इससे नितान्त विपरीत थी। वहां भारतीय परम्परा का ब्राह्मण कुतूहल का ही विषय हो सकता था (मजूमदार १९६०: १८७,२०१—२) आदर या अनुकरण का नहीं। आर्त्त हो कर भी वह सभी के आगे हाथ नहीं फैला सकता था (मनु ४.३३)। 'दान की बछिया की दांत नहीं गिने जाते' जैसी लोकोक्ति भी उसके लिए निरर्थक हीथी। उसे तो दान में मिलती हुई बछिया के दांत ही नहीं गिनने होते थे, उसे तो दाता की वंशावली और कर्म पंजिका भी बांच कर ही दान स्वीकार करने की आज्ञा दी गई थी (मनु ४.८४—९२;२१०—२१८;२५१—५२ इत्यादि)। मनु की मान्यता थी कि परवशता ही सभी दुःखों का मूल कारण है—*सर्वं परवशं दुःखं* (४.१६०), अतः प्रबुद्ध चेतना और सात्त्विक गुण पूर्वक आत्मबल सम्पन्न ब्राह्मण को, दूसरों की शक्ति से शक्ति शाली हुए राजा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बताते हुए ही, पीड़ित होने पर भी राजा के समक्ष अभियोग प्रस्तुत करने का निषेध कर दिया गया था— *न ब्राह्मणोऽवेदयेत किंचिद्राजनि धर्मवित्।* उसे तो अपनी ही वाक् सामर्थ्य से अपकार—कर्ताओं को समझाने का आदेश दिया गया था— *स्ववीर्येणैव ताञ्छिष्यान्मानवानपकारिणः* (११.३१—३३)। उसे तो अपनी वृत्ति— प्रवृत्ति से बहुजन समाज के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत करना होता है, जिस पर सारा समाज चलने का प्रयत्न करता था ओर उसके स्खलन से, उसे आदर्शच्युत होने से, समस्त समाज प्रभावित होता था। अतः उसका स्खलन अक्षम्य था ।

मनु ने अनेक स्थलों पर आदर्श ब्राह्मण की 'स्तुति' की है। उनके अनुसार 'धर्म कोश की सुरक्षा के लिए' ही —*धर्मकोशस्य गुप्तये* (१.१००), इस 'धर्म की शाश्वत मूर्ति' —*मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती* (१.९८), ब्राह्मण की सृष्टि हुई थी। वह वेद ज्ञान सम्पन्न ब्राह्मण ही सारे जगत का वास्तविक स्वामी है— *ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः* (९.२४५)। उसी की कृपा से ही अन्य सभी लोग भोग प्राप्त करते हैं —*आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः* (१.१०२)। एक अन्य स्थल पर (९.३१३—३१६) ब्राह्मण को सभी कुछ—अग्नि, समुद्र, चन्द्रमा, दूसरे लोक और देवों (प्रकाशमान, *द्योतनाद्वा*—यास्क ७.१५) को भी रच सकने में समर्थ (९.३१३—७९) कहा गया है (देखें, अरुणकुमार १९९६ विशेषतया २३—२५)

अपने स्वार्थ ही को परम—दैवत, उसकी एक ही पुस्तक और उसका भी एक ही और अन्तिम व्याख्याता मानने वाले, चाहे वे ईसाई हों, इस्लाम मतावलम्बी

हों या फिर मार्क्स पंथावलम्बी' अथवा ऐसे ही अन्याय छुटभैयों के अनुयायी, सभी प्राप्त आदेशों को ही शिरोधार्य करके, अपनी संकल्प विकल्पात्मक बुद्धि को अवकाश पर भेज देते हैं' और दूसरों के बुद्धि वैभव से उत्पन्न भोगों की लूट पर ही निर्भर करते हैं। ये सभी लूट में किए गएं श्रम को ही सम्पत्ति का प्रमुख उत्पादक तत्व मानते हैं। प्रशिक्षित पशुओं की तरह ही संकल्प—विकल्प शक्ति से हीन इन मनुष्यों को अपने से हीन व्यक्तियों के सम्मुख अपराधबोध होता है और श्रेष्ठ से मिल कर इनमें कुंठा जागृत होती है, ईर्ष्या पनपती है। परन्तु जैसा कि श्रीमती एन राण्ड ने कहा है, मनुष्य की बुद्धि ही उसके अस्तित्व का एक मात्र साधन और सम्बल है। उसे जीवन मिला है, उसके अस्तित्व का आश्वासन नहीं; शरीर मिलता है ,पोषण नहीं; मस्तिष्क मिला है, बुद्धि नहीं। जीवित रहते हुए, अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए उसे कर्म करना होता है और कर्म करने के लिए, उसे कर्म के उद्देश्य और स्वभाव का निश्चित ज्ञान प्राप्त करना होता है। भोजन के अस्तित्व और उसे प्राप्त करने के साधन, इन दोनों ही के ज्ञान के अभाव में उसे कभी भी भोजन नहीं प्राप्त हो सकता है। जो लोग केवल पाशविक—शारीरिक—श्रम से ही सम्पत्ति की उत्पत्ति मानते और मनवाते हैं, वे अपने नाखूनों से जीवन भर कुरेद कर भी प्यासे ही रह जाएंगें, परन्तु बुद्धि के प्रयोग से खटका दबाते ही जल उपलब्ध हो जाता है (*एटलस श्रग्ड* ६३८—६६३

अत: जिन लोगों ने मनु के इन श्लोकों को 'ब्राह्मण पक्षपात का स्पष्ट उदाहरण' कह कर प्रक्षिप्त माना है (विद्यालंकार), वे विपक्ष के 'रासभ—क्रन्दन' के रव में अर्थवाद की कूजन को नहीं सुन पाए हैं। सम्भवतः इन्हें 'ब्राह्मण के जन्म लेते ही'—*ब्राह्मणो जायमानो हि* (मनु १.१००,६६) वाक्यांश से भ्रम हुआ है। परन्तु, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, ब्रह्मचारी का जन्म उपनयन संस्कार के बाद—गुरु के गर्भ से गिना जाता है (अर्थव ११.५.३)। इसी प्रकार ब्राह्मण का जन्म भी, मां के गर्भ से निकलने के क्षण से नहीं, वरन गुरु द्वारा विद्या, ज्ञान और संस्कार प्राप्त कर चुकने के बाद, स्नातक होने के दिन से ही गिना जाना चाहिए। अपनी तपः सिद्ध तर्कणा बुद्धि शक्ति और ज्ञान से ही ब्राह्मण सभी कुछ का निर्माण करने में ही नहीं, उसे नष्ट करने भी समर्थ होता है। अपने अज्ञान के कारण निर्माण में असमर्थ होते हुए भी, ज्ञानी द्वारा जुटाई गई सुख सुविधाओं के भोग को, उसकी कृपा न समझ कर, अपना अधिकार समझना लूट नहीं है तो और क्या है?

समाज से मिलने वाले इस योगदान और उसके महत्व के परिप्रेक्ष्य में ही ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों का पर्यालोचन किया जाना चाहिए। सबसे पहले उसेमिलने वाले **आदर-सम्मान** की बात लें। कहा गयाहै कि ब्राह्मण दश वर्ष का भी हो और राजा सौ वर्ष का, तो भी उनमें पिता पुत्र जैसी बड़ाई छोटाई मानी जानी चाहिए— *ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्, पितापुत्रौ विजानीयाद्.....* (मनु २.१३५)। वैसे तो हमारे विचार में ब्राह्मण की वयस उसके स्नातक होने के

दिन से ही गिनी जानी चाहिए, पर यदि दुर्जन तोष न्याय से गर्भ से निःसृत होने से भी मान ली जाए, तब भी कुछ हानिनहीं है। अंग्रेजी के महा प्रचार के इस युग में, हम नित्य ही सुनते रहते हैं कि 'The child is the father of man। यहां तात्पर्य है सम्भावनाओं से। किशोर ब्रह्मचारी की सम्भावनाएं अनन्त होती हैं, जब कि सौ वर्ष की वयस का राजा अपनी पूर्ण आयु भोग कर मृत्यु की बाट ही जोह रहा होता है। यदि मनोविज्ञान के आधुनिक अध्येताओं का विश्वास करें, तो बालपन में किशोर को जितना ही प्रशंसा पूर्ण प्रोत्साहन दिया जाएगा, वह उतनी ही अधिक उन्मुक्त उन्नति कर सकने में समर्थ हो जाएगा। सम्भवतः इसीलिए, कान्यकुब्ज ब्राह्मणों मेंआज भी बड़े छोटे, सभी परस्पर 'पायलागी' कहते हैं।

अन्यत्र कहा गया है कि धन, बन्धुता, आयु, कर्म और ज्ञान आदि सम्मान के पांच कारणों में सभी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं। जिसमें जितने अधिक कारण एकत्र हो जाते हैं, वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ कहा जाता है, परन्तु नब्बे वर्ष से अधिक का शूद्र भी सम्मान का पात्र होता है— *मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीगतः* (मनु २.१३६—१३७)। रथादि वाहन पर चढ़े हुए, नब्बे वर्ष से अधिक वयस वाले, रोगी, भारवाही, स्त्री, वर, राजा और स्नातक के लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए, यदि ये सब एक साथ ही सामने आ जाएं तो राजा और स्नातक का मान पहले करने को कहा गया है, किन्तु राजा और स्नातक में स्नातक को राजा द्वारा भी सम्मान पाने योग्य बताया गया है (वही २.१३८—९)। अन्यत्र भी, गुरुकुल से विद्या प्राप्त करके लौटने वाले स्नातक को राजा का अक्षय ब्राह्म कोश— *अक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते* (वही ७.८२), जिसे न कोई चुरा सकता हैं न ही नष्ट कर सकता है— *न तं स्तेना न चामित्रा हरान्ति न च नश्यति*। ऐसे महत्वपूर्ण व्यक्ति के लिए मार्ग छोड़ कर सम्मान प्रदर्शित करना प्रणति की औपचारिकता मात्र ही है और इससे स्नातक की अपेक्षा राजा के सम्मान की ही वृद्धि होती है।

मनु नेअपनी व्यवस्था में 'साक्षी' के सम्बन्ध मेंआपस मेंआर्थिक विनिमय करने वालोंअर्थात् जिनके आर्थिक हित आपस मेंसन्नद्ध हों, मित्र, शत्रु, अप्रमाणिक व्यक्ति, वे जिनसे दोष प्रकट हो गए हों, रोगी, और अपराधी व्यक्तियों के साक्ष्य को अमान्य कर दिया है— *नार्थसंबन्धिनो नाप्ताः न सहाया न वैरिणः, न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याधार्ता न दूषिताः* (८.६४)। इन के स्थान पर सभी वर्णों के प्रामाणिक, कर्तव्यों को सम्यक् प्रकार से जान कर, उनका निर्वहन करने वालों, निर्लोभ और स्थानीय पुत्रवान गृहस्थों को ही साक्षी बनाने का विधान किया है (८.६२—६३)। ऐसा कह कर भी मनु ने कारुक शिल्पी, कुशीलव नटः गायक और राजा के साथ ही श्रुति के अध्ययन—अध्यापन के लिए समर्पित विद्वान, ब्रह्मचारी और सन्यासी को साक्षी बनाए जाने का निषेध कर दिया है— *न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुकुशीलवौ, न श्रेत्रियो न लिंगस्थो न संघेभ्यो विनिर्गतः* (८.६३)। इसका उद्देश्य उनके व्यस्त तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण दैनिक चर्या में व्यवधान न पड़ने देना भी

हो सकता है (आयंगर १९४६:१२३), परन्तु हमें तो इसका मूल उद्देश्य तो कुछ और ही प्रतीत होता है। न्याय व्यवस्था की ही नहीं, प्रशासन के भी प्रमुख होने के कारण राजा का किसी पक्ष की ओर से साक्षी न होना तो उचित ही है, किन्तु कारुकों और कुशीलवोंकी वृत्ति लोगों का कार्य सम्पादन करके तथा उनका मनोरंजन करके ही चलती थी और अन्य तीनों वर्ग भी समाज से प्राप्त होने वाले प्रतिग्रह पर ही आश्रित होते थे। ऐसी स्थिति में, इनका किसी एक का पक्ष ग्रहण करने से, दूसरे पक्ष के रुष्ट हो जाने से, उनकी वृत्ति में कमी हो जाने का भय ही सम्भवतः इस विधान का प्रमुख कारण रहा होगा। अतः इस छूट को भी किसी प्रकार का विशेषाधिकार मानने का कोई औचित्य नहीं है।

आर्थिक विशेषाधिकारों के प्रसंग में सर्वप्रथम उनके **करमुक्त** होने की चर्चा उठाई जाती है। मनु ने वेदज्ञ ब्राह्मण की तीन ही वृत्तियां बताई हैं— अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह। अब इनमें किस पर और कितना कर लगाया जा सकेगा? आज कल भी शिक्षण संस्थानों को दिया जाने वाला दान कर मुक्त ही नहीं होता है, दान—दाता को भी अपने व्यक्तिगत आयकर में भी छूट दिलाता है। राजा द्वारा संरक्षित गुरुओं की शिक्षण संस्थाओं में होने वाले अध्ययन—अध्यापन के धर्म अर्थात् शिक्षा और विद्या के बहुमुखी संवर्धन—प्रवर्धन से राष्ट्र की आयु —स्वास्थ और धन समृद्धि बढ़ती है— *संरक्ष्यमाणो राजां यं कुरुते धर्ममन्वहम्, तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च* (७.१३८)। महाकवि कालिदास ने भी अभिज्ञान शाकुन्तलम् में आरण्यवासी विद्वानों के अध्ययन अध्यापन और उपदेशों के तप के छठे भाग को राजा का अमूर्त लाभ माना है (२.२३)। धर्म शब्द को religion का और यज्ञ को मात्र अग्नि होत्र का पर्याय मानने वाले अज्ञ आलोचक इस शब्द से वैसे ही भड़क उठते हैं जैसे कि लाल कपड़े से स्पेनी सांड़। परन्तु विधायक और कवि, दोनों ही जिस बात को स्वीकार करते हों, उसे मात्र पुरोहितों द्वारा मूढ़ जनता को भ्रमित करने के लिए फैलाया गया मकड़ जाल मान कर झुठलाना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता है।

पुनश्च, अनेक विद्वानों ने मध्यकालीन स्थिति के प्रकाश में देखते हुए ही, आचार्य कौटिल्य द्वारा ऋत्विकों, आचार्यों और श्रोत्रियों को दिलाए जाने वाले *'अदण्डकराणि अभिरूपदायकानि'* (२.१.७) **ब्रह्मदेयों** को भूमि दान समझने की भूल की है। पर थोड़ा ही आगे आचार्य ने 'स्वयं ही कृषि न करने वालों से भूमि छीन कर, अन्य वास्तविक कृषकों को दिए जाने' की व्यवस्था दी है— *अकृषतामच्छिद्यान्येभ्यः प्रयच्छेत* (२.१.१०)। अतः निश्चित ही, ब्रह्मदेय में मिलने वाली भूमि कृषि भूमि नहीं रही होगी। वैसे भी, कृषि कर्म को वेदाभ्यास में बाधक, हिंसा प्राय और पराधीन कह कर ब्राह्मणों के लिए निषिद्ध घोषित किया ही जा चुका था। अतः, शतपथ ब्राह्मण में आए वाक्यांश— 'ब्राह्मण की भूमि और सम्पत्ति को छोड़ कर'— *यदन्य भूमेश्च ब्राह्मणस्य वित्तात्* (१३.६.२.१८) में भी कृषि

भूमि का संदर्भ न ग्रहण करके, विद्यालय की विन्यास भूमि का ही ग्रहण किया जाना उचित प्रतीत होता है। अब यदि वृत्ति से होने वाले लाभ के अंश का ग्रहण किया जाना ही 'कर' है, तो विद्यालय—आश्रम की विन्यास—भूमि से विद्वान ब्राह्मण गुरु को कोई व्यक्तिगत लाभ होने की किंचित मात्र भी सम्भावना नहीं है, अतः उस पर कर लगाने का कोई औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता हैं। मनु ने तो राष्ट्रीय आपदा के समय में जीवन—मरण का संकट उत्पन्न हो जाने पर भी, श्रोत्रियों से कर न लिए जाने का विधान किया है। उद्देश्य यही था कि कोई भी श्रुति—वेद—ज्ञान के प्रति समर्पित गुरु क्षुधातुर होकर अपना अध्ययन—अध्यापन कर्म न छोड़ दे और भावी पीढ़ी का भविष्य अन्धकार पूर्ण न होने वाले—*म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्; न च क्षुधास्य संसीदेच्छोत्रियो विषये वसन्* (७.१३३)। और भी, उन्होंने कहा है कि जिस राज्य में विद्वान गुरु क्षुधा से पीड़ित होता है, उस राज्य का शीघ्र ही नाश हो जाता है (७.१३४)। बालकों की सुरक्षा और शिक्षा के प्रति इसी चिन्ता के कारण ही सद्यः स्थापित यहूदी राष्ट्र इतनी शीघ्रता से ही इतना समुन्नत हो सका है कि सब ओर शत्रुओं से घिरा हो कर भी, उन्हें नाकों चने चबाने को बाध्य कर सका है (लिओन उरिस, *एक्सोडस*)। अतः यदि इस कर मुक्ति के प्रावधान को ब्राह्मण का विशेषाधिकार मान भी लिया जाए, तब भी इसे व्यक्ति परक सुविधा न मान कर, राष्ट्र निर्माण के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग—शिक्षा और शिक्षासंस्थानों को दिया जाने वाला आवश्यक संरक्षण ही मानना चाहिए (७.१३६)।

उत्तराधिकार के नियमों की चर्चा करते हुए मनु ने कहा है कि ब्रह्मण के अतिरिक्त अन्य वर्णों में कोई उत्तराधिकारी न होने पर, राजा को उस सम्पत्ति का अधिग्रहण कर लेना चाहिए—*इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः* परन्तु ब्राह्मण का धन कभी नहीं लेना चाहिए, यही शास्त्र मर्यादा है— *अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः* (९.१८९) अऋत्विक ब्राह्मण की सम्पत्ति को हरण कर लेने अथवा उसकी न्यायोचित स्त्रियों को भोगते देने की वैकल्पिक व्यवस्था से— *हरेन्नृत्विजो वापि नन्यायवृत्ताश्च याः स्त्रिय* (९.१८७), यहां निश्चित ही ब्राह्मण शब्द से विद्वान शिक्षक—गुरु कुल का ही ग्रहण किया जाना चाहिए, न कि किसी व्यक्ति का। ऐसे विद्वान ब्राह्मण गुरु का कोई उत्तराधिकारी न होने पर, उसकी सम्पत्ति—संस्था, उसके गुरु अथवा शिष्यों को मिलती थी— *अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा* (९.१८७)। परन्तु, उत्तराधिकार में संस्था पाने वाले का त्रैविद्य, पवित्र और इन्द्रिय जयी होना अनिवार्य कहा गया है, तभी धर्म—कर्तव्य कर्म की हानि नहीं हो सकेगी और अध्ययन—अध्यापन की सुचारु निरन्तरता बनी रहेगी— *त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते* (९.१८८)। इस नियम से भी किसी व्यक्ति—ब्राह्मण पर किसी विशेष कृपा का भाव न होकर, मात्र राष्ट्र और समाज के हित में विद्या और ब्राह्म कोश के अक्षय और अक्षुण्ण रखने की ही चिन्ता मुखर हुई है।

मनु के एक अन्य नियम पर भी ब्राह्मणों के प्रति पक्षपात का आरोप लगाया जाता है। कहा गया है कि विद्वान ब्राह्मण को यदि कोई **पूर्वकालिक भूमिगत निधि** मिल जाए, तो वह उसे पूरी की पूरी ही अपने पास रखने का अधिकारी कहा गया है। वह तो सभी कुछ का स्वामी ही है— *विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम्, अशेषतोऽप्याददीत् सर्वस्याधिपतिर्हिसः* (८.३७;१.१००)। कुछ पुस्तकों में ही मिलने वाले एक श्लोक के अनुसार उसे ऐसी निधि के प्राप्त होने की सूचना राजा को अवश्य ही दे देनी चाहिए और राजा की अनुमति से ही निधि को स्वायत्त करना चाहिए। ऐसा न करने पर उसे चोर समझा जाएगा और वह दण्ड का पात्र हो जाएगा— *ब्राह्मणस्तु निधिं लब्ध्वा क्षिप्रं राज्ञे निवेदयत्, तेन दत्तं तु भुञ्जीत स्तेनः स्यादनिवेदयन्* (८.३७) इसी से सम्बद्ध अगले श्लोक में कहा गया है कि यदि राजा को कोई भूमि—में—दबी ऐसी निधि मिलती है, तो उसमें से आधा विद्वान ब्राह्मण गुरुओं में बांट कर, शेष को अपने कोश में रख ले— *यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ, तस्माद्द्विजेभ्यो दत्त्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत्* (८.३८—३९)। आज भी लगभग ऐसा ही नियम— Treasure Trave Act— चल रहा है। विश्वविद्यालय तथा संग्रहालय तथा अन्यान्य शिक्षा और शोध संस्थान और संगठन शासन को सूचित करके ही, ऐसी निधियों को अपने पास रख सकते हैं। दूसरी ओर, शासन (के पुरातत्व आदि विभागों) को मिली ऐसी निधियों का कुछ भाग अन्य शिक्षा और शोध संस्थानों और संगठनों में वितरित कर दिया जाता है। जब आज के आधुनिक मन्यमान युग में भी ऐसा ही हो रहा है, तो यह आक्षेप क्यों? सम्भवतः मध्यकालीन 'जन्मना जाति' के सिद्धान्त की भावना से प्रेरित होकर, मनु के मूल मन्तव्यों की उपेक्षा करके ही ऐसा किया जा रहा है। मनु का ब्राह्मण व्यक्ति न होकर, एक सम्पूर्ण शिक्षा संस्था ही था और धर्म religion न होकर, समाज का सम्यक निर्वहन करने वाली अवश्य करणीय कर्तव्य निष्ठा। अब यदि कोई अन्धा सूर्य को न देख कर अथवा देख कर भी न देखना चाहे, तो दोष सूर्य का तो नहीं ही कहा जा सकेगा।

अन्त में, वर्णों के आधार पर क्रमशः बढ़ने घटने वाली दण्ड व्यवस्था के भेदों की मूल भावना को ठीक से न समझ कर ही, छिछले विचारकों ने, अभिधामूलक अर्थ को ही ग्रहण करते हुए, इसे ब्राह्मणों के प्रति पक्षपात परक मान, मनु पर आक्षेप किए हैं। मनु ने व्यवहार—विवादों के हिंसा और आर्थिक, ये दो ही मुख्य भेद माने हैं और फिर इनके अठारह आवान्तर भेद गिनाएं हैं— *हिंसा यः कुरुते कश्चिद्देयं वा न प्रयच्छति, स्थाने ते द्वे विवादस्य भिन्नोऽष्टादशधा पुनः* (८.१—३)। हिंसा के भी मारपीट तथा गाली गलौज— *पारुष्ये दण्ड वाचिके* (८.६) आदि दो भेद बताए गए हैं। वाक्यारुष्य के लिए दण्ड की व्यवस्था करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण को गाली देने वाले क्षत्रिय को सौ पण, वैश्य को उसकी क्षमता—समृद्धि के अनुसार पचास से दो सौ पचास पण और शूद्र को वध दण्ड दिया जाना चाहिए— *शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति, वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे*

वा शूद्रस्तु वधमर्हति (८.२६७)। क्षत्रिए को अपशब्द कहने वाले ब्राह्मण को पचास पण, वैश्य को पच्चीस और शूद्र को बारह पण दण्ड दिया जाना चाहिए (८.२६८)। समान वर्ण के व्यक्ति को अपशब्दकहने पर बारह पण का दण्ड निर्धारित किया गया था, परन्तु अकथनीय अपशब्द कहने पर दण्ड दुगना हो जाता था (८.२६६)। मूल सिद्धान्त यही है और आगे के तीन श्लोकों में *'शूद्रस्तुवधमर्हति'* का तथा २७६–२७७ में इन्हीं का विस्तार होने से, इन्हें अनावश्यक माना जा सकता है। परन्तु इन दोनों के मध्य में दबे पड़े रह गए, एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले श्लोकों की सदा से अनदेखी कर दी जाती रही है। कहा गया है कि विद्या, देश, उत्पत्ति, शरीर के संस्कार के विषय में क्रोध से और अपमान करने की इच्छा से, मिथ्या प्रवाद फैलाने वाले को दो सौ पण का दण्ड मिलना ही चाहिए— *श्रुतं देशं च जातिं च कर्मशरीरमेव च, वितथेन ब्रुवन्दर्पाद्याप्यः स्याद्द्विशतं दमम्* (८.२७३)। काणे, लंगड़े, लूले आदि विकलांगो को भी क्रोध में हीनताबोध कराने के लिए ही, वैसा ही कह देने वाले के लिए भी अर्थदण्ड का विधान किया गया था (८.२७४)। दण्ड भोग अथवा प्रायश्चित कर चुके पतित को पतित और चोर को चोर कहने वाला भी अपराधी ही माना गया है, और यदि आरोप मिथ्या हो और दुर्भावना वश ही लगाया गया हो तब तो दण्ड दुगना हो जाताथा (८.२७७)। गुरु, माता, पिता, बहिन, भाई और पुत्र को शाप आदि के रूप में भी अपशब्द कहने वाले को और गुरु के लिए मार्ग न छोड़ने वाले के लिए भी अर्थदण्ड की व्यवस्था की गई थी (८.२७५)।

दण्ड-पारुष्य के लिए भी इसी प्रकार वर्ण क्रम से घटते—बढ़ते दण्ड की व्यवस्था निर्धारित की गई थी। अन्त्यज अपने जिस जिस अंग से श्रेष्ठ द्विजाति पर आघात करे, उसका वही अंगच्छेद कर देना चाहिए— *येन केनचिदङ्गे न हि स्याच्छेच्छ्रेष्ठमन्त्यजाः, छेतव्यं तत्तेदवास्य तन्मनोरनुशासनम्* (८.२७६)। मारपीट में जितना ही अधिक दुःख हो, उतना ही कम या अधिक दण्ड दिया जाना चाहिए— *यथा यथा महद्दुःखं दण्डकुर्यात्तथा तथा* (८.२८६)। अंगों पर व्रण या रक्त—स्राव होने पर दण्ड के साथ साथ, उसकी चिकित्सा का व्यय भी दिलाना आवश्यक कहा गया है— *समुत्थान व्ययं दाप्यः सर्व दण्डमथापि वा* (८.२८७)। आगे कहा गया है कि पत्नी,पुत्र, सहोदर भाई के साथ ही, शूद्र सेवक या श्रमिक को भी, त्रुटि हो जाने पर, कोड़े या बेंत से पीटने वाले को राजा से कोई दण्ड नहीं मिलता था, परन्तु शिक्षा के लिए दिए जाने वाले इस दण्ड का आघात उनकी पीठ पर ही होना चाहिए, शिर पर नहीं। पीठ के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान पर आघात होने की दशा में, दण्ड देने वाले को चोर के समकक्ष ही, दण्ड दिए जाने की व्यवस्था दी गई है— *अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौर किल्विषम्* (८.२६६–३००)।

पारुष्य की इस दण्ड व्यवस्था के समान ही आर्थिक अपराधों के लिए

की गई व्यवस्था मेंभी वर्ण क्रम का ध्यान रखा गया है, किन्तु परिणाम ठीक विपरीत ही है। कहा गया है कि आर्थिक अपराधियों का नियंत्रण करने वाले राजा की कीर्ति और राज्य दोनों की ही वृद्धि होती है—*स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते* (८.३०२) और ऐसे अपराधियों को दण्ड न देने वाला राजा स्वयं उस अपराध का अपराधी कहा जाता है— *अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम्* (८.३१६)। इन अपराधों के काल और प्रयोजन तथा उद्देश्य को परख कर के ही, उनका दण्ड निर्धरित किया जाना चाहिए—*कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत्* (८.३०४)। और भी,आचार्य पिता,माता,पत्नी,पुत्र,मित्र और पुरोहित, जो कोई भी अपने कर्तव्य का सम्यक् निर्वाह नहीं करता है और कोई अपराध करता है, वह राजा के लिए अदण्ड्य नहीं है, उसे दण्ड दिया ही जाना चाहिए। न्यायासन पर बैठे हुए राजा को पक्षपात नहीं करना चाहिए— *पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः, नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति* (८.३३५)।

इन सामान्य प्रस्तावना परक नियमों का उल्लेख कर देनें के बाद, मनु ने कहा है कि जिस अपराध के लिए साधारण जन को एक पण दण्ड दिया जाना चाहिए, वैसे ही अपराध के लिए राजा को संहस्रपण का दण्ड होना चाहिए, यही सुविचारित निश्चय है— *इति धारणा* (८.३३६)। आगे कहा गया है कि चोरी में जहां जहां जो दण्ड मिलना चाहिए, उस चोरी के फल को जानने वाले शूद्र को वह आठ गुना अधिक करके ही मिलना चाहिए , वैश्य को उसका दुगना (सोलह), क्षत्रिय को उसका दुगना (बत्तीस) और ब्राह्मण को, सभी कुछ जानने के कारण, उसका दो गुना (चौंसठ) या पूरा सौ अथवा उसका दो गुणा (एक सौ अट्ठाइस) दण्ड दिया जाना चाहिए (मनु ८.३३७—३३८)।

पदे पदे मनु का नाम लेकर उन्हें कोसने वालों से हम जानना चाहेंगे कि इन दोनों, शारीरिक और आर्थिक, अपराधों में वर्ण क्रम से भेद किए जाने में उन्हें कैसे और किस प्रकार के पक्षपात की गन्ध आती है? वस्तुतः यहां किसी प्रकार के पक्षपात का कोई प्रश्न नहीं है। वास्तविक पक्षपात तो आज सभी को न्याय की तुला पर समान मान कर किया जा रहा है और तभी आज का आयातित न्याय अन्धा ही कहा जाता है। मनु ने सभी को समान नहीं माना है। वेद की मान्यता के अनुसार आंखे,कान आदि इन्द्रियों में समान होते हुए भी, सभी अपने अपने मनोवेगों में असमान ही होते हैं—अक्षण्वन्तः कर्णवन्तःसखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः(ऋ.१०.७१.७) और इसी लिए उन्होंने देश—काल—प्रयोजन और अपराधी के ज्ञान का परीक्षण करके ही न्याय करने और दण्ड की मात्रा निर्धारित करने का आदेश दिया है।

पारुष्य अर्थात् गाली गलौज और मार पीट के अपराधों के लिए वर्णक्रम से किया गया भेद अनुशासन मूलक है, पक्षपात पूर्ण नहीं और आर्थिक अपराधों के लिए की गई व्यवस्था व्यक्ति की आवश्यकताओं, उसकी परिस्थितियों और उसके आपेक्षिक ज्ञान के अनुसार की गई थी। भाजपा सरकार के विश्वास प्रस्ताव

के विरुद्ध बोलते समय 'मनुवाद' का नाम लेकर विरोध करने वाले 'मान्यवर' कांसीराम जी क्या बताएंगे कि क्या परिवार में पौत्र द्वारा पितामह को और पितामह द्वारा पौत्र को अपशब्द कहना अथवा मारना समान रूप से दण्डनीय अपराध है? क्या अपशब्द या मारपीट में छोटे बड़े का भेद नहीं किया जाना चाहिए? क्या ऐसे अपराधों में सामान्य सैनिक और सेनानायक, नेता और अनुयायी, विभाग प्रमुख और साधारण चपरासी में, भेद किया जाना पक्षपातपूर्ण और अनुचित है? यहां यह भी भुला दिया जाता है कि मनु ने शूद्र सेवक और भृत्य को पत्नी , पुत्र और सहोदर भ्राता के समकक्ष ही रखकर, शिक्षण के अतिरिक्त, दण्ड देने को अपराध ही माना है।

दूसरी ओर, आर्थिक अपराधों में व्यक्ति जितना ही प्रतिष्ठित होता है, ज्ञानवान होता है, उसका अपराध उसी अनुपात में घोर और घोरतर होता जाता है। दण्ड अपराधियों को किए गए अपराध के लिए ही नहीं दिया जाता है, भावीं अपराधियों को चेतावनी देने के लिए भी प्रयुक्त होता है। और सामाजिक सुरक्षा और समरसता को अक्षुण्ण रखने में इस चेतावनी की अत्यन्त महत्पूर्ण भूमिका होती है। मनु को इस प्रकार सब जगह कोसने का ही फल है कि जहां एक ओर कर्मचारियों में , कर्म करों में अनुशासन हीनता बढ़ रही है और आज सभी कार्यालयों में कार्यसंस्कृति नष्ट होकर,अव्यवस्था फैल रही है, वहीं दूसरी ओर आर्थिक अपराध भी बढ़ रहे हैं। यदि निम्न वर्ग का व्यक्ति अपनी भूख मिटाने के लिए, अपनी पत्नी और बच्चों के लिए ओषधि लाने के लिए,अपनी मूल—भूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चोरी करता है, उत्कोच ग्रहण करता है तो वह चोरी छोटी होती है, उसका उद्देश्य भी बुरा नहीं होता है। और उसका प्रभाव भी उतना अधिक विनाशक और दूरगामी नहीं होता है, जितना कि किसी प्रथम श्रेणी के अधिकारी , मुख्य न्यायाधीश, राजनीतिक दल के नेता अथवा देश के प्रधानमंत्री की चोरी अथवा उत्कोच ग्रहण करने का। ये सभी व्यक्ति अपनी मौलिक भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चोरी अथवा उत्कोच गहण नहीं करते हैं—वे तो उन्हें पहले से ही स्वतः और आवश्यकता से अधिक ही प्राप्त होती है। अधिकारी, न्यायधीश ऐसा करते है अपनी भोगच्छा—विलास की बढ़ती आकांक्षाओं की आसुरी तृप्ति के लिए, नेता करता है वोट और वोट से चुने गए जन प्रतिनिधियों को खरीद कर, देश की राजनीतिक संस्कृति का विनाश करके, अपनी सत्ता को स्थापित करने के लिए और प्रधान मंत्री ऐसा करता है अपनी सत्ता को अक्षुण्ण रखने के लिए और विदेशी बैंकों में धन संचित करने के लिए। इस प्रक्रिया में तीनों ही भ्रष्ट आचरण का उदाहरण प्रस्तुत करके, देश के नैतिक मूल्यों के क्षरण ओर सांस्कृतिक शुचिता के नाश के ही दोषी नहीं होते है, अपितु देश की भौतिक सुरक्षा व्यवस्था को औंर क्षीण करने के भी अपराधी बनते हैं। 'मनु' और 'मनुवाद' को कोसने वालों ने ही भारतीय समाज पर से उनकी जकड़न को ढीला ही नहीं कर दिया है, वरन वे ही आर्थिक अपराधों को सिद्ध दोषीमुख्य न्यायधीश श्री रामास्वामी को दोषमुक्त कराने के भी अपराधी हैं। वे ही बोफ़ोर्स, सेन्ट किट्स,

तथा संचार प्रणाली के सौदों में दलाली खाकर, देश की सुरक्षा व्यवस्था को निर्बल कराने के भी अपराधी हैं। वे ही हर्षद मेहता के घोटालों, शक्कर घोटाले, चारा काण्ड, अलकतरा काण्ड, हवाला, दिल्ली भूसम्पत्ति और आवास काण्ड, झारखण्ड के जनप्रतिनिधियों के विक्रय ओर अब यूरिया काण्डों के ही नहीं, उनकी जांचों में बाधा डाल कर, व्यवधान उत्पन्न करा कर अपराधियों को संरक्षण देकर, देश और जाति से द्रोह करने के भी अपराधी हैं। ओर अब तो मनु को क़ोस्ने वालों ने इन सभी घोटालों के मूर्धन्य कलाकारों से ताल–मेल भी बैठा लिया है। मनु की व्यवस्था से रेखामात्र भी विचलित न होने वाले, रघुवंश में उत्पन्न उसके मुकुट मणि भगवान श्री राम ने स्वयं अग्नि परीक्षा के साक्षी होते हुए भी, मात्र जनापावाद के कारण ही अपनी निर्दोष पत्नी भगवती सीता को वनवास दे दिया था। परन्तु मनु को कोसने वालों के प्रभाव का ही प्रताप है कि आज देश का प्रधानमंत्री अपनी पुत्री को, निराश्रितों के अशं से गैस या तेल की एजेन्सी दिलाने के, अपने पुत्रके हर्षद मेहता और करसन कम्पनी के साथ मिल कर अपराध करने के आरोप लगने के बाद भी, ब्रीफकेस और झारखण्ड विक्रय काण्ड तथा अन्य अनेक काण्डों का आरोप लगने के बाद भी, निर्लज्जतापूर्वक नित्य दिन में दस बार दूरदर्शन पर अपना प्रचार करवाता रहा था। तर्क दिया जाता है कि अपराध सिद्ध न होने तक किसी को दोषी नहीं माना जाना चाहिए। यद्यपि यह भारतीय परम्परा, जिसका उदाहरण श्री राम ने प्रस्तुत किया है, की मान्यता नहीं है, फिर भी दुर्जन तोष न्याय से उनके कथन को सत्य मानते हुए भी पूछा जा सकता है कि स्वयं ही नियुक्त किए गए और अपनी ही आज्ञाओं के आधीन कार्य करने वाले अधिकारियों से ही दोषमुक्त घोषित करवा देना कैसा और कहां का न्याय है? या फिर, वर्षानुवर्ष जांच को टलवाते रह कर, अनिर्णय की स्थिति को चलने देते हुए ही, अपराध के सिद्ध न हो पाने तक, अपने को निर्लज्जता पूर्वक अपराध मुक्त घोषित करते रहने का ही क्या औचित्य है?

व्यभिचार, बलात्कार आदि दुष्कृत्यों से स्त्रियों को दूषित करके **वर्ण संकरता फैलाने** के अपराधों के लिए भी कठोर दण्ड विहित किए गए थे। यहां भी न्यूनाधिक दण्ड की व्यवस्था किसी वर्ण या वर्ग के साथ पक्षपात से प्रेरित न होकर, मात्र सामाजिक न्याय ओर समरसता को अक्षुण्ण रखने के लिए, अनुशासनपरक चेतावनी ही थी। किसी भी समाज में श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न व्यक्ति संख्या में कम ही होते हैं, बहुतायत तो अवरों की ही होती है। पर यदि अपने संख्याबल और उपलब्धता के कारण ही, अवर व्यक्ति श्रेष्ठगुण सम्पन्ना उच्च वर्ण की कन्याओंऔर स्त्रियों को काम मोहित करके दूषित करने लगेंगे, तो समाज मेंअव्यवस्था फैल जाएगी। कहा गया है कि स्त्रियां जिस प्रकार के पुरुष से संयुक्त होती है, उस पुरुष के गुणों को धारण कर लेती है—*यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री सं युज्जेत यथाविधि, तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा* (मनु ९.२२)। इसी अव्यवस्था को फैलने से रोकने के लिए ही, अन्यों को चेतावनी के रूप में कठोर

दण्ड का प्रावधान किया गया है। मृदु नियमों और कोमल दण्ड व्यवस्था का दुष्परिणाम तो आज सभी क्षेत्रों में प्रत्यक्ष ही है। अमरीकी लेखक फ्रैंक येरबी का कहना है कि पुरुष दर्शन मात्र से ही आकर्षित उत्तेजित हो उठता है और स्त्रियों के पीछे भागने लगता है। उन्हें पाने के लिए लालायित हो उठता है। दूसरी और, स्त्रियों की प्रवृत्ति संस्पर्शात्मक, संभाषणात्मक ही आधिक होती है। वे दीर्घ कालीन उपचारों से रिझाई जाने के बाद ही पुरुष के प्रति आकर्षित होकर ,उसके प्रति सर्मपण करने के लिए प्रस्तुत हो पाती हैं (*गिलियन:* १६०)। दूसरे शब्दों में कहें तो कहा जा सकता है कि पुरुष का पतन तो तत्काल ही हो जाता है, पर स्त्रियां स्वयं नहीं गिरतीं हैं, उन्हे बहला—फुसला कर गिराया जाता है। नेताओं, विधायकों शासकों की सुविधा के लिए आज जो कुछ भी कहा माना या किया जाए, वैदिक मान्यता तो यही थी कि स्त्री गिरती नहीं है, पुरुष द्वारा ही उसे प्रलोभन देकर गिराया जाता है। तभी तो केकयनरेश अश्व पति ने गर्व पूर्वक कहा था कि उसके राज्य में कोई भी व्यभिचारी नहीं है,तब व्यभिचारिणी स्त्री ही कहाँ से होगी—*न स्वैरी, स्वैरिणी कुतो* (छां. उ.,५.११.५)। परन्तु इसी के साथ यह भी स्मरण रखना होगा कि 'पुरुष जब पतित होता है, तो अकेला ही होता है। पर स्त्री जब गिरती है, तो अपनी समूची सृष्टि को लेकर ही गिरती है, (मुंशी, भगवान परशुराम. ३६०)।

कहा गया है कि उच्च वर्ण के परपुरुष से भोग करने वाली कन्या को कुछ भी दण्ड न दे, किन्तु जो हीन वर्ण के पुरुष का सेवन करे, उसे बांध कर घर में अवरुद्ध रखे (८.३६५)। हीन वर्ण वाला यदि अपने से उच्च वर्ण की कन्या को चाहे उसकी इच्छा और सहमति से अथवा बलात्कार पूर्वक भोगे, तो वह बध दण्ड के योग्य है। समान वर्ण की कन्या का भोग करने पर, कन्या के पिता द्वारा चाहा हुआ करे (८.३६६)। इसी के साथ ही यह भी कहा गया है कि जो सवर्ण भी न चाहती हुई कन्या का बलात्कार पूर्वक भोग करे,उसे भी तत्काल ही वध दण्ड दिया जाना चाहिए, (वही ८.३६४)। अन्यत्र भी *'दार हर'*—पर स्त्री का हरण करने वाले— को आततायी कह कर, उसे देखते ही मार देने का आदेश दिया गया है (वही ८.३५०)। पर स्त्री से व्यभिचार अथवा बलात्कार करने वाले का अंगभंग करके अथवा उसे लञ्छित करके—दाग करके देश से निकाल देना चाहिए (वही ८.३५२)। स्त्रियों के साथ साथ छेड़ छाड़, परिहास, उसके वस्त्राभूषण आदि का छूना, तथा अनुचित स्थान पर अंग स्पर्श करने पर, कन्या अथवा स्त्री, कुछ कहे अथवा मौन रह जाए— *स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तथा*— इन सभी दुष्कृत्यों को *'स्त्री सं ग्रहण'* अर्थात् बलात्कार के अन्तर्गत ही रखा गया है और इन अपराधों के लिए अंग भंग अथ्वा लाञ्छित करके चेतावनी स्वरूप डरावने दण्ड देने के लिए कहा गया है— *उद्वेजन करैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा (चिह्नयित्वा) प्रवासयेत्* (मनु ८.३५२)। ऐसा चेतावनी परक कठोर दण्ड देने— दिलाने के पीछे मनु की सुनिश्चित मान्यता थी कि सभी वर्णो की स्त्रियों की रक्षा करना राजा का प्रधान कर्तव्य— धर्म — था— *चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा* (८.३५६)।

पर मनु को कोस कर ही अपनी राजनितिक रोटी सेंकने वालों की सत्ता

में भागीदारी होते हुए भी आज कया हो रहा है? आज नारी का सम्मान घटाहै। नित्य ही उसे निर्वस्त्र करके, बलात्कार कर—करा के, लाञ्छित किया जा रहा है, और न्यायाधिकरण में अभियोग प्रस्तुत करने पर, उन्हें ही प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए भी कहा जा रहा है। मनु ने कहा है कि दु:साहस के कार्यो में, चोरी मेंऔर *'स्त्री संग्रहण'* में—*न परीक्षेत साक्षिण:* (८.७२)— साक्ष्य नहीं मांगना चाहिए। समाचार पत्र नित्य ही ऐसी कितनी ही दुर्घटनाओं से भरे रहते है, संसद में भी यदा कदा चर्चा होती है, परन्तु न्यायाधिकरण उन्हें ही दोषी घेषित कर रहें हैं। कभी कभीं, कहीं कहीं तो उनके पूर्व चरित्र का विश्लेषण करके,उनकेचरित्र हीन होने के कारण ही, उनसे बलात्कार करके उन्हें प्रताड़ित करने वालों के कुकृत्यों का औचित्य भी प्रतिपादित किया जा रहा है। परन्तु पद पद पर कोसे जाने वाले 'मनु' का ऐसा विचार नहीं था। यद्यपि उनके विधान में वेश्याओं के सम्बन्ध में कुछ भी नही कहा गया है, और बहुत सम्भव है कि उनके समय में वे रही ही नहों (तुलना कीजिए, द्वा. उ. पूर्व उद्धृत), मनु स्मृति में अपनी पत्नियों के पास ग्राहक लाकर, उनसे धन प्राप्त करने वाले यायावर नटों का उल्लेख हुआ है— *सृञ्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढांश्चारयन्ति च* (८.३६२)। मनु ने तो वैसी स्त्रियों से भी बलात् एकान्त चाहने वालों के लिए दण्ड का विधान करके, उन्हें सुरक्षा प्रदान की थी— *किंचिदेव तु दाप्य: स्यात्संभाषां ताभिराचरन्* (८.३६३)। आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में तो वेश्या अथवा उसकी कुमारी कन्या से भी, उसकी अनिच्छा से बलात्कार पूर्वक सम्बन्ध स्थापित करने वाले के लिए सर्वाधिक 'उत्तम साहस' दण्ड की व्यवस्था दी थी— *अकामायाःकुमार्या वा साहसे उत्तमों दण्ड:* (२.२७. १३)। उसकी इच्छा के विरुद्ध, उसे निरुद्ध रखने, घायल करने और उसका रूप नाश करने वाले को सहस्र दण्ड दिया जाने की आज्ञा की थी और देश काल की परिस्थितियों से यह दण्ड, फिरौती की मांग का दुगना भी किया जा सकता था— *गणिकामकामां रुन्धतो निष्पातयतो वा व्रणविदारणेन वा रुपमुघ्नत: सहस्रं दण्ड, । स्थान विशेषेण वा दण्डवृद्धि, आ निष्क्रयद्विगुणात्* (२२७.१४.१५)।

मनु के विधान के अन्तर्गत ब्राह्मण को एक अन्य छूट भी दी गई थी — किसी भी दशा में उसे वध दण्ड नहीं दिया जाता था। कहा गया है कि ब्राह्मण चाहे जैसा भी पाप—अपराध क्यों ही न करे , उसे कभी मृत्यु दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए— *न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्व पापेष्वपि स्थितम्* (८.३८०) क्योंकि पृथिवी पर ब्राह्मण वध से बढ़कर कोई दूसरा पाप नहीं है— *न ब्राह्मण वधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि,* और राजा को उसका वध करने का विचार मन न लाना चाहिए— *तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत्* (८.३८१)। मनु केआलोचक इसे ब्राह्मण के प्रति पक्षपात के रूप में प्रचारित करते नहीं थकते है। पर थोड़ा विचार करने पर उनकी इस भ्रमपूर्ण मान्यता की निस्सारता स्पष्ट हो जाती है। ब्राह्मण को दण्ड मिलता था और खूब मिलता था। यथा, रक्षिता ब्राह्मणी को अनच्छिा से, बलात्कारपूर्वक दूषित करने पर सहस्र पण का उत्तम साहस दण्ड का विधान किया

गया है। (८.३७८)। अन्यत्र, अनजाने में भी अपराध हो जाने पर ब्राह्मण को मध्यम साहस दण्ड देने अथवा देश —निकाला देने की बात कही गई है—*विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः* (६.२४१)। उसके आततायी हो जाने पर उसे मारा भी जा सकता था— *गुरूं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्, आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्* (८.३५०)।

वस्तुतः सारी धन सम्पत्ति के साथ भी स्वदेश से बहिष्कृत कर दिया जाना उसके लिए बध दण्ड से भी अधिक कष्ट कर दण्ड था (ऊपर ६.२४१ तथा ८.३८० भी देखें) विशेषतया जब कि वह मुण्डित अथवा लाञ्छित कर दिया गया हो। कहा भी गया है कि दूसरे वर्णों के लिए प्राणदण्ड ही मृत्यु दण्ड है, परन्तु ब्राह्मण के लिए मुण्डित कराया जाना ही वध दण्ड है—*मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते* (८.३७६)। इस प्रकार लाञ्छित हो जाने पर उसको धर्म कार्यो से बहिष्कृत कर दिया जाता था। न कोई यज्ञ कराता था, न पढ़ता—पढ़ाता था, न खिलाता— पिलाता था और न विवाह सम्बन्ध ही हो पाता था। पतित स्त्रियों के साथ भी ऐसा ही व्यवहार होता था, पर उन्हें घर के पास ही रहने दिया जाता था (११.१८८)। इस को देखते हुए माना जा सकता है ऐसे बहिष्कृत ब्राह्मणों को कुटुम्बी ही नहीं, पत्नी और पुत्र भी छोड़ देते थे और कोई भी उन पर दया नहीं दिखाता था और वे निराश्रित—निराधार भटकने के लिए बाध्य होकर मृतक से भी हीन दशा को पहुंच जाते थे—यही मनु की आज्ञा है— *तन्मनोरनुशासनम्* (६.२३८—३३६)। आचार्य कौटिल्य ने भी कैसा भी अपराध करने वाले ब्राह्मण के वध का निषेध करते हुए, उसके ललाट पर अपराध — सूचक अकं लाञ्छित करके स्वदेश से बहिष्कृत कर देने अथवा खानों में काम करने के लिए भेज देने का प्रावधान किया है—*सर्वापराधेष्वपीडनीयो ब्राह्मणः तस्याभिशस्ताङ्के ललाटे स्याद व्यवहारपतनाय.....कुर्यान्निर्विषयं राजा वायसेदाकरेषु* (६.८.२७—२६)।

कहा गया है और सत्य ही कहा गया है कि प्रतिष्ठित और श्रेष्ठ पुरुषों के लिए अपकीर्ति, मरण से भी अनेक गुणा अधिक पीड़ादायक और कष्टकर होती है—*संभावितस्यचाकीर्तिमरणादतिरिच्यते* (भ. गी., २.३४)। जहां श्रेष्ठ और सलज्ज पुरुष के डूब मरने के लिए अंजलि भर जल भी यथेष्ट कहा गया है ,वहीं यह भी बताया गया है कि निर्लज्ज व्यक्ति के लिए यदि पायु में वृक्ष भी प्ररोहित हो सके तो वह उसे शीतल छाया प्रदान करने वाला ही लगेगा। अब यदि श्रेष्ठ पुरुषों —विद्वान ब्राह्मणों के सम्बन्ध में एक बार के मृत्युदण्ड की अपेक्षा प्रतिक्षण मृत्यु से भी अधिक यातना दायक दण्ड यदि किसी को उनके प्रति पक्षपात पूर्वक विहित विशेषाधिकार ही प्रतीत होता है तो इसे उन लोगों की सामाजिक न्याय की पक्षधरता की पहचान न मान कर, ऊपर बताए जा चुके निर्लज्जों की कुसंगति का प्रभाव और निर्लज्जता का प्रमाण ही माना जाना चाहिए। आधुनिक युग के महानतम राक्षस हिटलर ने भी, साधारण यहूदियों को अपराधी मानते हुए ही मार कर भी, उनके विद्वानों और वैज्ञानिकों को जीवित रखा था और बलात् ही सही, उनकी विद्या और ज्ञान का उपयोग ही नहीं किया था, वरन् उसे अगली

पीढ़ी के लिए सुरक्षित भी रखा था।

ऊपर कहे गए ब्राह्मणों के तथा कथित विशेषाधिकारों की आलोचना की कटुता में अन्धे हुए इन नेता ओर तथाकथित विचारको को मनु में एक भी अच्छाई नहीं दिखाई देती है। सारी मनु स्मृति में, चाहे वे मूल माने जाने वाले श्लोक हों अथवा तथाकथित प्रक्षिप्त अशं, कहीं भी ब्राह्मणों के लिए किन्हीं विशेष न्यायाधिकरणों के गठित किए जाने का उल्लेख नहीं हुआ है। मनु के समकालीन योरोप में तो विचारवान मनुष्य का उद्भव भी नहीं हुआ था, फिर भी, वहां जागृति आने के समय से ही निम्न वर्गो– व्यापारियों ओर श्रमिक वर्ग के लिए तो राज्य की ओर से न्यायाधिकरण गठित किए जाते थे। परन्तु राजन्य तथा पुरोहित जैसे उच्च और प्रतिष्ठित वर्गो के लिए, उन्हीं के वर्गो के प्रतिनिधियों का ही न्याधिकरण गठित किया जाता था। अब ऐसे न्यायाधिकरण में न्याय के स्थान पर न्याय का नाटक होने की ही सम्भावना अधिक है। ऐसे न्यायालयों की तुलना आज के बहुप्रचारित विभागीय जांच आयोगों से की जा सकती है। इसमें पीठासीन अधिकारी वर्ग अपराधी अधिकारी को इस आशा में प्रायःदोष मुक्त कर दिया करते हैं कि कभी उनके फंसने पर, उसी संवर्ग के अन्य अधिकारी उनके प्रति भी सदय हो सकेंगे। हमने तो आज तक किसी अपराधी अधिकारी को दण्डितहोते न देखा है और न सुना ही है। इसके विपरीत, अपराध सिद्ध हो जाने पर दण्ड से बचाने के लिए, ऐसे अपराधकारियों को प्रोन्नत किए जाते ही देखा सुना है। मनु के विधानके अन्तर्गत ऐसी कल्पना का भी तिरस्कार करते हुए, न केवल ब्राह्मण को, स्वयं किसी के विरुद्ध अभियोग प्रस्तुत करने से वर्जित ही कर दिया गया है, वरन् उस पर साधारण अपराधी की तरह ही अभियोग लगाने, जांच करने ओर दण्ड देने का भी विधान किया गया है। क्या इसे भी उनका ब्राह्मण के प्रति पक्षपात कहा जाएगा?

न्याय के सम्बंध में मनु के एक अन्य विधान की चर्चा भी सदा ही उपेक्षित रही है। सम्भवतः इसी भय से किं कहीं ऐसी चर्चा होने पर भ्रष्ट और बिके हुए न्यायाधीशों ओर न्यायमूर्तियों की मूर्ति खण्डित न हो जाए। मनु से बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यदि आमात्य अथवा न्यायाधिकरण का अध्यक्ष न्यायाधीश अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करते हुए, कोई अन्यथा निर्णय करे तो, उसकी जांच राजा को स्वयं करनी चाहिए और अन्यथा न्याय करने वाले न्यायाधीश को दण्ड मिलना चाहिए–*आमात्याः प्राड़्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा, तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत्* (९.२३४)। पाठकों को याद होगा कि कुछ दिन पूर्व अनुचित ढंग से अभियुक्तों को जमानत पर छोड़ दिए जाने के समाचार प्रकाशित हुए थे। अभी पिछले मास में ही लखनऊ खण्ड पीठ की न्यायमूर्ति श्रीमती शोभादीक्षित ने सीतापुर के न्यायाधीश पर श्रीमती गरिमा सिंह के अभियोग के सम्बन्ध में सर्वथा अनौचित्यपूर्ण और असंगत निर्णय करने का आरोप लगाते हुए,

उस निर्णय को निरस्त कर दिया था (दैनिक जागरण– २५ मई १९९६)। सीतापुर के न्यायाधीश महोदय पढ़े लिखे हैं, यथेष्ट अनुभवी हैं, अतः उनसे असावधानता वश ऐसी भूल, ऐसा अन्यथा कर्म हो जाना किसी को भी सन्तुष्ट नहीं कर पा रहा है। निश्चय ही, इसके लिए उन्हें प्रभूत मात्रा में उत्कोच मिला होगा। न्याय मूर्ति श्रीमती शोभा दीक्षित ने मनु के प्रावधान के पूर्वार्ध के अनुरूप अन्यथा निर्णय को तो निरस्त कर दिया है। पर क्या इन दोनों (और ऐसे अन्यान्य न्यायाधीशों) को उनके अपकृत्यों का दण्ड भी मिलेगा या मिल पाएगा? यदि नहीं मिला तो इसके दोषी भी मनु को स्थान–अस्थान और समय असमय कोसने वाले ही होंगे, अन्य कोई नहीं; परन्तु उनके इस कृत्य का दण्ड तो सारे समाज को ही भोगना पड़ रहा है।

न्याय व्यवस्था के सम्बन्ध में चल पड़ने वाली इस चर्चा को समाप्त करने के पूर्व एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न का उल्लेख करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। आज कर न्यायालयों की अवमानना कुछ अधिक ही सुनाई पड़ने लगी है। केन्द्रीय शासन की सेवा की दीर्घ अवधि के अन्तिम कुछ वर्षों में लेखक को भी अनेक बार इस ससस्या का सामना करना पड़ा हैं। एक बार किसी आरोप पत्र का लेखक ने अपनी सम्पूर्ण योग्यता ओर तार्किक क्षमता से प्रत्युत्तर प्रस्तुत किया था। विद्वान न्यायाधीश ने उसे हाथ में लेकर देखा और थोड़ी ही देर बाद चार वाक्यों में अपना निर्णय सुना दिया था। जब लेखक ने कहा था कि यह किसी न्यायाधीश का तर्क पूर्ण न्याय न होकर, मात्र किसी अहंमन्य अधिकारी का आदेश ही अधिक प्रतीत होता है, तो उसे भी न्यायालय की अवमानना का दोषी घोषित किए जाने का भय दिखाया गया था। इसी प्रकार, अभी कुछ दिनों पहले ही पढ़ा था कि उच्च न्यायालय के विद्वान न्याय मूर्तियों ने किसी अधिवक्ता द्वारा उसके तर्कों को सुने जाने के बारम्बार अनुरोध को भी न्यायालय की अवमानना घोषित कर दिया था। हम यह नहीं कहना चाहते कि कभी न्यायालय की अवमानना नहीं होती होगी। मगर यदि आप वादी या प्रतिवादी की पूरी बात भी सुनना अस्वीकार कर देंगे, तो क्या संतप्त हृदय आपकी पूजा करेगा? एक बात और! न्यायालय की अवमानना के अभियोगों में वादी और न्यायकर्ता भी सम्भवतः एक ही होता है। ऐसी स्थिति में क्या और कैसा न्याय मिलेगा? यदि इस प्रकार की छोटी–छोटी बातों को अवमानना का प्रश्न बना दिया जाएगा तो 'जबरा मारै, रोवै न देय' की लोकोक्ति ही अधिक चरितार्थ हो उठे गी।

न्याय पाकर एक ही पक्ष सन्तुष्ट हो सकता है, दोनों नहीं और स्वयं को संतप्त मानने वाले दूसरे पक्ष को आपत्ति होना स्वाभाविक है। यदि इस आपत्ति को सहृदयता पूर्वक नहीं सुना जाएगा, तो न्यायालयों के निरंकुश और स्वेच्छाचारी हो उठने का भय है। ऐसी स्थिति को ध्यान में रख कर ही मनु ने कहा है कि अपना हित चाहने वाले राजा को चाहिए कि वह अभियोग में दुःखी पक्ष, बालक, वृद्ध और रोगियों कहे हुए अपशब्द आदि आक्षेपों को क्षमा कर दे, इनके कहे का

बुरा न माने– *क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम्, बाल वृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः* (८.३१२) । दुखी व्यक्तियों के अपशब्दों और आक्षेपों को जो क्षमा कर देता है, वही सुखी रहता है । और ऐश्वर्य के घमण्ड में जो उन्हें नहीं सह सकता, वह अधोगति को प्राप्त होता हैं —*यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस्तेन स्वर्गे महीयते, यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति* (८.३१३) ।

ब्राह्मणों के सम्बन्ध में इस चर्चा को समाप्त करने के पूर्व चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व के अन्तिम वर्षो में भारत आए हुए यवन राजदूत मेगस्थनीज के कथन को उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा । उसके संदर्भ से एरियन ने लिखा है कि "भारतीय समाज सात् वर्गोमें विभाजित था । इसमें दार्शनिक चिन्तको—ब्राह्मणों को सर्वाधिक प्रतिष्ठा ओर सम्मान प्राप्त था । ये सभी प्रकार के शारीरिक श्रम अथवा उत्पादन के दायित्वों से मुक्त थे और इनके लिए किसी कर्तव्य कर्म की बाध्यता नहीं थी ।" अन्य नागरिको की तरह ये न कोई कर देते थे । और न ही किसी राजा के आधीन ही होते थे । "सिकन्दर द्वारा बुलवाए जाने पर किसी दण्डी स्वामी ने कहलवा दिया कि उसे सिकन्दर से कुछ भी नहीं चाहिए अतः वह कहीं नहीं जाएगा, परन्तु यदि सिकन्दर को उससे कुछ चाहिए, तो वह स्वयं आ सकता है" । 'इन्हें न धन की कामना थी और न ही मृत्यु का कोई भय' । उसी ने आगे लिखा है कि "कि फिर भी इनका जीवन सुख की सेज न होकर, अत्याधिक कठोर हुआ करता था" (मजूमदार १९६०;२२२–२२६; ४२८; ४४७) ।

---

७ . राज-क्षत्रिय-धर्म

आश्रम और वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में भगवान मनु के मन्तव्यों और विधान का विश्लेषण और विवेचना कर चुकने के बाद, क्षत्रिय वर्ण के लिए नियत कर्तव्य का सम्यक् निर्वहन करने वाले राजा और उसके कर्तव्यों के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है। राजा और प्रशासन तंत्र के समाज को विशृखंल होने से बचाने में महत्वपूर्ण योग दान को उन्मुक्त भाव से स्वीकार किया गया है। कहा गया है कि इस लोक में प्रशासन व्यवस्था के अभाव में चारों ओर गड़बड़ फैल जाने के भय से ही प्रभु ने सभी की रक्षा के लिए, राजा—शासन—संस्था की प्रतिष्ठापना की थी—*अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्, रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः* (मनु ७.३)। फ्रेंच विचारक रूसो के सिद्धान्त का पूर्वानुमान करते हुए, मनु ने कहा, है कि स्वभाव शुद्ध व्यक्ति मिलना कठिन है, सभी लोग दण्ड के ही वश में रहते हैं, दण्ड के ही भय से संसार को अपना भोग मिल पाता है। दण्ड का भय न हो तो किसी को भी उसका उचित भोजन आदि भोग मिलना कठिन हो जाए—*सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः दण्डस्य हि भयात् सर्व जगद्भोगाय कल्पते* (वही ७.२२)। यदि दण्ड व्यवस्था अस्त व्यस्त हो जाए, तो सभी वर्ण अपना नियत कर्तव्य कर्म—धर्म—छोड़ कर दूषित हो जाएं और सारी मर्यादाएं नष्ट हो जाएं— *दुष्येयुः सर्ववर्णश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः, सर्वलोक प्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात्* (वही ७.२४)। इसी के कारण सभी वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हैं—*स्वे स्वे धर्म निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः, वर्णानामाश्रमाणां च अभिरक्षिता* (वही ७.३५)। वस्तुतः यह दण्ड ही पुरुष रूप राजा में ही मूर्त होकर न्याय का प्रचारक है, वही शासक है और वही चारों आश्रमों और वर्णो का 'प्रतिभू' होता है— *चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः* (वही ७.१७)। दण्ड ही प्रजाओं पर शासन करता है, वही सबका रक्षक है; जब सब सोते हैं तो वही जागता रहता है, इसीलिए विद्वान उसी को धर्म कहते हैं—*दण्डं धर्म विदुर्बुधाः* (वही ७.१८)। जहां इस दण्ड का प्रणेता—प्रयोक्ता ठीक ठीक देखने वाला और पक्षपात रहित रहता है— *नेता चेत्साधु पश्यति* (७.२५), वहीं प्रजा व्याकुल नहीं होती है। यदि भली—भांति विचार पूर्वक दण्ड का प्रयोग किया जाता है तो सारी प्रजा प्रसन्न रहती है, परन्तु यदि अविचारपूर्ण ढंग से उसका प्रयोग किया जाता है तो चारों ओर विनाश होने लगता है—*असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः* (वही ७.१६)।

समाज को सुव्यवस्थित रखने में समर्थ ऐसे दण्ड की शक्ति को धारण करने और सभी को न्यायानुसार रखने के लिए प्रस्तुत क्षत्रिय (राजा) को सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण जितना ही यथाविधि सुशिक्षित, विद्वान और तप—त्याग के संस्कारों से सम्पन्न होना आवश्यक बताया गया है— *ब्राह्मेन प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि* (वही ७.२)। ऐसा राजा ही यथावसर और यथाप्रयोजन विविध रूपों को धारण कर सकता है—*कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थ विश्वरूपं पुनः पुनः* (वही ७.१०,१६)। जो राजा

पवित्रात्मा, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्रानुसार चलने वाला, सज्जन साथियों वाला और बुद्धिमान हो, वही दण्ड को न्याय पूर्वक चला सकेगा (७.३१)। यदि राजा उस दण्ड को भली भांति चलावेगा तो उसके त्रिवर्ग की वृद्धि होगी और यदि वह लम्पट, क्रोधी,और नीच बुद्धि हो जाएगा तो उसी दण्ड से स्वयं भी मारा जाएगा— *कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते* (७.२७)। जो राजा अपने कर्तव्य—धर्म—से च्युत हो जाता है, उस राजा को यही दण्ड बन्धु—बान्धवों सहित नष्ट कर डालता है—*धर्मा द्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्* (७.२८)। इसी लिए वेद—ज्ञान और संस्कार सम्पन्न व्यक्ति को ही सेनापति,दण्डनेता—न्यायाधीश और सर्वलोक का अधिपति पद दिया जाना चाहिए —*सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च, सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्र विदर्हति* (१२.१००)।

वेद ज्ञान और ब्राह्म संस्कार प्राप्त कर चुकने के बाद भी उसे सतत् त्रैविद्यों के सम्पर्क में रहते हुए वेदों के स्वाध्याय के अतिरिक्त दण्डनीति, तर्क और न्यायशास्त्र आदि आन्वीक्षिकी, दर्शन आदि आत्मविद्या और कृषि व्यवसाय व्यापारादि जीवन निर्वहन में सहायक वार्ता का अनुशीलन करते रहने का आदेश दिया गया है— *त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्, आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः* (वहीं ७.४३)। इसके अतिरिक्त, उसे निरन्तर योगाभ्यास करते हुए इन्द्रियों (के भोगों की लिप्सा) को जीतने का अभ्यास करना भी आवश्यक बताया गया है, क्योंकि जो स्वयं जितेन्द्रिय होगा, वही प्रजा को जितेन्द्रिय होने का उपदेश दे सकने का अधिकारी होगा और प्रजा के सम्मुख आदर्श प्रस्तुत करते हुए,उसे वश में रख सकेगा—*जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः* (वही ७.४४)। ऐसे राजा की इष्ट विषयों में विधि परक और अनिष्ट विषयों में निषेध परक आज्ञाओं का कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिए—*तस्माद्धर्म यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः, अनिष्टं चाप्यानिष्टेषु तं धर्म न विचालयेत्* (वही ७.१३)

सरल कार्य को भी अकेला व्यक्ति कठिनाई से ही कर पाता है, विशेषतया जब कि उसका कोई सहायक न हो; फिर राज—कार्य जैसे गुरुतर उत्तरदायित्व की तो बात ही क्या है— *अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्, विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम्* (७.५५)। अतः उसे न्याय परिषद, सचिव और आमात्य के पदों के लिए नियुक्तियां करनी होती हैं। परिषद की चर्चा तो ऊपर की जा चुकी है। सात या आठ की संख्या में नियुक्त किए जाने वाले सचिवों का स्वदेशोत्पन्न अर्थात राष्ट्रभिमानी, शास्त्र वेत्ता—विद्वान, साहसी,ध्येय निष्ठ, सत्कुलोत्पन्न और भली भांति जांचा—परखा हुआ होना आवश्यक कहा गया है— *मौलाञ्छास्त्रविदः शूरांल्लब्ध लक्षान्कुलोद्भवान्, परीक्षितान्* (७.५४)। इसी प्रकार अमात्य भी अर्थ आदि से पवित्र, बुद्धिमान, परिपक्वबुद्धि, स्थिरमति, लोकसंग्रह में प्रवीण और भली—भांति जांच—परखे हुए ही होने चाहिए—*शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान्, सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सु परीक्षितान्* (७.६०)। इन सब में सर्वाधिक विशिष्ट विद्वान से संधि, विग्रह आदि

षड् विषयों में परामर्श करके ही राजकार्य चलाना चाहिए—*सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता, मन्त्रयेत्परमं मंत्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम्* (७.५८)।

कहा गया है कि *'अर्थमूलो हि सर्वारम्भाः* (देखें— *कोशपूर्वाः सर्वारम्भाः*, कौटिल्य अ.शा; २.८.१)। अतः, शासन को चलाने के लिए धन की महती आवश्यकता होती है। इसके लिए मनु ने **'कर'** लगाने का विधान किया है। इन करों को लेने के कारण ही राजा को सामान्य रूप से *'षड्भाग हारिणम'* (८.३०८) कहा गया है। कहा गया है कि राजा को राष्ट्र में छोटे—छोटे व्यापार—व्यवसाय से निर्वाह करने वालों से, थोड़ा बहुत ही सही, कुछ न कुछ कर अवश्य ही लेना चाहिए—*यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम्, व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम्* (७.१३७)। मगर इस कर के सम्बन्ध में उसे इतना लालच भी नहीं करना चाहिए कि उसकी अपनी और अन्यों की भी जड़ कट जाए। अपनी जड़ कटवा करके तो वह अपने आपको ही नहीं, दूसरों को भी दुखी करेगा—*उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तां श्च पीडयेत्* (७.१३६)। जैसे जोंक, बछड़ा और भौंरा, पीड़ा पहुंचाए बिना ही, अपना अपना भोग ग्रहण कर लेते हैं, एसे ही राजा को भी राष्ट्र से थोड़ा थोड़ा ही करके वार्षिक कर लेना चाहिए—*तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः* (७.१२६)। इसी प्रकार कारुक—शिल्पियों आदि *'आत्मोपजीविनः'*—अपने श्रम से जीविका प्राप्त करने वालों से धन के स्थान पर 'कर' के रूप में मास में एक दिन काम करवा लेना चाहिए—*एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः* (७.१३८)।

क्रय विक्रय, मार्ग की दूरी और सामीप्य, वेतन आदि आनुषंगिक व्यय तथा रक्षा व्यय को देखकर ही व्यापारियों के लाभ पर कर लगाना चाहिए— *क्रयं विक्रयमध्वानं भक्तं च परिव्ययम्, योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान्* (७.१२७)। जिस रीति से राजा और व्यापारी, दोनों को ही लाभ मिल सके, उसी रीति से जांच—परख कर 'कर' लगाना चाहिए— *यथा फलेन युज्यते राजा कर्ता च कर्मणाम्* (७.१२८)। शस्त्र पाणि होकर वैश्यों की रक्षा करते हुए ही, उनसे उचित 'कर' लेना चाहिए—*शस्त्रेण वैश्यान्रक्षयित्वा धर्म्यमाहरेद्बलिम्* (१०.११६)

कृषि उपज पर छठा, आठवां या बारहवां भाग—*धान्यानामष्टमोभागः षष्ठो द्वादश एव वा* (७.१३०), गोंद, मधु, तेल, गन्ध औषधि, रस, पुष्प—मूल—फल, पत्र, शाक, तृण, बांस, बेंत, चर्म तथा मिट्टी और पत्थरों आदि वनोपज पर *'आददीताथ षड्भाग'*—छठा भाग और पशु तथा हिरण्य आदि धातुओं पर लाभ का पचासवां भाग — *पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशु हिरण्ययोः* (७.१३०) लेने का विधान किया गया है।

राष्ट्रीय आपदा के अवसरों पर 'करों' में वृद्धि कर देने की अनुमति दी गई है। उस स्थिति में भी शक्ति पूर्वक प्रजा की रक्षा करते हुए ही चौथा भाग लेने में कोई दोष नहीं कहा गया है— *चतुर्थमाददानोऽपि.... भागमापदि.... किल्बिषात्प्रतिमुच्यते* (१०.११८)। इसी प्रकार हिरण्यादि धातुओं पर बीसवां भाग

ले लेने की छूट दे दी गई है। परन्तु कारुक–शिल्पियों से अतिरिक्त धन उगाहने का निषेध कर दिया गया है (१०.१२०)।

इन प्रावधानों को देखते हुए एक महत्त्वपूर्ण तथ्य और आज की पद्धति से अन्तर स्पष्ट हो जाता है– कृषि की उपज पर लगाया जाने वाला 'कर'। आज के आधुनिक समझे और कहे जाने वाले समय में आर्थिक विशेषज्ञों के अनेक सुझावों के बाद भी, समृद्ध किन्तु संगठित कृषकों के दबाव में, सभी तो 'कर' देते हैं, देने को बाध्य किए जाते हैं, परन्तु कभी बिजली का भुगतान छोड़ दिया जाता है, कभी पानी का, कभी दस सहस्त्र तक का ऋण छोड़ दिया जाता है और ऊपर से बीज, खाद और कृषि यंत्रों और अन्यान्य उपकरणों पर अनुदान भी दिया जाता है। यह सब लूट–छूट सम्भवतः तथाकथित कृषक पुत्रों के ही सत्ता में आने से सम्भव हो सकी है।

मनु के अनुसार *'स्थानं कर्मानुरूपतः'* अर्थात् पद और कार्य तथा कार्य क्षमता के अनुरूप ही नीचे पद पर स्थित अधिकारी को एक और उत्कृष्ट को छह के अनुपात में वेतन दिए जाने की अनुशंसा की गई है–*पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम्* (मनु ७.१२६) और प्रत्येक को पद मर्यादा के अनुसार ही छमाही कपड़े और मासिक एक द्रोण धान्य दिए जाने का भी विधान किया गया है। इसके विपरीत आज के आधुनिक युग में ऊंच नीच का यह अनुपात १०: १ से अधिक ही है।

मनु की अवधारणा के अनुसार आदर्श राज्य व्यवस्था में राजा शासन–क्षत्रिय–का प्रधान ही नहीं, अपितु प्रायः एक मात्र कर्तव्य *'प्रजानां रक्षणं'* ही था और इसके लिए उसे ऐसी व्यवस्था करनी होती थी, जिसमें सभी अभय भाव से अपनी अपनी स्वाभाविक क्षमताओं का स्वतंत्र विकास करते हुए, अपने अपने वर्ण के लिए नियत कर्तव्यों का सम्यक् रूप से निर्वहन करके, सुख का अनुभव कर सकें–ब्राह्मण अध्ययन–अध्यापन, वैश्य कृषि, पशुपालन और वाणिज्य व्यवसाय और शूद्र ब्राह्मण की संगति सेवा करते हुए अपनी शिल्प का विकास करते हुए समाज को समृद्ध बनाते रहें। वैश्य और शूद्र के अपने स्वधर्म से च्युत हो जाने पर सारा समाज ही विक्षुब्ध हो जाता है– *तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्* । इसी लिए राज़ा को उन दोनों को प्रयत्न पूर्वक अपने अपने कार्यो में प्रवृत्त रखने की आज्ञा दी गई है– *प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्* (८.४१८)। इसका फलितार्थ यही है कि राज्य को अपनी गति विधियां रक्षा और शान्ति स्थापति रखने में ही सीमित रखनी चाहिए। इसके लिए बाह्य आक्रमणों से रक्षा के लिए सेना, आन्तरिक सुरक्षा के लिए न्याय व्यवस्था और उसकी सहायता के लिए सुरक्षा बल। आधुनिक अमरीकी विचारक श्रीमती एन रान्ड ने भी इन्हीं तीनों बातों को दुहराते हुए 'कर' एकत्र करने के लिए एक अतिरिक्त तंत्र को और जोड़ दिया है (*कैपिटलिज्म, द अननोन आइडियल*)। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता

है कि राज्य को शिक्षा, उत्पादन और व्यापार आदि अन्यान्य क्षेत्रों में पैर नहीं पसारने चाहिए। यदि राज्य ही इन विविध क्षेत्रों में प्रवृत्त होने लग जाएगा तो ,या तो रूस जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाएगी जहां किसी को अपनी क्षमता का सम्यक् विकास और उपयोग करने का कोई अवकाश ही नहीं था, और सभी कुछ राज्य कर्मचारियों के आधीन ही नियोजित होता था, अथवा, यदि आज कल की तरह ही मिश्रित अर्थ—व्यवस्था रहे, तो राज्य स्वतंत्र उद्यमियों और व्यापारियों पर अंकुश लगा सकने का नैतिक अधिकार खोकर भी, उन्हीं का शोषण करते हुए, अपने घाटे के उद्यमों को चलाते रहने के बहाने,शासक दल और शासन तंत्र की अस्वाभाविक भोग—लिप्सा की तृप्ति करता रहेगां। मनु ने तो *'सर्वा करेष्वधीकारो'*— सभी प्रकार की खानों पर भी राज्य के अधिकार प्रवर्तन को उपपातक ही माना है (११.६३)।

मनु की शिक्षा नीति के सम्बन्ध में ब्रह्मचर्याश्रम तथा ब्राह्मण वर्ण के प्रकरण में यथेष्ट कहा जा चुका है। फिर भी, प्रस्तुत प्रकरण की समग्रता की दृष्टि से, उसके मूलभूत तत्वों को दुहराना अनुचित न होगा। मनु ने सर्वोत्कृष्टता को सर्वोपरि महत्व दिया था। अतः उनके विधान के अनुसार राजा को गुरुकुल से विद्या प्राप्त करके लौटे हुए विद्वानों का पूजा—सत्कार करना आवश्यक बताया गया है। ये विद्वान ही उसके अक्षय कोश बताए गए है (७.८२)। राजा को इस अक्षय कोश को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रत्येक विद्वान को, उसकी विद्या और संस्कार के अनुरूप ही उचित निर्वाह की व्यवस्था कराने का आदेश दिया गया है और कहा गया है कि राजा की मूर्खता से—*क्षत्रियस्य हि बालिश्याद* (७.१३५) ही किसी राज्य में ब्राह्मण अभाव ग्रस्त होकर दुःखी होता है और जहां ऐसा होता है, वह राष्ट्र शीघ्र ही अभाव ग्रस्त होकर नष्ट हो जाता है (७.१३४)।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, राजा का प्रधान कर्तव्य *'प्रजानां रखणं'* ही था। इसीलिए उसे बाहय आक्रमणों के अवरोध और आन्तरिक असामाजिक तत्वों के निरोध के लिए सेना और अभियोग विवाद उत्पन्न होने पर न्याय करने के लिए न्याय परिषद की समुचित व्यवस्था करनी होती थी। यतः इस प्रस्तुत प्रबन्ध की रचना में हमारा मूल उद्देश्य मनु की सम्पूर्ण व्यवस्था पर न लिखकर, मात्र उन पर किए गए आक्षेपों अथवा सम्भावित आक्षेप स्थलों की समीक्षा करना ही रहा है, हम विस्तार में न जाकर, उनके विधान के केवल उन्हीं अंशों का स्पर्श करेंगे, जो आज के तथाकथित प्रगति शील माने और बारम्बार घोषित किए जाने वाले युग में भी किसी दृष्टि से प्रतिगामी नहीं कहे जा सकते हैं; प्रत्युत वे आज भी अग्रगामी ही प्रतीत होंते हैं।

कहा गया है कि राजा का धर्म प्रजा का पालन ही हैं। जिस राजा के राज्य में दस्यु रोती—बिलखती प्रजा का धन और प्राण लूटते रहते हैं और राजा और उसके कर्मचारी खड़े खड़े देखते रहते हैं, उस राजा को मरा हुआ ही समझना चाहिए, वह जीवित ही कहां है— *विक्रोशन्त्यो ह्यस्य राष्ट्राद्धियन्ते दस्युभिः प्रजाः*

संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति (मनु७.१४३)। रक्षा का समुचित प्रबन्ध किए बिना ही जो राजा अपना छठा भाग स्वरूप 'कर' लेता रहता है, वह सारे राज्य के सभी पापों के लिए उत्तरदायी होता है— *अरक्षितारं राजानं बलिषड्भाग हारिणम्, तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम्* (८.३०८)। बिना रक्षा किए ही अपने भाग का भोग करने वाले राजा को अधोगति प्राप्त होती है— *अरक्षि तारमत्तारं नृपं विद्यांदधोगतिम्* (८.३०९) और जो दुष्ट दलन करके प्रजा को अभय कर देता है, वही राजा सदा पूज्य होता है और उसका 'अभय दक्षिणा' वाला यज्ञ सदा बढ़ता रहता है— *सत्त्रं हिवर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम्* (८.३०८)। और इसके विपरीत चोर, तस्कर तथा अन्य अपराध कर्मियों का निग्रह न करने वाला स्वयं ही उस अपराध का अपराधी माना जाना चाहिए—*अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्विषम्* (८.३१६) परन्तु आज वास्तविकता इससे सर्वथा भिन्न है। दुष्टों से रक्षा करने के स्थान पर,मुख्यमन्त्री स्वयं ही 'उत्तराखण्ड' और 'गेस्ट—हाउस' करवा कर प्रजा को रोने—बिलखने को बाध्य कर रहे हैं, रोती—विलखती प्रजा पर अत्याचार करके उसे विस्थापित होने को बाध्य करने वालों को पकड़े जाने पर, विशिष्ट मान्य अतिथियों की तरह ही, खीर—पूड़ी, पुलाव—बिरयानी खिला खिला कर समादृत ही नहीं कर रहे हैं, सुरक्षा कर्मियों के देखते देखते ही उन्हें छोड़ा और छुड़वाया भी जा रहा है।

कहा गया है कि निर्णय सदा से चले आ रहे शाश्वत विधान के अनुसार ही किया जाना चाहिए, किसी के साथ पक्षपात नहीं होना चाहिए— *धर्म शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्य विनिर्णयम्* (८.८)। जहां न्यायाधिकारी सभासदों के देखते देखते ही अधर्म—अन्याय से धर्म न्याय और असत्य से सत्य की हत्या होती हो, वहां के सभासद और जिसके वे प्रतिनिधि हैं (८.९) वह राजा भी मृतक ही समझे जाने चाहिए— *विद्वास्तत्र सभासदः* (८.१२—१४) और जिस सभा में निन्दा के पात्र की निन्दा होती हो—*निन्दार्हो यत्र निन्द्यते,* वहां राजा अथवा अध्यक्ष, सभी पाप मुक्त हो जाते हैं— *मुच्यन्ते च सभासदः* (८.१९)। यह भी कहा गया है कि सभा में न्याय युक्त बात ही कहनी चाहिए — *वक्तव्यं वा समञ्जसम्,* न्याय के विरुद्ध कहने वाला ही नहीं, किन्तु सत्य और असत्य को जान कर भी चुप रहते हुए अन्याय और असत्य को विजयी होते देखने वाला भी कलंकित ही है— *अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्विषी* (मनु ८.१२)। मनु की इस व्यवस्था के परिप्रेक्ष्यमें न्यायमूर्ति रामास्वामी के महाभियोग के सम्बन्ध में संसद की कार्यवाही और उसमें शासक दल और अन्यान्य जन प्रतिनिधियों के आचारण का स्मरण कीजिए और सिर धुनिए।

न्याय—निर्णय करते समय, जाति ,देश,श्रेणी अर्थात् व्यावसायिक संघों और कुल धर्म का सम्यक् विचार करके ही निर्णय करना चाहिए अर्थात निर्णय करते समय परम्परागत मर्यादाओं का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए— *जाति जानपदान्धर्मान्श्रेणी धर्माश्च धर्मवित्, समीक्ष्य कुल धर्मांश्च स्वधर्म प्रतिपादयेत्* (८.४१)। अपराध के

स्वरूप और उसके देश–काल की परिस्थितियों के अनुसार ही व्यवहार किए जाने का विधान हुआ है– *देशरूपं च कालं च व्यवहार विधौ स्मृतः* (८.४५)। आपसी समझौतों में विवाद उत्पन्न होने पर अनुबन्ध, उसके किए जाने की परिस्थिति तथा अपराधी की सामर्थ्य और उद्देश्य के अनुरूप ही दण्ड विधान किया जाना चाहिए–*अनुबन्धं परिज्ञाय देश कालौ च तत्त्वतः, सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत्* (मनु ८.१२६)। आगे कहा गया है कि राजा और राजपुरुषों को स्वयं ही किन्हीं व्यक्तियों के विरुद्ध किसी अभियोग–विवाद को नहीं प्रारम्भ करना चाहिए– *नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पुरुषः* (८.४३)।

कहा गया है कि पिता, माता, आचार्य, मित्र, पत्नी, पुत्र और पुरोहित, जो कोई भी अपराधी हो, *'यःस्वधर्मे न तिष्ठति'*, वही राजा के दण्ड का पात्र है–**नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति** (८.३३५); अपितु अपराधी की पद गरिमा के साथ ही उसका दण्ड भी बढ़ता जाना चाहिए। जिस अपराध के लिए सामान्य जन को एक कार्षापण का दण्ड दिया जाता है, उसी अपराध के लिए राजा को सहस्र कार्षापण का दण्ड मिलना ही चाहिए–*इति धारणा*–यही व्यवस्था है (८.३३६)। उपरोक्त कर्तव्यों की उपेक्षा करके अन्याय पूर्वक दण्ड देने से राजा का यश और कर्ति नष्ट हो जाती है और मर कर भी सुख–शान्ति नहीं मिलती है (८.१२७)। जो राजा दण्ड देने के अयोग्य व्यक्ति को दण्ड देता है और अपराधियों को मुक्त कर देता है, उसकी सर्वत्र निन्दा होती है और उसे नारकीय जीवन भोगना पड़ता है (८.१२८)।

परस्त्रियों पर बलपूर्वक अत्याचार व्यभिचार करने वाले पुरुषों को *'उद्वेजन कारी'*–आतंकित करने वाला दण्ड दिए जाने का विधान किया गया है। उन्हें लाञ्छित करना अथवा अंग–भंग करके–*छिन्नयित्वा । चिह्नयित्वा प्रवासयेत्* (८.३५२) देश से निकाल देना चाहिए। चारों वर्णों की स्त्रियां सदा ही–*रक्ष्यतमाःसदा*– सर्वाधिक सुरक्षा की अधिकारणी कही गई है (८.३५६)।

उचित समय बीत जाने पर भी अभिभावक से विवाह में न दी जा सकी कन्या को अपना *'सदृशं पतिम्'* के स्वयं वरण कर लेने का अधिकार दिया गया है और इसे अपराध नहीं माना गया है (९.९०–९१)। परन्तु ऐसी दशा में उसे पिता से कोई आभूषण आदि लेने का अधिकार नहीं रह जाता है और न वह माता अथवा भाई का कोई आभूषण ही ले जा सकती है। ऐसा करने पर उसे चोर समझा जाने और वैसा ही दण्ड पाने की व्यवस्था दी गई है–*स्तेना स्याद्यदि तं हरेत्* (९.९२)।

पुनः, दोष रहित कन्या दिखा कर, सदोषा कन्या का विवाह कर देना (८.२०४–०५) अथवा अकन्या को कन्या बता कर विवाह करा देना (८.२२५–२२७) भी दण्डनीय अपराध कहा गया है।

इसी प्रकार, द्विजातियों के **गृहस्थाश्रम सम्बन्धी** विवादों में भी, अपना हित चाहने वाले राजा–प्रशासन को, अनाहूत ही, बिना अभियोग प्रस्तुत किए गए ही,

निर्णय करनें का निषेध किया गया है—*आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः, न विब्रूयान्नृपो धर्म चिकीर्षन्हितमात्मनः* (८.३६०)। अभियोग प्रस्तुत कर दिये जाने पर, पहले तो आदर के साथ दोनों पक्षों को शान्त करते हुए, उनका कर्तव्य समझा दे—*सान्त्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्म प्रतिपादयेत्* (वही ३६१)। यदि इन *'देशदृष्टैः.. .. हेतुभिः'* अर्थात स्थानीय आचार और परम्परा के अनुरूप बात न बन सके, तभी *'शास्त्र दृष्टैः हेतुभिः'* अर्थात शास्त्रीय विधान के अनुरूप निर्णय कर देना चाहिए। यहां यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि मनु की इस व्यवस्था से शाहबानों जैसी सभी समस्याओं का समाधान किया जा सकता है और *'समान नागरिक संहिता'* जैसे किसी विवादस्पद प्रश्न को उठाने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी। केवल दृढ़ इच्छा शक्ति और उचित के प्रति आग्रह की आवश्यकता है।

अनाथ हुए बालक-बालिकाओं को उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली सम्पत्ति—*रिक्थ*—को उनके पढ़ कर लौटने अथवा ब्यस्क होने तक सुरक्षित रखने का भी दायित्व राजा—शासक और शासन का ही था (८.२७)। इस प्रकार राजा—राज्य को कुमारों की रक्षा और कन्याओं के विवाह कराने की व्यवस्था करने का भी आदेश दिया गया है— *कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्* (७.१५२)। राजा—शासन को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उत्तराधिकार में किसी विकर्मस्थ और उन्मार्गगामी भाई को धन न मिलने पाए— *सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम्* (६.२१४)

एक वस्तु को वैसे ही रूप रंग की दूसरी वस्तु में **मिला कर बेचना** उचित नहीं है। इसी प्रकार पुरानी, निस्सार हो चुकी, तौल में कम, दूर से छिपा कर लाई हुई वस्तु को बेचना भी उचित नहीं है (८.२०३)। शुद्ध पदार्थो में मिलावट करने वाले या नष्ट करने वाले तथा मणियों को बुरी तरह से बींध कर व्यर्थ या नष्ट करने वाले को 'प्रथम साहस' दण्ड दिया जाना चाहिए (६.२८६), परन्तु थोथा बीज बेचने वाले या अच्छे बीज में थोथा मिला कर बेचने वालों या नष्ट करने वालों को अंग भंग अथवा वध दण्ड ही देना चाहिए— *विकृतं प्राप्नुयाद्वधम्* (६. २६१)— ये तो राष्ट्र की भविष्य की सुरक्षा से ही खिलवाड़ करते हैं।

ऋण पर लिए जाने वाले **ब्याज के** सम्बन्ध में बताते हुए कहा गया है कि एक बार लिए गए ऋण के धन पर, कितना भी समय क्यों न हो जाए, ब्याज की राशि दो गुने से अधिक नहीं हो सकती है और अन्न,फलों के वृक्ष, ऊन और सवारी पर पांच गुना से अधिक लिए जाने का निषेध किया गया है। नियमित दर से अधिक की ठहराई हुई वृद्धि भी ठीक नहीं है। पांच प्रतिशत से अधिक की वृद्धि को *'कुसीद पथ'* अर्थात् निन्दित वृद्धि कहा जाता है (८.१५१—५२)।

निर्जीव पदार्थोपर 'देवन'—दांव लगाना **'द्यूत'** और प्राणियोंपर दांव लगाने

को '*समाह्वय*' कहा जाता है (६.२२३)। राजा को आदेश दिया गया है कि वह इन दोनों प्रकार की क्रीडाओं को राष्ट्र में न चलने दे। ये दोनों ही दोष राज्य को नष्ट कर डालते हैं—*राजान्तकरणावेते द्वौ दोषौ* (६.२२१)। ये दोनों ही प्रत्यक्ष चोरी ही के काम हैं— *प्रकाशमेतत्तास्कर्यं*। राजा को इन दोनों दोषों के समूल उन्मूलन के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए— *नित्यं प्रतिघाते.... यत्नवान् भवेत* (६.२२२)। इसी प्रकार जुआरियों के साथ ही पनपने वाले धूर्त, क्रूरकर्मा, पाखण्डियों और विरुद्धकर्मा व्यक्तियों को भी नगर और राज्य से शीघ्र ही निकाल देना चाहिए— *क्षिप्रं निर्वासयेत्* (६.२२५)। ये सभी राज्य में रहने वाले *'प्रच्छन्नतस्कराः'* ही हैं, जो अपने दुष्ट कर्मों से सज्जनों को नित्य दुखी किया करते हैं—*विकर्म क्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजा* (६.२२६)। मनु के इन आदेशों के परिप्रेक्ष्य में स्वयं लाटरी चलवाने वाले और अब मध्य प्रदेश तथा कश्मीर में विदेशी ढंग के जुआघरों को स्थापित करने का विचार करने वाले राजा—शासक और प्रशासन को क्या कहा जा सकता है?

जुए से सुरा का अभिन्न सम्बन्ध है। इसके सम्बन्ध में मनु ने कहा है कि यह अन्न का मल है और मल निश्चित ही पाप युक्त होता है अतः द्विजों को इसका सेवन नहीं करना चाहिए (११:६३), और ब्राह्मणों को तो कदापि नहीं— *न पातव्याः द्विजोत्तमैः* (११.६४)। इसे पीकर व्यक्ति का विवेक नष्ट हो जाता है, वह अकार्य अथवा विरुद्ध कर्म करने लग जाता है— *अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा.... मद मोहितः* (११.६६) और उसका ब्राह्मण्य अपगत हो जाता है और वह शीघ्र ही शूद्र हो जाता है— *तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति* (११.६७)।

अन्यत्र, **उत्कोच स्वीकार** करने वाले, डरा—धमका कर धन लेने वाले, व जुआरी, हस्तरेखा अथवा नक्षत्रों के आधार पर भाग्य और भविष्य बताने वाले— *उत्कोचकाश्चौपाधिकाः.... एक्षणिकैः सह* (६.२५८) पर कड़ी दृष्टि रखने के लिए कह कर, कहा गया है कि ज़ो राज्य कर्मचारी प्रस्तुत किए गए अभियोग को पचा लेवें— *प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन्* (८.४३) अर्थात एफ.आई.आर. न लिखें, जो कार्यार्थियों के कार्य को बिगाड़ दें (६.२३१) अर्थात जो ठीक से जांच न करके अन्यथा आख्या प्रस्तुत करें, ऐसे 'उत्कोच के धन की गर्मी से गर्म हुओं' का, सर्वस्व हरण करके निर्धन बना देना चाहिए—*धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निः स्वान्कारयेन्नृपः* (६.२३१)। **कूट आज्ञाओं** को सत्य कह कर प्रकाशित—प्रचारित करने—करवाने वालों को—सेन्ट किट्स केस (?), राज्यकर्मचारियों को फोड़ने वालों को, स्त्रियों, बालकों और विद्वान ब्राह्मणों का घात करने—करवाने वालों को और शत्रु से मिले हुए राष्ट्रद्रोही व्यक्तियों का तो वध ही करवा देना चाहिए— *कूटशासनक तृंश्च प्रकृतीनां च दूषकान्,..... हन्याददि्वट् सेविनस्तथा* (६.२३२)। इसी प्रकार, इन चोरों—डकैतों को अन्नादि भोजन, उपकरण और आश्रय देने वालों को भी अविलम्ब मरवा देना चाहिए—*तानपि घातयेत्* (६.२७१)।

मन्त्री या न्यायाधीश—प्राड्विवाक—द्वारा अनुचित निर्णय करने पर, राजा को उसका पुनर्निरीक्षण करना चाहिए और अन्यथा निर्णय के दोषी अधिकारी पर सहस्रपण का दण्ड दिया जाना चाहिए— *अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा, तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत्* (६.२३४)।

आपात्काल के अतिरिक्त, जो कोई **राजपथ पर मल-मूत्र विसर्जन** करके गन्दगी फैलाने का दोषी हो, उसे दो सौ कार्षापण कर दण्ड देकर, उसी से सफाई भी करवा लेनी चाहिए (६.२८२)। यदि ऐसा करने का दोषी बालक, गर्भिणी अथवा कोई वृद्धा हो, तो उसे अर्थदण्ड न कर, केवल सफाई करवा लेने से ही न्याय हो जाएगा, यही मर्यादा है, *इति स्थितिः* (६.२८३)।

और भी, जो चिकित्सक **ठीक से चिकित्सा न** करे, उसे भी दण्ड देने की व्यवस्था करके मनु ने आधुनिकता की पोल खोल दी है। उनका कहना है कि पशु की दुष्ट चिकित्सा करने वाले को 'प्रथम साहस' और मनुष्य की वैसी ही 'दुष्ट' चिकित्सा करने वाले को 'मध्यम साहस' दण्ड देना चाहिए— *चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः, अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यम* (६.२८४)। सर्वोच्च न्यायाधिकरण ने इसी वर्ष उसकी व्यवस्था देकर मनु के विधान के अग्रगामित्व को प्रमाणित कर दिया है।

मनु ने कहा है कि अपना हित चाहने वाले राजा को अभियोग निर्णय पर वादी—प्रतिवादी, बालको, वृद्धों और रोगियों द्वारा कहे गए **आक्षेप पूर्ण अपशब्दों के प्रयोग को क्षमा** ही कर देना चाहिए। इनके कहे का बुरा मानते हुए, न्यायालय की अवमानना नहीं समझना चाहिए (६.३१२)

मनु यह भी कहा है, मनु को पद पद पर गाली देने वाले ध्यान दें, कि जो अपना विहित कर्म—अध्ययन—अध्यापन छोड़ चुके हों, जो दूसरों के आज्ञावर्ती होकर, उन्हीं के टुकड़ों पर जीवन यापन करते हों और फिर भी अपने को ब्राह्मण—द्विज कहलवा कर, प्रतिष्ठा और सम्मान पाने की साधिकार चेष्टा कर रहे हों, उनसे राजा—शासन को शूद्रवत् ही व्यवहार करना चाहिए— *येप्यतीताः स्वधर्मेभ्यः परपिण्डोपजीविनः, द्विजत्वमभिकांक्षन्ति तां शूद्रानिवाचरेत्* (८.१०२)।

मनु के विस्तृत विधान में से उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किए गए इन थोड़े से विधि—निषेधों को भी संर्वात्मना स्वीकार कर लेने पर मनुष्य राज्य 'देवराज्य' जितना ही सुखी और सम्पन्न हो सकता है, उसमें सन्देह का किंचित मात्र भी अवकाश नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद (११. ५.३) में आई केकय राज अश्वपति की एक साधारण उक्ति, जिसे आज के पतन—शील किन्तु आधुनिक होने के कारण ही प्रगतिशील माने जाने वाले युग में दर्पोक्ति ही माना जा रहा है, को दुहराते हुए एक श्लोक, जिसे मनु

के राजधर्म की व्यवस्था की *'फल श्रुति'* ही माना जा सकता है, में कहा गया है कि जिस राजा के राज्य में न कोई चोर है, न डाकू है, न कोई गाली देने वाला है और न कोई मारपीट करने वाला है और कोई व्यभिचारी भी नहीं है, वही राजा *'शक्र लोकभाक्'* होता है (३८६)—

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्;
न साहसिक दण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ।।

---

८. उपसंहार

अब तक हमने मनु और मनुवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि और उसकी विविध सामाजिक, शैक्षणिक, आर्थिक और राजनीतिक किंवा प्रशासनिक अवधारणाओं को चरितार्थ कर सकने में समर्थ व्यवस्थाओं का अति संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण करते हुए, प्रायः उन सभी महत्वपूर्ण अंगों का विवेचन किया है, जिनके लिए उन्हें सामाजिक न्याय के सर्वमान्य और अग्रणी पक्षधरों द्वारा दोषी ठहराया जाता रहा है। सर्वज्ञ परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई भी नितान्त निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता है— अनेक बार तो उसकी भी व्यवस्थाओं में दोष ढूंढने का प्रयत्न किया जाता है। दूसरी ओर, मनुष्य की कोई भी कृति, कितनी ही उत्कृष्ट क्यों न हो, सर्वथा निर्भ्रान्त और निर्दोष नहीं हो सकती है। इस सत्य को सर्वात्मना स्वीकार करते हुए भी, ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसमें हमें तो ऐसा कुछ भी नहीं दिखाई देता है, जिसके लिए मनु और उनकी व्यवस्थाओं अर्थात् तथाकथित मनुवाद को दोषी माना जा सके।

मनु को दोषी न मानते हुए भी, हम सामाजिक अन्याय के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करते हैं, उससे हमें भी पीड़ा होती है, हम भी व्यथित होते हैं। परन्तु यह पीड़ा, यह व्यथा तब और भी बढ़ जाती है जब हम, शारीरिक रोग को किसी अदृश्य भूत का प्रकोप मान कर, उसे भगाने के लिए ओझा द्वारा मचाए जाने वाले शोर की तरह ही, सामाजिक न्याय के नाम पर मर मिटने के लिए प्रस्तुत सभी अग्रणी व्यक्तियों को, मनु को गाली देते हुए, जोर जोर सस्ते नारे उछाल कर ही उस अन्याय का निराकरण करने का प्रयत्न करते देखते हैं। सच तो यही है कि जब तक किसी समस्या के कारणों को ठीक ठीक नहीं समझा जाएगा, जब तक रोग का सत्य और निर्भ्रान्त निदान नहीं हो सकेगा, तब तक समस्या का निराकरण करने के सभी प्रयास विफल ही होंगे, चिकित्सा दोष पूर्ण ही होगी, और भले ही कुछ समय के लिए नेता और वैद्य अपनी चुपड़ी की व्यवस्था करने में सफल हो जाएं, पर अन्ततः न उनका ही कोई भला हो सकेगा, और न रोगी—समाज ही स्वास्थ्य लाभ कर सकेगा। सम्भावना तो अधिक यही है कि इस दोष पूर्ण चिकित्सा के चलते, शीघ्र ही रोगी की मृत्यु हो जाएगी और रोग—दूषित समाज विच्छिन्न हो जाएगा। अतः, अगले कुछ पृष्ठों में, समाधान और चिकित्सा का कार्य कुशल मनीषी चिन्तकों के लिए छोड़ते हुए, समस्या के सत्य कारणों का, रोग के निर्भ्रान्त निदान का यत्किंचित प्रयास किया जा रहा है।

सर्वोत्कृष्ट को दिया गया सम्मान अर्थात् आदर्श ब्राह्मण की प्रशंसा ही आज मनुवाद के नाम से अभिहित होकर, मनु की निन्दा का प्रमुख कारण बनी है। यह कोई आज की ही समस्या नहीं है, इसकी जड़ें काल की अतल गहराइयों में बहुत दूर तक गई हैं। सर्वदा से ही योग्य से अयोग्य को, उत्कृष्ट से निकृष्ट

को ईर्ष्या रहती आई है और सदा ही अयोग्य और निकृष्ट ने यही माना है कि योग्य और उत्कृष्ट उस के नैसर्गिक अधिकारों का हनन करते हुए, छल अथवा बल से, उसी को भाग भोगता है। यदि इतना पीछे न भी जाए, तब भी यहां स्मरण करा देना आवश्यक प्रतीत होता है कि **बौद्ध सम्प्रदाय** के प्रवर्तक भगवान बुद्ध ने *'धम्मपद'* और भदन्त अश्वघोष ने *'वज्रसूची उपनिषद'* में, मनु को दुहराते हुए ही, आदर्श ब्राह्मण की भूरि–भूरि प्रशंसा की है और *'जातिमात्रोपजीवी'*–कर्म–धर्म –च्युत और पाषण्डी ब्राह्मणों की निन्दा की है। यहां यह भी स्मरण रखना होगा कि भगवान बुद्ध के अधिसंख्य प्रारम्भिक शिष्य ही नहीं, स्वयं भदन्त अश्वघोष तथा अन्यान्य सभी प्रमुख आचार्य ब्राह्मण वर्ग से ही आये थे। प्रारम्भ में न स्वयं शास्ता ने ही और न उनके आद्य अनुयायियों ने ही कुछ पुराना छोड़ कर कोई नया धर्म चलाने और अपनाने का भ्रम पाला था और वे सभी विद्वान ब्राह्मणों और आर्ष सन्यासियों को जनसामान्य से मिलने वाली भिक्षा और परम्परागत् सम्मान के अधिकारी बने रहने के साथ ही, शास्ता को मिलने वाले राज सत्कार के भागी बन कर सन्तुष्ट थे। परन्तु परवर्ती काल में जब उनके अनुयायियों, जिनमें अब विदेशी भी सम्मिलित होने लग गए थे, ने अपने को वैदिक आर्ष आस्थाओं और परम्पराओं से पृथक् घोषित करते हुए, अपनी मान्यताओं को उसके विरोध में प्रतिष्ठित करके, स्वयं अपने लिए ही परम्परागत विशेषाधिकारों को प्राप्त करना चाहा होगा– बहुत कुछ उसी तरह जैसे अपनी पैतृक परम्परा को छोड़ कर बौद्ध, मुसलमान और ईसाई हो चुके लोग भी आज हिन्दू शूद्रों के समकक्ष ही आरक्षण मांगने और पाने लगे हैं–तब से ही संघर्ष का सूत्रपात हुआ था। तभी से बुद्ध के देशी–विदेशी अनुयायियों ने अपने धर्म के प्रचार–प्रसार और फलस्वरूप अपने 'विहारों' के लिए विद्वान ब्राह्मणगुरु के प्रभाव को बाधा स्वरूप मान कर, उससे द्वेष करना प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु उस समय उनका यह विरोध अधिकांशत तार्किक खण्डन मण्डन तक ही सीमित रहा है।

ब्राह्मण द्वेष और विरोध का दूसरा अध्याय **इस्लाम के आगमन** के साथ प्रारम्भ होता है। पश्चिम में अतलान्तक महासागर के तट पर स्थित स्पेन से लेकर पूर्व में सिन्धु नदी के तट तक सर्वान्तकारी इस्लाम के प्रचण्ड आक्रमणों की बाढ़ के बाद भी, यह विद्वान ब्राह्मण गुरु के तप और त्याग पूर्ण चारित्रिक गुणों और कर्तव्य–निष्ठ, जीवन यापन शैली के ही चमत्कारिक प्रभाव का फल था कि कदाचित् ही कोई हिन्दू कभी स्वेच्छा से मुसलमान हुआ हो। *'दार–उल–हर्ब'* को ही *'दार–उल–हरम* बनाने के प्रयासों में ऐसी प्रचण्ड बाधा खड़ी करने के कारण ही, दिल्ली के सूफी कहलाने वाले औलिया निजामुद्दीन के शिष्य अमीर खसुरो से लेकर आज तक मुसलमानों का ब्राह्मण द्वेष अत्यन्त मुखर रहा है। यद्यपि अबू–बिन–रिहांअल–बेरूनी के अतिरिक्त शायद ही किसी इस्लामी लेखक ने कभी जाति प्रथा के गुण दोषों की चर्चा की है, परन्तु उन्होंने 'क़ुफ़्र' का नेता और भारत के इस्लामीकरण में प्रमुख बाधा मानते हुए भी, कभी ब्राह्मणों को अन्य वर्णों का शोषक तो नहीं ही कहा है। यह कहना कि इस्लाम जाति–वर्ण भेद की

कठोरता को मिटा कर, मनुष्य मात्र की समानता और बंधुत्व दर्शा करके ही निम्न वर्गीय हिन्दुओं को आकर्षित किया था (मुहम्मद हबीब) सर्वथा असत्य है। उनका यह ब्राह्मण द्वेष किन्हीं सामाजिक विषमताओं के कारण सिद्धान्तों पर आधारित न होकर, केवल मतान्तरण में बाधक होने के कारण ही था।

भारत में इस्लाम के ब्राह्मणद्वेष की तुलना अरब में हजरत मुहम्मद के यहूदी द्वेष से की जा सकती है। हजरत ने बहुत से यहूदियों को अरब से निकाल ही नहीं दिया था, वरन बहुतों की आधी से अधिक सम्पत्ति भी छीन ली थी, बहुतों को मरवा डाला था और अन्ततः सभी को विस्थापित बना दिया था। कुर्आन में अनेकत्र उनके विरुद्ध घोर युद्ध करने की 'ईश्वरीय' आज्ञा हुई है। हदीस में भी उन्हें ढूंढ ढूंढ कर मार डालने को उचित ठहराया गया है (*सहीह बुखारी शरीफ* ५६.६४)।

अरब के यहूदी पढ़े–लिखे लोग थे और उन्होंने हजरत मुहम्मद के पैगम्बरी आडम्बर को ही नहीं पहचाना लिया था, अपितु वे उनकी आधी–अधूरी घोषणाओं और उनके संदर्भो के मूल स्रोत से भी भली भांति परिचित थे। युद्धप्रिय न होने के कारण यद्यपि उन्हें शस्त्र बल से आतंकित तो किया जा सकता था, परन्तु उन्हें पैगम्बरी के अतार्किक दावों को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था। जैसा कि सदा ही होता आया है, अधिनायक वादी आसुरी शक्तियां सर्वदा ही स्वतंत्र विचार और विचारकों से अत्यधिक भयभीत रहती आई है। और किसी का उनके द्वारा आरोपित किए जा रहे विश्वास और आस्थाओं के अस्वीकार करना उन्हें असह्य हो उठता है। अनेक कारणों में यह भी एक प्रमुख कारण था कि अरब में यहूदियों की ही तरह, भारत में ब्राह्मणों को भी इस्लामी द्वेष और कुपित अत्याचारों का भाजन होना पड़ा था। सिकन्दर लोदी के समय में ग्वालियर के बोधन पंडित की,मात्र यह कहने के लिए ही कि 'इस्लाम अच्छा है, परन्तु हमारा धर्म भी अच्छा है' की गई हत्या, जिसे वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने उपन्यास *'मृगनयनी'* में स्थान देकर अमर कर दिया है, अन्यान्य सैकड़ों–सहस्रों उदाहरणों में से एक है।

वैचारिक स्तर पर इस्लाम का ब्राह्मण–विरोध जितना ही क्षीण और नगण्य था, सैनिक स्तर पर वह उतना ही प्रखर था। विल्हेल्म फांन पोषम्मेर ने लिखा हैकि 'आर्ष जीवन मूल्यों की रक्षा करने में ब्राह्मणों के योगदान को कभी ठीक से समझा – समझाया नहीं गया है, सम्भवतः इस लिए कि इस वर्ग के अधिसंख्य लोग प्रारंभिक आक्रमणों के समय में तलवार के घाट उतार दिए गए थे। इस्लाम के भारत में प्रवेश की प्रारम्भिक कुछ शताब्दियों में भारतीय संस्कृति को सफलता पूर्वक बचाए रखने का प्रमुख श्रेय इन्हीं ब्राह्मणों को ही दिया जाना चाहिए। यह उन्हीं के चारित्रिक प्रभाव का फल था, कि बहुत थोड़े से ही व्यक्ति मतान्तरित किए जा सके है और बहुजन समाज अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति निष्ठावान बना रह सका है' (१९६१–लाल १९९२; २३६–३७ पर उद्धृत)।

ब्राह्मण विरोधी संदेश के वास्तविक वाहक तो ईसाई पंथ के प्रचारक

ही थे। सोलहवीं शताब्दी में गोआ आए हुए पादरी फ्रान्सिस जेवियर ने लिखा था कि दुष्ट आत्माओं के सहयोगी ब्राह्मणों के प्रभाव के कारण ही हिन्दू ईसाई नही बन पा रहें हैं और उन्हें ईसाई बनाने के लिए ब्राह्मणों के प्रभाव को यदि समाप्त किया जाना सम्भव न हो सके तो भी कम तो करना ही होगा (गोयल १६८६; अ.४; देखें प्रियोल्कर१६६१)। ईस्वी सन् १८२० में, लगभग इसे ही दुहराते हुए, अबे डुब्वाय ने कहा था कि दुष्टता का ब्राह्मणो सें अधिक अभेद्य दुर्ग कोई अन्य नहीं है (कुलकर्णी १६६१:३५ पर उद्धृत)। लगभग तभी से वैचारिक क्षेत्र में मिथ्या और गढ़े काल्पनिक तथ्यों के आधार पर ही भारतीय आस्थाओं और उनके संरक्षक विद्वान ब्राह्मण गुरुओं के विरुद्ध उस दुष्प्रचार का प्रारम्भ हुआ था जिसे अब मार्क्सपंथियों के साथ ही, उनका झूठा आवरण ओढ़कर, इस्लाम के मण्डनवादी प्रवक्ताओं तथा नेहरू परम्परा के धर्मनिरपेक्ष कहलाने वाले 'अधार्मिकों' ने दुहराना प्रारम्भ कर दिया है (अरुण शौरी १६६४)। सच तो यह है कि यहूदी विरोध की तरह ही, ब्राह्मण विरोध भी, ईसाई पंथ प्रचारकों द्वारा छेड़ा गया विश्वइतिहास का सबसे बड़ा मिथ्या—प्रचार अभियान है।

हमको बताया जाता रहा है कि ईसाई पंथ मानव मात्र की समानता का प्रचारक है। परन्तु ईसा के उत्तराधिकारी सेन्ट पाल ने यह कह कर कि 'हम सभी को प्रभु ईसा ने मुक्त कर दिया है, और अब किसी अन्य मुक्ति की कोई आवश्यकता नही है', दासों के मुक्ति आन्दोलन की भर्त्सना करके, इस मान्यता का थोथापन स्पष्ट कर दिया था (कोएनराड एल्स्ट १६६३:३०३)। व्यवसायाश्रित जाति वर्गो की प्रथा से ईसाईयों के असन्तुष्ट होने का कारण, उनके मनुष्य मात्र को समान मानने की भावना न होकर कुछ और ही था। इस जाति वर्ग प्रथा के अन्तर्गत सामुदायिक अंतरंगता और सामाजिक सुरक्षा ही नहीं प्राप्त होती थी, वरन संकटापन्न घड़ियों में वर्ग निष्ठ अस्मिता और एकात्मता की भावना के बलवती होने से आक्रमणों का प्रतिरोध भी सहज और सुकर हो जाता था। ईसाई पंथ प्रचारकों ने इन तीनों ही विशेषताओं को अपने प्रचार कार्य में बाधा स्वरूप समझ कर ही, वस्तुतः स्वीकार की इस पद्धित को, बहिष्कार की पद्धित के रूप में कुख्याति दिलाने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी। उच्च वर्गस्थ व्यक्तियों द्वारा किए गए तथा कथित अत्याचारों के बाद भी, निम्न अथवा हीन वर्गो के किसी एक वर्ग में स्वीकृत होना कहीं अधिक सुरक्षा और सान्त्वना प्रद था। जहां पश्चिमी एशिया के अनेक राष्ट्र और विशिष्ट संस्कृतियाँ इस्लामी आक्रमणों को सहन करने में असमर्थ होकर, नष्ट और विलुप्त हो गई हैं, वहीं वर्ग संपृक्ति सम्बद्धता के कारण ही भारतीय समाज, कितनी ही हीन दशा में क्यों न हो, अभी भी शेष है। व्यक्ति अपनी वर्ग गत परम्पराओं को न छोड़ना चाहने के कारण ही मतान्तरण के लिए प्रस्तुत नहीं होते थे, अतः ईसाई पंथ प्रचारकों द्वारा सामुदायिक मतान्तरण करा कर, उन्हें अपनी विशिष्ट परम्पराओं के पालन करने में स्वतंत्र छोड़कर, जाति प्रथा को स्वीकृति प्रदान करने में पोप ग्रेगोरी १४वें (१६२१—२३ ईस्वी) ने पहल की थी (ईश्वर शरण १६६१:४७)। अभी भी गोआ के अनेक चर्चों में विभिन्न वर्गो

के प्रवेश के लिए विशेष द्वारों की व्यवस्था इसी स्वीकृति को रेखांकित करती है (प्रियोल्कर १९६१.)। सत्य तो यही है कि ईसाई पंथ प्रचारकों के लिए सामाजिक न्याय और मनुष्य मात्र की समानता की प्रतिबद्धता एकान्तिक सिद्धान्त न होकर, मतान्तरण में सहायक मात्र एक अवसर वादी कुटिल और छद्म नीति ही थी और अभी भी है।

स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रखर होते ही, उसके लगभग सभी शीर्ष नेताओं को ब्राह्मण देख कर, अंग्रेज शासकों ने मद्रास में ईस्वी सन् १९१६ में सक्रिय सहयोग देकर ब्राह्मण विरोधी 'जस्टिस पार्टी' की स्थापना में प्रमुख भूमिका निभाई थी। यद्यपि इसका कोई विशेष राजनीतिक परिणाम नहीं हुआ था, फिर भी भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में जाति और वर्ण का प्रवेश तभी से प्रारम्भ होना स्पष्ट है (डा० रामानुजम १९८०:२७७)। ईस्वी सन् १९३७ में इसका नेतृत्व ई. वी. रामास्वामी नायकर 'पेरियार' के हाथों में आने के बाद से ही वैचारिक स्तर से उतर कर, ब्राह्मण विरोध यज्ञोपवीत तोड़ने और शिखा काटने जैसे कार्यों के साथ ही सड़क पर उतर आया था।

सत्य और निर्विवाद होने के लिए, इच्छाओं और भावनाओं के स्थान पर, इतिहास को तथ्यों और प्रमाणों पर ही आधारित होना चाहिए (लार्ड एक्टन १९०५:४५)। परन्तु पं. जवाहरलाल नेहरू और उन्हीं की छद्म धर्म निरपेक्षता वादी 'राष्ट्रीय एकीकरण'—national integration— की नीतियों की छत्रछाया में पनपने वाले अलीगढ़ी सम्प्रदाय, जो इस्लामी होने के कारण राष्ट्र के प्रति निष्ठावान होने में असमर्थ होकर ही मार्क्सपंथ का 'बुर्का' ओढ़ चुका था, के प्रवर्तक और आज के ICHR जैसे अनेक संस्थानों के निदेशक रह चुके प्राध्यापक इर्फान हबीब के पिता, श्री मुहम्मद हबीब जब कहते हैं कि 'ईस्लामी शासन की नीवं पंथ निरपेक्षता और 'सर्वधर्मसमभाव' पर ही आधारित रही है' (जियाउद्दीन बरनी के *फतवा—ए—जहांदारी* की भूमिका ६० : लाल १९९२:११५—११६ पर उद्धृत) तोकुछ सोचना और कहना आवश्यक हो जाता है।

मुहम्मद गजनवी के आक्रमणों की अवधि में सामान्य असैनिक स्त्री—पुरुषों और बालक—बालिकाओं के बर्बर हत्याकाण्ड, बलात्कार और लूट के साथ ही मृत्यु भय से हुए मतान्तरण के लिखित और पुष्ट प्रमाणों के बाद भी, जियाउद्दीन अहमद ने लिखा है कि 'इन प्रदेशों में इस्लाम अपनी आन्तरिक शक्ति के कारण ही लोगोंको मतान्तरित होने के लिए आकर्षित कर सका था' (*तबकात—ए—अकबरी* से लाल १९९२ में उद्धृत)। कनाडा के प्रिंसटन विश्वविद्यालय से ईस्वी सन् १९७८ में प्रकाशित इयाटन की पुस्तक में सप्रमाण बताया गया है कि सूफियों को हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य सद्भावना का सेतु बनाने की बात, पं० नेहरू के वरद हस्त की छत्र छाया में पलने वाले इस्लाम के निर्मलीकरण के अलीगढ़ी प्रवक्ताओं द्वारा जानबूझ कर फैलाया गया असत्य है। श्री क्यूरी ने स्वयं मुहम्मद हबीब को ही उद्धृत करते हुए लिखा है कि सूफियों के अधिकांश लेख और दीवान परवर्ती

काल की कूट रचनाएं ही हैं किन्तु जनमत (उलेमाओं के कोप?) के भय से इनकी वास्तविकता को प्रसिद्ध नहीं किया जा सका है (१६८६:२१४—लाल १६६२: १६६ पर उद्धृत)। और आज तो श्री सईद नक़वी अधार्मिक सरकारों के सक्रिय सहयोग से ही इन कूट प्रवादों को निर्विवाद सत्य कह कर दूरदर्शन पर प्रचारित कर रहे हैं।

ये तथाकथित सूफी सन्त पंथ—प्रचारक साधु कम और आसन्न इस्लामी आक्रमण के लिए सूचनाएं एकत्र करने और जन जन की आस्थाओं में अपनी छद्म मान्यताओं का प्रचार करके शिथिलता उत्पन्न कराने के अतिरिक्त, अपनी 'खानकाहों' के लिए पहले से ही पवित्र, पूज्य और प्रसिद्ध मठ—मन्दिर—विहार की पहचान करने वाले कूट सैनिक ही अधिक थे। राजनीति में हस्तक्षेप करने की इसी प्रवृति के कारण ही चौहान नरेश पृथिवी राज तृतीय को मोइनुद्दीन चिश्ती को अजमेर से निष्कासित करने का आदेश देना पड़ा था (क्यूरी १६८६:२६—३०; खान ३७; लाल १६६२:१६६ पर उद्धृत)। औलिया निजामुद्दीन का दिल्ली की गद्दी बेचने के बाद क्रेता को *'हनोज दिल्ली दूर अस्त'* कह कर आश्वस्त करना भी उनका राजनीति के खेल का खिलाड़ी होना ही सिद्ध करता है (ईश्वरी प्रसाद १६३६:४३)। इतना ही नहीं, क्यूरी ने बताया है कि बीजापुर के अधिकांश तथा कथित सूफी जिहादों में सक्रिय भाग लेकर, न केवल अपनी तलवारों को काफिरों के रक्त में स्नान ही कराते थे, वरन् उन्हें बलात् मतान्तरित कराने में भी अग्रणी भूमिका निभाते थे। प्राध्यापक कानूनगो ने भी बंगाल की प्रजा और उसके पवित्र और श्रद्धास्पद धर्मस्थलों के इस्लामीकरण के लिए वरह औलिया सम्प्रदाय के सूफियों को ही उत्तरदायी बताया है (१६६८:१५१)। श्री अब्दुल करीम इस विचार से पूर्णतया सहमत हैं (१६५८:३६—३८;१४३—१४६—लाल—१६६०:५८ पर उद्धृत) राणा प्रताप के विरुद्ध आसन्न युद्ध में भाग लेकर 'अपनी इस्लामी दाढ़ी को हिन्दू 'काफिरों' के रक्त में भिगोने' की इच्छा प्रकट करने पर मुल्ला और आलिम बदायूंनी को अकबर के द्वारा स्वर्ण मुद्राओं से पुरस्कृत किए जाने की घटना तो सुविख्यात ही है (स्मिथ १६६२:१०८)।

औलिया निजामुद्दीन के 'सेक्यूलर', आलिम और सूफी कहे जाने वाले प्रमुख शिष्य अमीर खुसरो ने 'हिन्दुस्थान, जहां इस्लाम को पूर्ण सम्मान और संरक्षण मिला हुआ है, को सुखी और पंथ का वैभव' लिखा है। और भी, उसने लिखा है कि 'हमारे मुजाहिदों की तलवारों से सारे देश को उसी तरह शुद्ध कर दिया गया है, जैसे आग से कांटों के जल कर नष्ट हो जाने बाद जंगल साफ हो जाता है.... इस्लाम की विजय हुई है और मूर्तिपूजा तिरस्कृत हुई है। यदि जज़िया लेकर प्राणदान देने का विधान न होता तो हिन्दुओं का मूलोच्छेद हो गया होता' (*आशिका*, इलियट और डॉसन, ३:५४५—४६)। उसी ने जलालुद्दीन खिलजी के हाथों में पड़ने वाले हिन्दुओं को हाथी के पैरों तले कुचलवाए जाने की घटनाओं का उल्लेख करते हुए अपनी प्रसन्नता व्यक्त की है (लाल १६६२:२२०)। अन्यत्र अलाउद्दीन द्वारा सोमनाथ का मन्दिर नष्ट—भ्रष्ट किए जाने

पर उसी ने लिखा है" अब सोमनाथ को पवित्र मक्का के सामने नत होने को बाध्य कर दिया गया है। अब टूट कर समुद्र में गिर गए मन्दिर को देखकर ऐसा लगता है कि माने पहले तो सोमनाथ ने सिजदा किया और फिर स्नान करने के लिए समुद्र में उतर गया.... कुफ्र का क्षेत्र, काफिरों का मक्का, अब इस्लाम का मदीना बन गया..... इब्राहीम के पुजारी अब ब्राह्मण पुजारियों का स्थान ले चुके हैं.... इस्लाम की तलवार ने सारे प्रदेश को उसी तरह पवित्र कर दिया है जैसे सूर्य अपने उत्ताप से पृथिवी को शुद्ध कर देता है" (गोयल १९९१:१५८ में मुहम्मद हबीब के नए अनुवाद के आधार पर)।

उसी के समकालीन काजी मुगीसुद्दीन ने 'जिम्मियों' के न्यायिक अधिकारों के सम्बन्ध में अलाउद्दीन को लिखते हुए कहा था कि 'अल्लाह ने 'कुर्आन' में काफिरों को पूर्ण रूप से अपमानित और तिरस्कृत करने की आज्ञा दी है' (बरनी: २९०–२९१–लाल १९९२:५० पर उद्धृत)। लगभग उसी समय में मिस्र से आए हुए इस्लामी विद्वान काजी शम्सुद्दीन तुर्क ने हिन्दुओं की दीन–हीन दशा के लिए अलाउद्दीन के सद् प्रयासों के भूरि–भूरि प्रशंसा की थी (बरनी २९१,२९७–८–से लाल १९९२:२५२ पर उद्धृत)।

ये तथा कथित सूफी औलिया हिन्दुओं के प्रति सदय होने के स्थान पर, मतान्तरित न होने के लिए उनकी भर्त्सना ही नहीं करते थे, अपितु अन्य इस्लामी सुल्तानों को उन पर और भी कठोर अत्याचार करनेके लिए प्रेरित भी किया करते थे। इस सम्बन्ध में शेख अब्दुल कद्दूस गंगोह द्वारा सिकन्दर लोदी, बाबर और हुमायूं को लिखे गये अनेक पत्रों से (*मक्तूबात–ए–कुद्दुसिया*, दिल्ली १८७१:४४–६,३३५–७ और ३३८–रिजवी १९७५:६३–६४ तथा लाल १९९२:२३५ में उद्धृत) से प्रचुर प्रकाश पड़ता है।

फतेहपु र सीकरी के शेखसलीम चिश्ती के सम्बन्ध में बदायूंनी(रैन्किंग का अनुवाद १८९८;२:११३) तथा पादरी मोन्सर्रेट ने अनेक आपत्तिजनक बातें लिखी हैं। इनसे इनकी नैतिक मान्यताओं का जघन्य रूप प्रकट होता है। इनके पूर्व हो चुके औलिया निजामुद्दीन भी *'नजर–ए–लल मुद'* अर्थात् सुन्दर चिकने चेहरे वाले लड़कों को घूरने (?) के दोष से मुक्त नहीं थे (रिजवी १९७८:२९७)।

हमें यह भी बताया जाता रहा है कि उच्च वर्ण, विशेषतया ब्राह्मण वर्ण,द्वारा प्रवर्तित किए गए सामाजिक अन्याय से प्रताड़ित और त्रस्त होने के कारण ही, शूद्र वर्ण की अनेक जातियों ने देश की स्वतंत्रता की रक्षा में कुछ भी योगदान न करके, मानव–भ्रातृत्व की भावना के प्रचारक इस्लाम का खुली बाहों स्वागत किया था। ईसाई, मार्क्सपंथियों और नेहरू परम्परा के छद्म धर्म निरपेक्षता वादियों की प्रेरणा और सक्रिय संरक्षण में निर्मलीकरण की प्रक्रिया अपनाने वाले इस्लामी प्रवक्ताओं द्वारा बारम्बार दुहराए जाने के बाद भी, सत्य तो यही है कि निम्न वर्ग के विभिन्न समुदायों ने इस्लामी मानव बंधुत्व के प्रचार को पूर्णतः अस्वीकार करके, देश जाति और धर्म की रक्षा में प्राणों की आहुति देने में कभी भी संकोच नहीं

किया है।

दिल्ली के दक्षिण में मेवात क्षेत्र के शूद्र माने जाने वाले समुदाय ने अपने जंगली ठिकानों से दिल्ली सुल्तानों के विरुद्ध भयंकर और व्यापक वानर—छापामार—युद्ध किया था। सुल्तानों को उनकी शरणस्थली, सारे के सारे जंगल, को कटवानेके बाद ही उनका दमन करने में सफलता मिल पाई थी। पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक तक भी उनके ऊपर इस्लाम का लेप अत्यधिक हल्का ही चढ़ पाया था और तब तक 'इनकी स्त्रियां वही गीत गातीं थीं जिनमें नारी को कूप पूजा कराने के लिए किए गए मेव वीरों के प्राणोत्सर्ग का हृदयद्रावक वर्णन है' (राहुल सांकृत्यायन, *जय यौधेय*, १६५०, प्राक्कथन)। इनका इस्लामी करण तो अभी इसी शताब्दी के पूर्वार्ध के कुछ ही दशकों में हुआ है और आज के सभी कट्टर और आक्रामक मुसलमान बलात् मतान्तरित कराए गए निम्न वर्गीय हिन्दुओं की ही सन्तान हैं।

✓ दक्षिण भारत में भी स्थिति कुछ भिन्न नहीं थी। आन्ध्र प्रदेश के रेड्डी वंश के ईस्वी सन् १३४५ के एक लेख में कहा गया है कि क्षत्रिय राजवंशों के उच्छेद के बाद, गो—ब्राह्मणों की रक्षा का भार विष्णु के श्री चरणों से उत्पन्न शूद्रों के कन्धों पर आ पड़ा था। इसी वंश के प्रथम स्वतंत्र शासक श्री वेम ने 'दुष्ट म्लेच्छों द्वारा छीने गए ब्राह्मणों के सभी अग्रहार वापस लौटा दिए थे' (*इपीग्राफिया इन्डिका* ७:६:श्लो.६—६—१२) और वह 'म्लेच्छ महासमुद्र के लिए दूसरा अगस्त्य ही' था। उसी वंश के एक अन्य लेख में श्री वेम को 'विष्णु के श्रीचरणों से उद्भूत, विजयी चतुर्थ वर्ण में उत्पन्न' बता कर कहा गया है कि म्लेच्छों के आक्रमण से पूर्व, कभी द्विजातियों द्वारा शासित प्रदेश में शासन करते हुए, उसके ज्येष्ठ पुत्र श्री अन्न वोत ने ब्राह्मणों को अनेक अग्रहार प्रदान किए थे और उसी के द्वितीय पुत्र श्री अन्न वेम ने 'शत्रु दल से देश को स्वतंत्र करा करके, विद्वानों के पोषण में प्रभूत धन का सद्व्यय किया था (वही:३:६४—६५,श्लो.५,१२,१६तथा २०)।

शूद्र राजवंशों के अनेक लेखों में चतुर्थ वर्ण में हुई अपनी उत्पत्ति को लेकर लज्जित होने के स्थान पर, उसे गर्व पूर्वक स्मरण किया गया है। श्री सिंगाया नायक केईस्वी सन १३६८ के एक लेख में कहा गया है कि द्विजों के तीन वर्ण तो प्रभु के मुख, बाहु और जंघा से उत्पन्न हुए थे, पर उन तीनों को धारण करके प्रतिष्ठित कराने के लिए ही, उनके श्री चरणों से चतुर्थ वर्ण की सृष्टि हुई थी। इस प्रकार यह चतुर्थ वर्ण, तीनों लोकों को पावन करने में समर्थ श्री गंगा के साथ ही प्रभु के चरणों से उत्पन्न होने के कारण, अन्य वर्णो की अपेक्षा अधिक पवित्र है। इस वर्ण के लोग कर्त्तव्य परायण, सुसंयतात्मा, पवित्र बुद्धि और अन्यान्य वासनाओंऔर दोषों से मुक्त रहते हुए ही, क्षत्रियों के साथ ही, भू—भार वहन करने में सतत प्रयत्न शील रहते हैं (*इपीग्राफिया इन्डिका* १३:२३६, श्लो ५—७)। एक अन्य लेख में इस्लामी आक्रान्ताओं के अत्याचारों से मुक्ति दिलाने वाले किसी श्री कपय नायक का प्रशंसात्मक उल्लेख हुआ है(वही २६१)।

यदि अलीगढी सम्प्रदाय के, इस्लामी अत्याचारों के लिए प्रतिबद्ध, छद्म

मार्क्स पंथियों की स्थापनाएं कि इस्लाम के मानव बंधुत्व से प्रभावित होकर ही हिन्दू मतान्तरण के लिए प्रेरित हुए थे (श्री मुहम्मद हबीब) या 'हिन्दू राजाओं की अपेक्षा जनता इस्लामी शासकों के अधीन अधिक सुखी और सन्तुष्ट थी,;उन पर आर्थिक बोझ पूर्व कालिक भार की अपेक्षा अत्यधिक कम था... सामान्यतया इस्लामी शासक पंथिक कट्टरता से बहुत दूर रहा करते थे' (कुरैशी, १६७१(१६४२):२०७—१३), सत्य होतीं तो हम उपरोक्त लेखों में आज निन्दा के पात्र बन चुके 'मनुवाद'का इतना घोर समर्थन न पाते। वैसाकुछ भी न होना, अलीगढ़ में पल्लवित—पुष्पित होने वाली धूर्त और पाषण्ड पूर्ण मानसिकता का भाण्डा फोड़ देता है।

इस्लाम ने जहां और जब भी विजय पाई है, मुसलमानों ने उच्च वर्ण के हिन्दुओं को तलवार के घाट उतारा है और उनकी स्त्रियों और बच्चों को गुलाम बना कर, 'उम्मा' के अधिकतम आर्थिक लाभ के लिए, विदेशों में बेचा बेचवाया है। दूसरी ओर, वास्तु विदों और शिल्पियों को, इस्लाम की कट्टरवादी विनाशकता के चलते उजाड़ हो चुके स्वदेश के पुनः सज्जित, अलंकृत और दर्शनीय बनाने के लिए गज़नी आदि स्थानों में स्थानान्तरित किया कराया है। इस हत्याकाण्ड से भयभीत हो चुके निम्नवर्ग के कर्मकरों को मतान्तरित करवाना अपेक्षा कृत सरल हो जाता था। और यही उनकी नीति भी थी। इस प्रकार जहां उनकी संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि होती थी, वहीं उन्हें डरे—सहमे और सस्ते दामों में काम करने के लिए कुशल कर्मकर भी मिल जाया करते थे। यही कारण है कि विभिन्न शिल्पों से जीविका चलाने वाले दर्जी, जुलाहे और मोची आदि वर्ग मुसलमान हो चुके हैं, वहीं इस्लाम के लिए सर्वथा अनुपयोगी समझे जाने वाले शराब या ताड़ी—बनाने, उतारने वाले शौण्डिक और पासी तथा अपेक्षाकृत घृणित कार्य करने वाले भंगी आदि वर्ग हिन्दू बने रहने दिए गए हैं।

वस्तुतः हिन्दू प्रजा ने कभी भी स्वेच्छा से इस्लाम या फिर ईसाई पंथ नहीं स्वीकार किया है और तथाकथित हीन वर्गो ने तो कभी और कदपि नहीं। जहां निम्न वर्गो ने इस्लाम को मृत्यु भय से ही स्वीकार किया था, वही ईसाई पंथ को या तो आर्थिक अनुदान के लोभ में (न्याय मूर्ति नियोगी की ईसाई मिश्नरी *गतिविधि जांच समिति, मध्य प्रदेश की रिपोर्ट*, संक्षिप्त हिन्दी संस्करण, वृन्दावन) अथवा मरियम की गोद में शिशु ईसा की मूर्ति या चित्र को यशोदा और बालकृष्ण की छवि कह कर प्रचारित किए गए भ्रम से। दूसरी ओर, संगीत आदि कलाओं के आचार्यो के वृत्ति के लिए इस्लामी दरबारों से रहे जुड़ाव के कारण भी उनका मतान्तरण सम्भव हो सका है। ऊपर मथुरा आदि प्रदेशों के वास्तु—शिल्पियों के गजनी आदि प्रदेशों में भेजे जाने का उल्लेख किया जा चुका है। भारतीय वास्तु को नष्ट करके, उन्हीं के शिल्पियों द्वारा स्वदेश में बनवाए गए स्थापत्य की शैली का अनुकरण करके भारत में फिर से बनी वास्तु कृतियों को आज इस्लामी सभ्यता की देन मानने वाले तथाकथित 'राष्ट्रीय एकीकरण'— national integration'—

के पक्षधर कम नहीं हैं। इसी प्रकार जब कोई मुसलमान शास्त्रीय कलाओं में प्रवीणता दिखलाता है तो अनेक 'धर्मनिरपेक्ष' अधार्मिक मूर्ख उसे संश्लिष्ट 'गंगा जमुनी तहजीब', के योगदान का उदाहरण मान कर प्रस्तुत करते हुए मिथ्या प्रवाद को ही जन्म देते है और भूल जाते हैं कि इस्लाम में किसी भी प्रकार के संगीत और अलंकरण का पूर्ण निषेध है। सत्य तो यही है कि ये सभी शैलियां छलबल से मतान्तरित कराए गए व्यावसायिक समुदायों की परम्परागत पद्धतियां ही है और जब कोई कलाकार कुछ पीढ़ियों पहले ईरान या तूरान से कुछ नया लेकर यहां आने की बात करता है, तब भी उसकी परम्परा कहीं न कहीं, शताब्दियों नहीं, *सहस्राब्दियों* से भारत से बाहर भेजे जाते रहे द्विज गुलामों से ही जुड़ती हुई प्रतीत होती है।

इन शिल्पियों और कलाकारों के अतिरिक्त, उच्च्य वर्ग के अनेक व्यक्तियों ने अपनी विविध हीन प्रवृतियों के कारण लोभ और हीन स्वार्थ सिद्धि के लिए ही मतान्तरित हो जाना स्वीकार किया था। इस्लाम मानने वाले स्त्री पुरुषों से यौन सम्बन्ध रखने पर मुसलमान होना ही पड़ता था। सभी पण्डितराज जगन्नाथ जितने भाग्यशाली नहीं हुआ करते थे। मुसलमान अथवा एक बार मुसलमान हो चुके व्यक्ति के पुनः मतपरिवर्तन करने पर मृत्यु दण्ड की व्यवस्था थी (राम स्वरूप १६८२:६०) और शासन सत्ता उन्हीं के हाथों में थी। अनेक बार तो सम्पत्ति के विवादों में भी इस्लामी शासकों की सहेतुकी सहायता पाने के लिए भी बहुत से व्यक्ति मतान्तरित हुए थे। इन लोगों को इस्लाम के बहु-प्रचारित बंधुत्व ने नहीं, वरन् शुद्ध असमानता ने—इस्लाम को मानने वालों के अतिरिक्त अन्य सभी को 'काफिर' मान करके ही उनकी स्त्रियों, बालक बालिकाओं और सम्पत्ति को लूट लेने — *माल ए. गनीमा* (कुर्आन ८.१., रामस्वरूप वही:१०१—०६)— की ईश्वरीय आज्ञा ने ही मतान्तरित होने के लिए प्रेरित किया था। सोलहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी ईस्वी के अनेक साक्ष्यों से सिद्ध हो चुका है कि मतान्तरित होने वाले अधिकांश व्यक्ति अपनी हीन चारित्रिक प्रवृत्तियों अथवा अन्य लज्जाजनक कृत्यों के फलस्वरूप पहले ही से समाज में अस्वीकृत हो चुके थे(कुलकर्णी १६६१ में मैक्लियोड १८७१ से उद्धृत)।

आज ब्राह्मणों और मनु को गाली देने वाले में तथाकथित जातिमात्रोपजीवी ब्राह्मण वर्ग के व्यक्ति ही सर्वाधिक मुखर हो रहे है, यथा— पं० जवाहर लाल नेहरू, सर्वश्री मानवेन्द्र नाथ राय, श्री पाद अमृत डांगे, इ.एम.स. नम्बूदिरीपाद, विश्वम्भर नाथ पाण्डेय, चतुरानन मिश्र, सोम नाथ चटर्जी, डा. रामशरण शर्मा तथा डा० ज्ञानेन्द्र पाण्डेआदि। इसका कारण इन व्यक्तियों की बौद्धिक निष्ठा और सामाजिक प्रतिबद्धता न होकर, शुद्ध अविवेक,अज्ञान और क्षुद्र स्वार्थ लिप्सा ही है। ये सभी ईसाई पंथ प्रचारकों द्वारा शताब्दियों से चलाए जा रहे प्रचार अभियान के सभी मिथ्या प्रवादों को पिछले नब्बे वर्षों के अंग्रेजी शासन की अवधि में बलात् निगल कर,अब अपने क्षुद्र और तात्कालिक स्वार्थों के पूर्ति के लोभ में,उगल रहे हैं।

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के निम्न प्रमुख दुष्परिणाम सामने आते हैं। —१. प्रत्येक मन्दिर और उससे सम्बद्ध प्रारम्भिक पाठशालाएं तथा अन्य लोक हित के कार्य ;२. विभिन्न शिल्पों पर आधारित उद्योगों पर आधरित श्रेणी संघटना; ३. तड़ाग आदि कृषि के विविध मूलभूत संसाधनों तथा ४. ग्राम्य और वर्ण—वर्ग या व्यवसायाश्रित न्याय पंचायतों का विनाश कर दिया जाना या संरक्षण के अभाव में स्वयं विनष्ट हो जाने के लिए छोड़ दिया जाना। उनके विनाश से उत्पन्न महाशून्य को अंग्रेजों ने, विभिन्न मतावलम्बियों की पारलौकिक उन्नति करने —कराने की ईसाईयों को मिले ईश्वर प्रदत्त अधिकार —whiteman`s burden— को स्वीकार करके ही, अपने सांस्कृतिक—भौगोलिक परिवेश में उद्भूत पद्धतियों को, अपने व्यापारिक हितों और स्वार्थों की सिद्धि के लिए ही, बलात् आरोपित करते हुए भी, दुखी और दीन दरिद्र बनाए जा चुके हिन्दुओं पर, कृपा के रूप में प्रचारित किया था। भारतीयों को दुखी और दीन सिद्ध करने के लिए ही, समस्त स्वदेशी उपलब्धियों को नगण्य ही नहीं, विकृत और वीभत्स भी बताया जाता रहा था। इस सोद्दश्य दुष्प्रचार को सर्वात्मना आत्मसात कर लेने के फलस्वरूप ही, आज भारतीय प्रजा में एक देश, एक धर्म ,एक संस्कृति और सभी को एक सूत्र में बांध रखने में समर्थ एक भाषा की अनन्त काल से चली आ रहीं सुप्रतिष्ठित भावना का ह्रास ही नही हुआ है, उसका अपनी परम्पराओं पर से विश्वास ही नहीं उठने लगा है, वरन् उसमें आत्मश्रद्धा का लोप कराकर, अनास्था की भावना भी भर दी गई है और अब वह अपनी मूलभूत एकता की पहचान खोकर, पं० नेहरू के संघवाद को स्वीकृत करने लगी है।

विदेशी शासकों द्वारा भारत की एकात्मता को अस्वीकार करके, उसकी बहुरूपता के कुटिल दुष्प्रचार के प्रभाव में ही, भारत के लिए संघीय पद्धति को स्वीकार करने वाले पं० नेहरू ने यहां प्रचलित विशिष्ट और स्थानीय शैलियों और पद्धतियों को ही संस्कृति का मूल तत्व समझने की भूल की थी। उनके द्वारा स्वीकृत और उनकी पुत्री ,नातियों और अन्याय परिजनों द्वारा पोषित इस मान्यता के अनुरूप ही वेषभूषा, खान—पान, नृत्य गायन और क्षेत्रीय भाषाओं जैसे विभिन्नता दर्शाने वाले तत्वों को ही संस्कृति समझकर, एक भारतीय राष्ट्र—प्रजा को अनेक में बांटने का षड्यंत्र किया जा रहा है। इसी का परिणाम है कि जब आज आर्य और द्रविड़ भाषा परिवारों को पृथक बताते हुए, संस्कृत और हिन्दी लादे जाने की चर्चा होती है, तो कोई कुछ भी नहीं कह पाता है।

अन्तरराष्ट्रवाद और मार्क्सपंथ के विषाणुओं से ग्रस्त पं० जवाहरलाल नेहरू का अध्ययन क्षेत्र अवश्य ही अति विस्तृत था, पर वे स्वतंत्र चेता और चिन्तक कदापि नहीं थे। उनकी दृष्टि भी सर्वथा एकांगी ही थी (गोयल १९९३)। नेतृत्व और प्रशासन के उत्तरदायित्वों का यत्किंचित निर्वहन करते हुए, उन्हें पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ और पढ़ने का तो क्या, उलटने का भी समय कम ही मिल पाता रहा होगा और वे विविध विषयों के अद्यतन ज्ञान के लिए स्वपोषित तथा सहयात्री मार्क्सपंथी विद्वानों द्वारा संकलित सूचनाओं पर ही निर्भर रहने

के लिए बाध्य थे। नेहरू तथा उनके परिवार और परिजनों का संरक्षण पा कर गर्वोद्धत और निरंकुश हो उठे इन मार्क्सपंथी इतिहासकारों ने, अपने चरित्र के अनुरूप ही, अन्यान्य स्वतंत्र चिन्तन और स्वविवेक का प्रयोग करने वालों की *'वाचमवधीः'*(ऐ.ब्रा.) — वाणी को रुद्ध कर दिया था। इस प्रकार उपेक्षित कर दिए जाने का ही फल है कि अनेक महत्वपूर्ण अनुसंधान इन मार्क्सपंथी मठाधीशों के चलते नेहरू के सम्मुख नहीं आ सके थे और उन्हें शासकीय उपेक्षा के कारण ही समुचित प्रचार—प्रसार नहीं मिल पाया है। आज से इक्कीस वर्ष पूर्व, ईस्वी १९७५ में प्रकाशित श्री स्वामीनाथ अय्यर की स्थापना आज तमिलनाडु के ही प्रबुद्ध जन प्रतिनिधियों को भी अज्ञात है। श्री अय्यर ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि सभी द्रविड़ संज्ञक भाषाएं, उत्तर भारत की अन्यान्य भाषाओं की ही तरह, वेद—वाणी की छत्र छाया में ही विकसित हुई है और तमिल की विशिष्टता का कारण, उसका पृथक मूल न होकर, उसमें ध्वनियों—वर्णों—की न्यूनता ही है।

प्रारम्भ में 'ईस्ट इन्डिया कम्पनी' ने अपने शासन के अन्तर्गत आए क्षेत्रों में ईसाई पंथ संघ को पंथ प्रचार करने की अनुमति नहीं दी थी। इस निषेध को निरस्त करवाने के प्रयत्न में ये प्रचारक भारत की दीन और दरिद्र दशा का काल्पनिक, अतिरंजित और वीभत्स विवरण प्रस्ततु करके (देखें, प्रोटेस्टेन्ट पंथ प्रचारकों द्वारा श्री जगन्नाथ, पुरी के विरुद्ध किया गया आवेदन और कटक के तत्कालीन कम्श्निर, श्री चार्ल्स कुल्लर का प्रत्याख्यान, अरुण शौरि १९९४: १२४—५ और १२६—३०), भारत और भारतीयों के उत्थान के लिए ही मतान्तरित कराने की पहले अनुमति और फिर आर्थिक अनुदान पाने के लिए इंगलैंड की संसद के सम्मुख आवेदन प्रस्तुत करते रहते थे। इस सम्बंध में गठित एक संसदीय आयोग के समक्ष प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए, अनेक वर्षों तक मद्रास में रह चुके, एक अंग्रेज अधिवक्ता ने कहा था : 'जब भी मैं वर्तमान दरिद्रता और दुर्दशा और फिर प्राचीन गौरव पूर्ण स्थिति को देखता हूं—जब मैं उसके वास्तु की भव्यता को, उसके मंदिरों के सुदृढ़ स्थापत्य और कलात्मक निर्माण को, बहुत श्रम और प्रभूत धन व्यय करके बनवाए गए और समस्त क्षेत्र की उर्वरता और समृद्धि में पर्याप्त वृद्धि कर सकने में समर्थ विशाल जलाशयों को, धर्म—कर्तव्य—निष्ठा से दिए दान से दूर—दूर तक लोक—हितार्थ ही स्थापित और संचालित सेवा संस्थानों को, उनके शिल्पियों की अपूर्वदक्षता और हस्तकौशल और वस्त्रादि उत्पादों की विलक्षणता को, उनके चमकदार और ओपयुक्त तथा अत्युत्कृष्ट ढंग से अलंकृत मृत्पात्रों को, उनके शास्त्रीय और लौकिक साहित्य को, उसके दार्शनिकों, साधुओं और चिन्तनशील न्यायविदों और क्षुद्रवासनाओं को निरुद्ध और दुर्गुणों को समाज से बहिष्कृत कर सकने में समर्थ नैतिक और राजनीतिक उद्‌गारों को तथा व्यक्ति को कुल, जाति और देश धर्मों के अनुरूप ही कर्तव्य निष्ठ, सुसंस्कृत, विनम्र और शिष्ट व्यवहार करते हुए देखता हूं और देखता हूं उनकी शान्त और समरसता पूर्ण जीवन यापन पद्धति को, तो मुझे 'बैपटिस्टों—अनाबैपटिस्टों' के यहां जाकर

और भारतीयों का पथ परिवर्तन करा कर सभ्य बनाने की कल्पना से आश्चर्य होता है और भय भी लगता है। आश्चर्य होता है उन प्रचारकों का अपने को भारतीयों की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत होने का भ्रम पालने पर और भय होता है कि कहीं ये अपने दुष्प्रयासों से वहां के दैव प्रदत्त विधि–विधानों का विरोध करके अशान्ति न उत्पन्न करा दें' (मजूमदार १९६५:१५२;अरुणशौरी १९९४:१९७–९८)।

शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेजों के कुटिलता पूर्ण दुष्प्रयत्नों से उत्पन्न कराए गए महाशून्य की चर्चा तो स्वामी विवेकानन्द,महात्मा गान्धी , लाला लाज पत् राय आदि अनेक मनीषियों ने की है। इनके सत्प्रयासों के बाद भी यद्यपि यह महाशून्य अभी भी भरा नहीं जा सका है, पर उसके सायास उत्पन्न कराए जाने के विषय में तो कोई संदेह नहीं रह जाता है। अंग्रेज सांसद कीरहार्डी ने अपनी *'इन्डिया'* नामक पुस्तक में लिखा था: 'शासकीय और ईसाई पंथ प्रचारकों की आख्याओं के आधार पर प्राध्यापक मैक्स म्यूलर ने अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के पूर्व के बंगाल की शिक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में बताया है कि पहले वहां प्रति चार सौ व्यक्तियों के लिए एक के अनुपात से कुल अस्सी हजार पाठशालाएं थी। 'हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इन्डिया' नामक पुस्तक में लुडलो ने लिखा है कि उन सभी ग्रामों में, जहां अभी भी पुरानी व्यवस्था चल रही है, सभी बच्चे लिखना, पढ़ना और गणित जानते हैं, परन्तु जहां हमने पुरानी व्यवस्था समाप्त करा के, अपनी पद्धति लागू कर दी है, वहां ग्राम पाठशालाएं बन्द होने लगी है (और अधिकांश बच्चे निरक्षर होने लग गए है '(अरुण शौरि १९९४;१९८)।

दक्षिण भारत में कर्नाटक प्रदेश के बल्लारि जनपद के जिलाधीश कैम्पबेल ने ईस्वी सन् १८२३ में पूर्व उल्लिखित संसदीय आयोग को दिए गए प्रतिवेदन में कहा था कि पारम्पारिक पाठशालाओं में उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी अपना अध्ययन चालू रखते हुए,छोटी कक्षाओं के विद्याथियों को पढ़ाकर जिस धन और जन की मितव्ययता का आदर्श प्रस्तुत करते है, वह सराहनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है। परन्तु अब, अंग्रेजी पद्धति के चालू हो जाने के बाद से अधिकांश बालक–बालिकाएं, पारम्परिक पद्धिति के लाभ से वंचित होकर, अशिक्षित रह जाने लगे हैं (वही)।

उसी ने शिक्षा के क्षेत्र में आए इस गतिरोध के लिए अंग्रेजी शासन के सर्वग्राही शोषण को ही उत्तरदायी माना है। उसका कहना था कि औद्योगिक क्षेत्रों में अंग्रेजी मिलों में बहुतायत से बने एक समान उत्पादों को आधिकारिक प्रश्रय और प्रोत्साहन दिए जाने की सुचिन्तित नीति के कारण ही स्थानीय शिल्पियों की आर्थिक दशा में अभूतपूर्व गिरावट आई है और इसी के साथ ही सामाजिक विषमता भी बढ़ने लगी है। इसी लिए, अब उन्हें, पाठशालाओं में शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजने के स्थान पर, बालकों के श्रम का भी, जीवययापन की मूल–भूत आवश्यकताओं को जुटाने के लिए ही, उपयोग करना अत्यावश्यक हो गया है। दूसरी ओर, स्वदेशी राजाश्रय हट जाने के फलस्वरूप ही,पाठशालाएं भी,निराश्रित होकर, बन्द होने लग गई हैं। अनेक ग्रामों में, जहां कभी विशाल पाठशालाएं

हुआ करती थीं, अब कुछ ही रह गई है। और उनमें भी बहुत थोड़े से ही विद्यार्थी रह गए हैं। ये सभी सर्वाधिक धनी और सम्भ्रान्त परिवारों के ही हैं। दस लाख की जनसंख्या वाले इस जनपद में अब मात्र सात सहस्र विद्यार्थी ही शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, परन्तु पहले,मातृ भाषा के माध्यम से सभी वर्गों के बालक पढ़ना,लिखना और गणित सीख लेते थे (पं० सुन्दर लाल १६७०,भाग२ : ६८२–७०३–अरुण शौरि १६६४:१७०–७१ उद्धृत)।

यह कहना कि शिक्षा पर उच्च वर्ग के द्विजों, विशेष कर के ब्राह्मणों का एकाधिपत्य और विशेषाधिकार था, भी ईसाई पंथ प्रचारकों के मिथ्या प्रचार का ही एक विशेष अंग है। १८–१६वीं शताब्दी ईस्वी में किए गए सर्वेक्षणों से प्राप्त सूचनाओं के अनुसार उस समय मद्रास प्रदेश की पाठशालाओं में केवल २२प्रतिशत विद्यार्थी ही ब्राह्मण वर्ग से आए थे, जब कि वैश्यों और शूद्र तथा अन्य वर्णों का प्रतिशत क्रमशः १०.४ और ६० तथा मुसलामान विद्यार्थियों का ७. २था। तमिलनाडु के दस जनपदों में ब्राह्मण, चेट्टियार और तथा कथित उच्च वर्णों का प्रतिशत १७.था और शूद्रदिकों का ७६.६ तथा मुसलमानों का ६.०० था(रामस्वरूप, २६.१.८४ *टाइम्स आफ इन्डिया* में जोसेफ डिबोना १६८३ की समीक्षा)।

इन आंकड़ों से स्पष्ट हो जाता है कि अपनी जनसंख्या के अनुपात में न शूद्र ही कम थे और न ब्राह्मण बहुत ही अधिक थे। तथा कथित शूद्रों में भी ऊंच नीच का भेद होता है, और इन आंकड़ों में निम्नतम वर्ग के विद्यार्थियों का सर्वथा अभाव नहीं है। ईस्वी सन् १८३५–३८ की अवधि में बंगाल में किए गए सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि २४२५० विद्यार्थियों में ६० चाण्डाल और ८४ डोम वर्ग के थे। माना कि इनका प्रतिशत ०.३ कुल जनसंख्या को देखते हुए, अत्यधिक कम है पर तत्कालीन इंग्लैंड और योरोप में भी सफाई कर्मचारियों के बालक –बालिकाओं की स्थिति इससे भी कही अधिक हीन थी। स्वदेशी पाठशालाओं के इन आकड़ों की डव्ल्यू.अदम द्वारा ही प्रस्तुत किए गए इसाई पाठशालाओं के आंकड़ों से तुलना करने पर, इन पंथप्रचारकों के मानव बंधुत्व के मिथ्या अहंकार की पोल खुल जाती है। उसके अनुसार, वर्द्धमान जनपद की कुल तेरह इसाई पाठशालाओं में केवल एक ही चाण्डाल विद्यार्थी था, जब कि उसी समय की स्वदेशी पाठशालाओं में उनकी संख्य ६० थी। इसके अतिरिक्त, इन्हीं पाठशालाओं में ५८ डोम और १६ मोची विद्यार्थी थे ,जब कि ईसाई पाठशालाओं में मात्र तीन ही डोम विद्यार्थी थे और मोची तो एक भी नहीं था। इस प्रकार,निम्नतम वर्गो के कुल ७६० विद्यार्थियों में केवल ८६ ही ईसाई स्कूलों में थे, अन्य सभी स्वदेशी पाठशालाओं में ही पढ़ते थे।

इससे एक बात और भी स्पष्ट हो जाती है। वह यह कि चाण्डाल, डोम और मोची बालकों के लिए पाठशालाओं के द्वारा खुले हुए थे, उन्हें शिक्षा प्राप्त करने के अवसर और अधिकार से वंचित नहीं किया जाता था और ब्राह्मण गुरु को भी उन्हें पढ़ाने में कोई आपत्ति नहीं होती थी। इन सभी निष्कर्षों के साथ ही, इन आख्याओं में कभी निम्नतम वर्ग के इन विद्यार्थियों के 'कानों' में सीसा

डालने' जैसे किन्हीं अत्याचारों का उल्लेख न होना हिन्दुस्तान और हिन्दुओं की संस्कृति के शक्तिशाली, सुविधा सम्पन्न, दुर्दान्त और प्रवंचनापूर्ण शत्रुओं द्वारा फैलाए गए कुटिल, अनीतिपूर्ण और मिथ्या प्रवादों का असत्य उद्घाटित कर देता है।

कर्नाटक प्रदेश के वल्लारि जनपद के प्रभारी श्री कैम्पबेल ने ही बताया है कि वर्ण–वर्ग भेद के होते हुए भी सभी विद्यार्थियों को समान रूप से रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थ समान रूप से पढ़ाये जाते थे। स्पष्ट ही जन जन में आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों को अक्षुण्ण रखने में समर्थ, इस स्वदेशी शिक्षा पद्धति में किसी भी प्रकार के वर्ण–वर्ग भेद को कोई स्थान नहीं दिया जाता था (रामस्वरूप, २८.१०.१९८४ *आर्गनइजर* में धर्म पाल १९८४ की समीक्षा)। 'ईस्ट इन्डिया कम्पनी' के तत्वावधान में संकलित इन सभी आंकडों की समन्विति के आधार पर ब्राह्मण विद्यार्थियों का प्रतिशत मात्र पच्चीस ही सिद्ध होता है और इससे ईसाई पंथ प्रचारकों के मिथ्या और कल्पित प्रवादों को ईश्वरीय सत्यमान कर दुहराने वाले सामाजिक न्याय के पक्षधर सभी धर्मनिरपेक्ष अर्थात् अधार्मिकों के शिक्षा पर ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व के एकाधिपत्य होने की मन्तव्य पूर्ण स्थापनाओं को किसी भी प्रकार का सर्मथन मिलता नहीं दिखाई देता है।

माध्यमिक शिक्षा के इस सार्वजनीन चरित्र और स्थिति के विपरीत, उच्च और उच्चतम कक्षाओं में वर्ग–वर्ण भेद कुछ अधिक मुखर होने लगने के प्रमाण उपलब्ध है। इन कक्षाओं में वेदादि शास्त्रों के अध्ययन–अध्यापन में ब्राह्मण वर्ग का प्रातिनिधित्व अधिक हो जाता है, और आयुर्वेद जैसे अर्थकरी विषयों, जिन्हें मनु ने आदर्श ब्राह्मणों के लिए निषिद्ध घोषित कर दिया था, में अन्यान्य वर्णों–वर्गों के विद्यार्थी ही अधिक होते थे। मालाबार क्षेत्र के ज्योतिष के ८०६ विद्यार्थियों में से ७०५ अद्विज अर्थात् शूद्र वर्ण के ही थे। आयुर्वेद के १९०में १५६ द्विजेतर शूद्र वर्ण के ही थे (कोएनराड एलस्ट १९९३:३३०)।

हिन्दू शिक्षण पद्धति में सदा ही केवल ब्राह्मण शिक्षक नहीं हुआ करता था; अन्य वर्ण के व्यक्ति भी यथावसर शिक्षा दिया करते थे। अपनी इस विशिष्टता के कारण ही जहां हिन्दू शिक्षा पद्धति सफल रही है और जीवित रह सकी है, बौद्ध शिक्षा पद्धति आज सर्वथा उच्छिन्न हो चुकी है। प्राचीन काल में दोनों ही परम्पराओं के क्रमशः तक्षशिला और नालन्दा–विक्रमशिला जैसे उच्च शिक्षा के अनेक विशाल केन्द्र थे। बौद्ध संस्थानों में अध्यापन के लिए असंख्य और पूर्णकालिक? भिक्षु सदा ही उपलब्ध रहा करते थे। परन्तु इस्लामी आक्रमणों के झंझावात के पहले ही झोंकों में ऐसे सभी शिक्षा संस्थान ध्वस्त कर दिए थे। और फलस्वरूप बौद्ध भिक्षु और उनकी समस्त शिक्षा संस्थाएं विलुप्त हो गई थीं। इसके विपरीत, अपने विकेन्द्रित स्वरूप के कारण, हिन्दू शिक्षण पद्धति पूर्णतया नष्ट होने से बची रह गई थी। गुरुकुल पद्दित–जिसमें गृहस्थ ब्राह्मण गुरु अथवा किसी शिल्प का आचार्य–थोड़े से विद्यार्थियों को अपने परिवार के साथ ही रख कर, उन्हें शिक्षा दिया करता था और इसमें किन्ही विशाल संसाधनों और संगठनों

की आवश्यकता की अनिवार्यता नहीं हुआ करता थी— के बल पर ही हिन्दू शिक्षा पद्धति इस्लामी झंझावात को झेलने में समर्थ हो सकी थीं।

यदि सहस्राधिक वर्षों के अपमान और अत्याचारपूर्ण इस्लामी पराधीनता के बाद भी १६वीं ईस्वी के पूर्वार्द्ध में अपने दुर्दिनों में भी, भारतीय शिक्षा पद्धति की ऐसी स्थिति थी, तो स्वतंत्र शासकों के राजत्व काल में तो उसकी भव्यता और उदात्तता की कल्पना ही की जा सकती है। इस कल्पना में आचार्य शंकर के प्रतिद्विन्दी मण्डन मिश्र की पाठशाला और *हर्षचरितम्* के प्रथम उच्छ्वास में दिए गए बाणभट्ट के पिता की पाठशाला के वर्णनों के आधार पर रंग भरा जा सकता है। घरों में चलने वाली इन छोटी छोटी पाठशालाओं में प्रत्येक विद्यार्थी पर समुचित व्यक्तिगत ध्यान दिया जाता था। इसी से शिक्षण की वह पद्धति स्वतः ही विकसित हो सकी थी जिसे आज पारस्परिक शिक्षण पद्धति— interactive learning— जैसे विशिष्ट और विदेशी नाम दे कर के आयात किया जा रहा है। यह व्यक्तिनिष्ठ शिक्षण पद्धति आजकल की अनेक पद्धतियों की अपेक्षा गुणवत्ता की दृष्टि से निश्चित ही श्रेष्ठ, अत्यधिक सफल, सक्षम और धन जन की दृष्टि से मितव्ययी थी। अंग्रेजों ने इस पद्धति की अनेक विशिष्टताओं को अपने सांचे में ढाल कर अपनाया था। ले० जनरल वाकर ने कहा है:" ब्राह्मणों के अनुकरण पर ही इस पद्धति को यूरोप में लाया गया था और प्रत्येक प्रबुद्ध समाज में इसी के आधार पर राजकीय पाठशालाओं की स्थापना हुई है। हमें उन लोगों का, जिनसे हमने समाज के निम्न वर्गों में शिक्षा के प्रचार—प्रसार की ऐसी सटीक और मितव्ययी पद्धति सीखी है, आभार मानना ही चाहिए '(रामस्वरूप २६. १.१६८४ में उद्धृत)।

निश्चित ही इस पद्धति के नष्ट होकर विलुप्त होने का कारण इसकी गुणहीनता नहीं है। मध्यकालीन लेखों में ऐसे वैयक्तिक शिक्षण संस्थानों को प्रचुर और प्रभूत मात्रा में अग्रहार—भूमि अनुदानों—के दिए जाने के असंख्य प्रमाण मिलते है। किसी न किसी रूप में अनुदानों की यह परम्परा १६वीं शताब्दी ईस्वी के पूर्वार्ध तक अक्षुण्ण रही थी। परन्तु बाद की बदलती परिस्थिति में अश्रुतपूर्व परिवर्तन आना अवश्यम्भावी हो उठा था। यही हुआ भी और इन संस्थानों में क्षरण होना प्रारम्भ हो गया। इस क्षरण में ईसाई पंथ प्रचारकों ने, निहित स्वार्थों की सिद्धि के लिए, अधिक तीव्रता प्रदान की थी। जहां एक और अग्रहार के रूप में भूमिदान को प्राप्त करने वाले प्रपितामह का प्रपौत्र अब भूमि—व्यवस्था में लगकर, अर्जित यश और कीर्ति को अपनी शक्ति के आधार पर अक्षुण्ण रखने में प्रयत्न शील हो उठा था (अरुण कुमार १६६६:), तो दूसरी ओर स्वदेशी राजाओं के अधिकार हीन हो जाने से अग्रहार देकर नई नई पाठशालाओं की स्थापना भी बन्द हो चुकी थी और इनके स्थान पर आयातित अंग्रेजी पद्धति की पाठशालाओं की स्थापना पर ही बल दिया जाने लगा था। ऐसा कराने के लिए ही पुरानी स्वदेशी पद्धति से विद्या प्राप्त कर चुके व्यक्तियों को सायास ही अर्थकरी नियुक्तियों से पृथक् रखा जाने लगा था और अंग्रेजी पद्धति से उपाधि प्राप्त, पर आयोग्य अथवा कम योग्य

व्यक्तियों को, उनकी अपेक्षा वरीयता दी जाने लगी थी। आज भी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हो पाया है। लेखक स्वयं भी ऐसे अनेक एम.ए., पी.एच.डी. उपाधि धारी संस्कृताध्यापकों को जानता है जिनमें स्वतंत्र रूप से एक साधारण श्लोक का अर्थ कर सकने की भी योग्यता नहीं है, परन्तु वे स्नातकोत्तर महाविद्यालयों में वरिष्ठ प्राध्यापक की वृत्ति भोग रहे हैं। और उन्हें अनेक वर्षों तक पढ़ा सकने में समर्थ विद्वान, अंग्रेजी और अंग्रेजी उपाधियों के अभाव में, साधारण पाठशालाओं में पढ़ाते हुए, समुचित जीविका के अभाव में जीने के लिए अभिशप्त हैं।

प्राचीन स्वदेशी पद्धति की अपेक्षा आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा पद्धति को अधिक जनतंत्रिक मानना भी एक मिथ्या भ्रम ही है। वस्तुतः, तथा कथित आधुनिक पद्धति को अपनाया जाना एक प्रतिगामी चरण निक्षेप ही था। अनेक सामाजिक और आर्थिक कारणों से अंग्रेजी पाठशालाओं में ब्राह्मणों का प्रातिनिधित्व पहले की अपेक्षा बढ़ गया था। ईस्वी सन् 1947 में स्वतंत्रता के बाद हुए शिक्षा के प्रसार को उसका जनतांत्रिकीकरण कहना विवादास्पद् ही है। सत्य है कि आज दरिद्र और निम्न वर्ग के बालक पाठशालाओं में कुछ अधिक आने लगे हैं, पर इन पाठशालाओं की गुणवत्ता और उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह ही लगा हुआ है। इन तथ्यों को उनकी समग्रता में देखते हुए यही स्वीकार करना पड़ता है कि शिक्षा की पारम्परिक हिन्दू पद्धति केवल समसामयिक ही नहीं, वरन् अद्यावधि ज्ञात–प्रज्ञात और प्रचारित किसी भी पद्धति की अपेक्षा अधिक सर्वजन हितकारी और जनतांत्रिक थी।

स्वदेशी शिल्प और उद्योगों को नष्ट करने में अंग्रेजो की महत्वपूर्ण भूमिका रही है (विस्तृत समीक्षा के लिए देखें, पं सुन्दर लाल, *भारत में अंग्रेजी राज,* २खण्ड, १६७० (प्र.वि.) दिल्ली)। जो रही सही कसर थी, उसे अभियान्त्रिकीकरण ने पूरी कर दी। जहां गांव–गांव में तेली, लुहार और मोची आदि हुआ करते थे, वहां अब कनोड़िया, टाटा और बाटा (और पिछले कुछ वर्षों से लिबर्टी, वुडलैन्ड और अब रीबोक) ने अपना वर्चस्व स्थापित करके असंख्य शिल्पियों और उनके परिवारों को वृत्ति हीन कर दिया है। परन्तु अब तो आलू के लच्छों और धान्यों का लावा बनाने के लिए भी विदेशी व्यापारिक संस्थानों को निमंत्रित किया जा रहा है। यह सब तो सुविज्ञात है। परन्तु, अंग्रेजी राज्य ने एक और नवीन व्यस्था चला कर स्वदेशी सामाजिक और आर्थिक शान्ति और समरसता को भंग करने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान दिया था। वह थी जमीदारी की नवीन प्रथा।

अब तक तो पारम्परिक राजे–रजवाड़े हुआ करते थे। एक वंश को हटा कर स्वयं को आरोपित करने वाला वंश भी पारम्परिक जीवनादर्शो और नैतिक मूल्यों से बंधा रह कर गो–ब्राह्मण का प्रतिपालक होने की प्रतिबद्धता के कारण ही शासन करने का अधिकार पा सकता था। एसा नहीं है कि तब अत्याचारी और निरंकुश शासक नहीं होते थे। परन्तु तब प्रजा को स्वयं या फिर किसी धर्मप्रवण पड़ोसी शासक की सहायता से विद्रोह करने की स्वंतत्रता रहती थी। यद्यपि बंगाल

में भू– राजस्व की वसूली के लिए ठेकेदारों की नियुक्ति के रूप में इस प्रथा का सूत्र पात बहुत पहले से ही हो चुका था, परन्तु ईस्वी सन् १८५७ में हुए प्रथम स्वातंत्र्य–युद्ध के असफल हो जाने के बाद, उसमें भाग लेने वाले सभी पुराने स्वदेश भक्त राजा–रजवाड़ों को उखाड़ कर, उसके स्थान पर अंग्रेजों का साथ देने के देशद्रोह के पुरस्कार स्वरूप अथवा भू–राजस्व की वसूली के लिए ठेकेदार–जमीदारों की स्थापना अथवा नियुक्ति की गई थी। ऐसे नए और पुराने, सभी राजा/ जमीदारों की निष्ठा और प्रतिबद्धता जनता के प्रति न होकर, अपनी नियुक्ति करने वाले अंग्रेजी शासन और उसके अंग्रेज साहबों के प्रति ही थी। अंग्रेजी राज्य के नए भूस्वामी अब प्रजापालन की पारम्परिक भावना से सर्वथा मुक्त होकर, अंग्रजों के प्रति अनन्य भाव से समर्पित ही नहीं थे, वरन् किसी भी प्रकार के विद्रोह की सम्भावना से भी मुक्त होकर, अपने को लोक जीवन के प्रति अनुत्तरदायी मानते हुए, प्रजा का उत्पीड़न –शोषण करने में कोई कसर नहीं छोड़ते थे। इनकी सारी ऊर्जा अब अंग्रेज शासकों को प्रसन्न और सन्तुष्ट रखते हुए, अपने लिए नए नए भोग का साधन जुटाने में ही व्यय हो रही थी।

इस प्रकार विश्रृंखल हो चुकी प्राचीन आर्थिक और राजनीतिक परिपाटी के अन्तर्गत पारम्परिक सहज सामाजिक शान्ति और समरसता भंग हो गई और समष्टि गत समन्वित जीवन पद्धति का लोप हो गया है। इसके स्थान पर निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए व्यक्ति निष्ठ व्यवस्था का आविर्भाव अवश्यम्भावी ही था। जहां सभी को खाने के ही लाले पड़े हों, वहां नित्य प्रति स्थानीय मंदिर या मठ में प्रत्येक घर से एक–एक रोटी भेज कर मठवासी शिक्षकों उपदेशकों के साथ ही थके हारे आगन्तुकों–यात्रियों के भोजन की व्यवस्था कौन करता अथवा विवाह के अवसरों पर 'नैवेद्य' अथवा 'बनावा' देने की चिन्ता किसे थी (जनसत्ता के वार्षिक विशेषांकों में श्याम आचार्य के सम्पादकीय के आधार पर कन्हैया लाल नन्दन का 'दिया दूर नहिं जात, *दैनिक जागरण* १५.७.९६)? अब सभी को अपनी और अपनों की ही चिन्ता करने की पड़ी थी। यह स्वाभाविक तो था , पर वांछित तो किसी प्रकार से भी नहीं कहा जा सकता है। अर्थशुचिता के बहुप्रशंसित आदर्शों के होते हुए भी, जब यह प्रवृत्ति अपनी चरम स्थिति को प्राप्त हो जाती है, तब ही बोफोर्स, हर्षद, हवाला, ब्रेउर्स इंजन ,चारा,यूरिया आदि काण्डों के उत्पन्न होनेका सकंट आ खड़ा होता है। और तभी चोरी के धन और अन्यान्य वस्तुओं की छीना झपटी और बंटवारे में सहायता पाने के लिए अपने दल के संख्याबल के आकलन की अन्तहीन श्रृंखला प्रारम्भ हो जाती है।

जीवन के किस क्षेत्र में किस वर्ग या दल के व्यक्ति कितने अधिक है और कितने कम, इसकी गणना न करके, सामाजिक न्याय की वास्तविक प्रतिष्ठापना के लिए हमें देखना होगा किस किस क्षेत्र में कितने अयोग्य घुसे हुए है और राष्ट्रीय जीवन की हानि कर रहे हैं। दूसरी तरह से कहें तो मनु के शब्दों को दुहराते हुए ही कहना होगा कितने हीन वर्ण व्यक्ति श्रेष्ठ की वृत्ति को अपना कर अव्यस्था

फैला रहे है? यह देख समझ कर ही इस विषम असमानता को दूर किया जा सकता है। प्रारम्भ से ही ब्राह्मणों की प्रधान वृत्ति अध्ययन अध्यापन रहने के कारण ही उनका शिक्षा से ही नहीं, उच्च शिक्षा से भी स्वाभाविक जुड़ाव रहा है। आधुनिक काल में, जब से उनकी यह वृत्ति प्रायः समाप्त कर दी गई है, तब वे अन्य स्रोतों की खोज करते हुए भी, किसी न किसी प्रकार शिक्षा से जुड़ रहे है और इसी लिए अनेक क्षेत्रों में अग्रणी बन सके हैं। इसी प्रकार पढ़ लिख कर शासन की सेवा मुख्यतः कार्यस्थों की ही वृत्ति थी। जब भारत स्वंतत्र था और शासक स्वदेशी थे, शासन की भाषा स्वदेशी थी, तब यही कार्यस्थ संस्कृत में नैपुण्य प्राप्त करके शासन की सेवा किया करते थे। (देखें, चन्देल राजाओं के समय में सुभट वास्तव्य का अजय गढ़ के पास लगवाया गया संस्कृत लेख, शिवप्रसाद सिंह, *कुहरे में युद्ध*,प्रस्तावना पृ १४—१५)। मध्य काल में जब विदेशी सुल्तानों ने फारसी और अरबी को राज्यभाषा के रूप में प्रश्रय दिया, तब उन्होंने उन भाषाओं में विशेष योग्यता अर्जित करके शासन मेंअपना स्थान सुरक्षित रखा था। फिर अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ ही उन्होंने अंग्रेजी में विदग्धता प्राप्त करने में कुछ उठा नहीं रखा था। सच तो यही है कि सहस्राब्दियों से इनके लिए खुली रही राजसेवा की वृत्ति में ही अपना अपना पारम्परिक व्यवसाय छोड़ कर आए सभी व्यक्तियों को आरक्षण दिया जा रहा है। और उन छूटे हुए व्यवसायों के लिए विदेशियों को निमंत्रित किया जा रहा है। जैसा कि ऊपर वल्लारि के जिलाधीश के संदर्भ से बताया जा चुका है, पारम्परिक पाठशालाओं के स्थान पर स्थापित किए गए अंग्रेजी स्कूलों में दस लाख की जनसंख्या वाले क्षेत्र के केवल अति धनी वर्ग के मात्र सात सहस्र बालकों को ही शिक्षा मिल रही थी। इससे तो यही प्रकट होता है कि शिक्षा पर धन और फिर सम्पर्क की पकड़ का सुदृढ़ होना प्रारम्भ हो गया था। और तभी से लोक में आर्थिक के साथ सामाजिक विषमताएं बढ़ने लगी थीं।

स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद शिक्षा के प्रचार—प्रसार के लिए बहुत आंसू बहाए गए हैं। परन्तु उचित प्रयास कभी भी नहीं किया गया है। जो कुछ हुआ है, वह झुनझुना पकड़ा कर बच्चे को बहलाने, रोना बन्द करवाने ,जैसा ही रहा है। उससे जहां लोक में उपाधियों का व्यापक वितरण सम्भव हो सका है, वहीं शिक्षा के क्षेत्र में गुणवत्ता की ओर ध्यान न देकर—अथवा जान बूझ कर ही?—असमानता ही बढ़ाई गई है। लेखक को भली भांति स्मरण है कि ईस्वी सन् १९६७ में प्रथम बार शिक्षा राज्य मंत्री बने सज्जन ने सभी बालकों को अपने घर के समीपतम स्थित पाठशालाओं में ही पढ़ाने का सुझाव देकर समस्त गुण हीन विद्यालयों को सुधारने '—सुधरवाने में जन—जन की चिन्ता और प्रयास को आमंत्रित करने का असफल किन्तु सार्थक और स्तुत्य प्रयास किया था। पर हुआ उलटा ही। कहा गया है कि 'power corrupts and absolute power corrupts absolutely'। कुछ दिनों तक मन्त्रिपद की सुविधा भोग कर लेने के बाद जहां उनकी सामाजिक चिन्ता को मुर्चा लग गया, वहीं उनका दल, कांग्रेस, अपने प्रथम

प्रधान मंत्री की नीतियों पर चलता रहा है।

अर्न्तराष्ट्रीयता के दंश से दंशित तथा एटन और हैरो में पढ़ते समय सुसंवर्धित आभिजात्य संस्कारों के कारण ही एकाएक राष्ट्र नायक बना दिए गए पं० जवाहर लाल नेहरू ने, भारतीय परम्परा के अनुसार सर्वाधिक महत्वपूर्ण, शिक्षा के क्षेत्र को सर्वथा अनुपयोगी समझ कर ही उसकी उपेक्षा कर दी थी। इसी लिए उन्होंने शिक्षा मंत्रालय को सदैव ही भारतीय संस्कृति से सर्वथा अनजान ही नहीं, वरन् उसके द्वेषियों और विरोधियों को ही सौपा है और सदा ही अपना ध्यान श्रम और श्रमके अभियांत्रिक उपकरणों और संयोजनों मेंही लगा कर, उनके विशाल निर्माणों की ही नवीन युग के मंदिर और तीर्थ घोषित किया था। शिक्षा की यही अवमानना की नीति उनके बाद भी चलती रही है। इंगलैंड़ में पले—बढ़े उनकी पुत्री और नातियों के शासन की अवधि में भी, सुशिक्षा के सार्वभौम और व्यापक प्रचार—प्रसार के स्थान पर, एटन और हैरो के अनुकरण पर ही स्थापित किए गए दून और अजमेर जैसे अभिजात वर्गीय प्रतिष्ठानों और जे.एन.यू. जैसे उच्च शिक्षा संस्थानों की स्थापना करने पर ही बल दिया था। और इनमें भी मार्क्सपंथियों को जुटाया गया था। इससे एक ओर तो अपने वर्ग की सत्ता को अक्षुण्ण रखने में सफलता मिल सकी थी, तो दूसरी ओर एक ऐसा वर्ग भी उत्पन्न होने लगा था जो समस्त सुख—सुविधाओं को भोगते हुए मार्क्स के सामाजिक न्याय की प्रतिबद्धता के समस्त सिद्धान्तों और तर्को को अत्यन्त मोहक ढंग से प्रस्तुत करते हुए न केवल अपने को लोक का हितेच्छु बताने में सफल हो, किन्तु वरन् उसकी आस्थाओं और परम्परा की जड़ों में मठ्ठा भी डाल सके। इस अभिजात वर्गीय शिक्षा पर ही सारे संसाधनों को लुटा देने के दुष्परिणाम स्वरूप ही लोक शिक्षा के प्रयासों में बाधा उत्पन्न हुई है। फलस्वरूप जन सामान्य को अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित अध्यापकों से, पुस्तकालय और प्रयोगशाला विहीन विद्यालयों में पढ़वा कर, विद्या के स्थान पर उपाधि का झुनझुना बजाने के लिए मुक्त छोड़ दिया गया था। अब उच्च और धनी वर्ग ही नहीं, नवधनाढ्य वर्ग, चाहे वे नेता हों, तस्कर हों या फिर आरक्षण की वैसाखी पर चढ़कर आए और प्रोन्नत हुए अधिकारी हों, भी मैकाले प्रतिपादित अतिविशिष्ट वर्गीय शिक्षा को धन बल से खरीद करके बहुत ऊंचा उठ गया है। और सामान्य संस्थाओं में पढ़कर बहुजन समाज और भी नीचे धंस गया है। इसके भी दो दुष्परिणाम हुऐं है— एक तो, सत्ता की परिधि मे रहने वाले ये व्यक्ति, इन अभिजात वर्गीय शिक्षा संस्थानों में पढ़कर, अपनी परम्पराओं से कटते हुए, मात्र रंग—रूप में ही हिन्दुस्तानी रह गए हैं, वहीं उपाधिधारी व्यक्ति जहां अपने पारम्परिक पैतृक व्यवसाय से कट गए है, वहीं वे अपनी अयोग्यता के कारण ही उपाधि के अनुरूप वृत्ति को न पाकर कुठांग्रस्त होने लगे हैं। अब कुठांग्रस्त बेकारों को इसी भीड़ को नेतृत्व प्रदान करने की प्रतिस्पर्धा में जातीय संघर्ष को उभारने का प्रयास किया जा रहा है।

जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही कहा था, हमने एक निदानी की तरह ही
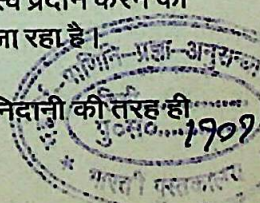
केवल रोग के लक्षणों का अध्ययन और विश्लेषण करके उनके निर्भ्रान्त कारणों को ढूंढ़ने का प्रयत्न करना चाहा था। हमारे विश्लेषण का फलितार्थ यही है कि भारतीय समाज की समस्त विसंगतियों का मूल कारण आत्मश्रद्धा का विनाश है और इस आत्मश्रद्धा के विनाश का एकमेव कारण हमारी शिक्षा व्यवस्था का ध्वस्त किया जाना ही है। मनु का मूल मन्तव्य, सर्वोत्कृष्टता की साधना का सिद्धान्त, जन्म की आकस्मिकता पर आधारित न होकर, तप पूर्वक अर्जित विद्या और संस्कार—योग्यता—से ही प्राप्त किया जाना ही था। इस स्थिति को लौटा लाने के सम्बन्ध में विद्वान और सुधी पाठकों के विचारार्थ कुछ सुझाव प्रस्तुत करने की धृष्टता करना चाहूंगा।

यद्यपि सरकारी प्रचार माध्यमों में *'अब हम सब के उठ खड़े होने का वक्त आ गया है'* और *'चार कदम सूरज की ओर'* जैसे सस्ते नारे नित्य ही सुनाए जा रहे है, पर उस दिशा में किया कुछ भी नहीं जा रहा है। इन्हीं अदृश्य प्रयासों पर कटाक्ष करते हुए ही किसी कवि ने कहा है—

गूंगे भी बात करते हैं बहरों की चौपालों में,
घूम रहे हैं' आजाद लुटेरे, पहरेदार हैं तालों में।
चार कदम सूरज की जानिब ले जाने वालों से पूंछों,
कितनी रकम मिली है उससे, कौन है जाने वालों में।

प्रत्युत जो कुछ भी किया जा रहा है, वह तो सभी को एक साथ बैठाने का ही नहीं, वरन् सुलाकर अवनति के अतल अंघ कूप में ढ़केलने का ही आयोजन अधिक प्रतीत होता है। आज कल भारतीय बहुजन समाज से एकत्र किए गए धन से चलाए जा रहे दूरदर्शन आदि सभी राजकीय प्रचार माध्यमों से परिवार के लिए कह कर प्रसारित किए जा रहे सभी तथाकथित ज्ञानवर्धक कार्यक्रम आंग्ल अथवा आंग्ल बहुला भाषा में ही हो रहे है। मात्र कामुक दृश्यों से भरपूर और अवचेतन को सम्मोहित करके अचेत सुला देने वाले कार्यक्रम ही मातृ भाषा में दिए जा रहे है। यह तो उठाकर खड़े होने के स्थान पर, बैठे हुए को भी लिटा देने का ही अयोजन हैं । इसके कारण बहुत है, अवरोध अनेक है। उनमें से कुछ प्रमुख बाधाओं का उल्लेख करके, उनके निराकरण के उपाय प्रस्तावित किए जा रहें है।

१ विदेशी ईसाई पंथ प्रचारकों के मिथ्या प्रवाद और प्रचार को दुहराते हुए ही हमे बताया जाता रहा है कि इस देश में कभी भी एक भाषा का व्यवहार नहीं रहा है। असत्य का निर्णय करने में सहायक प्रमाणों को न दुहराते हुए भी, हम जुलाई, १८५३ ईस्वी सन् में अंग्रेज संसद के पूर्व उल्लिखित आयोग के समक्ष संस्कृत का पक्ष प्रस्तुत करने वाले आक्सफोर्ड के प्राध्यापक होरेस एच. विल्सन की बात को ही दुहराना चाहेंगे। उसने कहा था कि' कोई भी संस्कृत का ज्ञाता शीघ्र ही क्षेत्रीय भाषा का श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्तकर लेता है।... बंगाल में व्याकरण के

आधार पर बंगाली भाषा नहीं सीखी—सिखाई जाती है। वस्तुतः, अंग्रेजों द्वारा अपने अधिकारियों की सुविधा के लिए रचे गए व्याकरणों से पूर्व, क्षेत्रीय भाषाओं का व्याकरण कभी था ही नहीं। बंगाली सीखने के लिए लोग संस्कृत सीखते थे। संस्कृत का विद्वान सुन्दर और शुद्ध बंगाली लिखने, पढ़ने और बोलने में अनायास ही स्वतः समर्थ हो जाता था'। उसी ने गणना करके बताया था कि 'तत्कालीन पाठ्य पुस्तक, बंगाली हितोपदेश, के प्रारम्भिक एक सौ सैंतालीस शब्दों में केवल पांच शब्द ही संस्कृतेतर भाषाओं' के थे। क्षेत्रीय भाषाओं से संस्कृत के सम्बन्ध में पूछे गए एक प्रश्न के उत्तर में उसने कहा था कि 'उत्तर भारत की सभी भाषाओं की मूल प्रकृति—शब्द सम्पत्ति—संस्कृत ही है। और यद्यपि दक्षिण भारत में ऐसा नहीं है, तब भी मालाबार के दूरस्थ प्रदेश में भी अस्सी प्रतिशत शब्द संस्कृत से ही लिए गए हैं' (अरुण शौरि १९६४:१७५ में उद्धृत)। प्राध्यापक विल्सन के कथन के परिप्रेक्ष्य में, अंग्रेजी के स्थान पर संस्कृत की शिक्षा को अनिवार्य करके, जहां एक ओर सम्पूर्ण देश को पुनः एकात्मता के सूत्र में बांधा जा सकेगा, वहीं राष्ट्रभाषा की समस्या भी सुलझाई जा सकेगी।

२. क्षुद्र स्वार्थ बढ़ रहे हैं और उनकी पूर्ति के लिए निकृष्टतम साधनों को अपनाया जा रहा है। नेता अपनी सन्तान की जननी को छलपूर्वक निराधार छोड़ कर, जहांगीर की ही तरह शेर अफगन की हत्या करवा करके, मेहरून्निसा से विवाह करने के दुष्कृत्य को दुहराते हुए ही, परकीया के मोह में पागल हो रहे हैं। सम्पत्ति जो किसी के साथ नहीं जाती है, के लोभ में पड़कर, अपनी जननी से ही द्रोह कर रहे हैं। जो कुछ स्वर्ण खण्ड़ों के लिए अपनी जननी का ही नहीं हो सका, वह 'जननी जन्मभूमि' का ही कैसे हो सकेगा? राष्ट्रनायक, उत्कोच लेकर, देश और देशवासियों को बेचते हुए, अपनी जेबें भर रहे हैं। देश के अन्य तथाकथित कर्णधार वोट पाने के लिए, विदेशों से अनुप्राणित देश द्रोहियों और विधर्मियों का तुष्टीकरण करते हुए, न केवल उन्हें देश की सुरक्षा का भार ही सौंप रहे हैं, वरन् स्वयं भी टूटते हुए, भारतीय हिन्दूसमाज में समरसता और सौमनस्य उत्पन्न कराने के प्रयासों का विरोध करके, उसे और भी विश्रृंखल करने के लिए हल्ला बोलना—बुलवाना चाह रहे हैं। हमें इन सबकी दुरभिसंधि को भली भांति पहचान कर, एसे सभी क्षुद्र और स्वार्थ लोलुप व्यक्तियों को, देश और राष्ट्र को और अधिक हानि पहुंचाने का अवसर न देते हुए, बलात् ही सत्ता के केन्द्र से हटाना होगा।

३. जैसा कि वल्लारि जनपद के श्री कैम्पबेल ने कहा था, अंग्रेजी स्कूलों में थोड़े से विद्यार्थी ही पढ़ पा रहे है जब कि मातृ भाषा के माध्यम की पाठशालाओं में पढ़ कर सभी शिक्षित किए जा सकते हैं। आधुनिक युग के अन्यतम विद्वान, तपस्वी और वेदविद्या के धनी विचारक, ऋषिकल्प स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पढ़ने पढ़ाने पर अभूत पूर्व बल दिया था। स्वयं गुजराती भाषा भाषी होते हुए भी, हिन्दी सीख कर, उसका सायास प्रयोग करके, उन्होंने अपने इस आग्रह को

क्रियात्मक रूप देने में सार्थक पहल की थी। पर आज अंग्रेजों से मुक्त होने के पचास वर्ष बाद भी हम अंग्रेजी की दासता में बँधे चले जा रहे हैं। आज न केवल विदेशी भाषा मे माध्यम से शिक्षा देने वाली, वरन् विदेशी भाषा के आधे अधूरे ज्ञान के आधार पर रखे गए नामों वाली, शिक्षण संस्थाओं की बढ़ती भीड़, नेहरू परिवार की विदेशी—प्रियता के संस्कारों को और भी आगे बढ़ा रही है। सरकारी प्रचार माध्यमों से सभी ज्ञान वर्द्धक कार्यक्रमों को अंग्रेजी में ही प्रसारित करके, बहुजन समाज को ज्ञानवान बनाने की प्रतिबद्धता को झुठलाया जा रहा है। हमें इस षड़यंत्र को भली भांति समझना होगा और सस्ते नारों के छलावों से ऊपर उठकर, हठ पूर्वक मातृ भाषा को शिक्षा का माध्यम बनवा कर,उसे उसके गौरवपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित कराना होगा और रंगरूप से ही हिन्दुस्तानी रह गए लोगों की दुराभिसंधि को विफल कराना होगा।

४. पढ़ने—पढ़ाने के नाम पर 'साक्षरता' जैसे थोथे अभियान चला कर जनता का धन नष्ट करने के स्थान पर, व्यापक सुशिक्षा की व्यवस्था करनी करवानी होगी। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ ही इस क्षेत्र में प्रारम्भ होने वाली धन और सम्पर्क की जकड़न स्वंतत्रता के पचास वर्ष बाद भी किंचित् मात्र भी ढीली नहीं हुई है। सुशिक्षा तो दूर, शिक्षा को भी सार्वभौम बनाने के स्थान पर, लोगों को अशिक्षित अथवा अर्द्ध शिक्षित रहते हुए भी, उपाधि और पद वितरित करके,प्रशिक्षण संस्थानों की प्रवेश परीक्षा में एक या दो अंक तक पाने पर भी प्रवेश दिला कर अथवा अब तो असफल रह जाने वाले छात्रों को भी उपाधि और वृत्ति देने का आश्वासन देकर, अशिक्षित ही बने रहने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। अब बहुजन समाज को यह भूलने के लिए विवश किया जा रहा है कि मनुष्य विद्या पाकर ही विशिष्ट बनता है— *विद्यातः पुरुष विशेषो भवति* (यास्क १:१६,. उसे पाकर ही उसकी सम्पूर्ण मनोकामनाएं पूर्ण होती हैं—*विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः* (श. ब्रा. १०.४.४.१६)। और भी, विद्या जैसी कल्पलता से क्या क्या सिद्धि नहीं मिलती—*किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या (भोज प्रबन्ध ५)*। इस लिए अब भारतीय बहुजन समाज को अपनी तन्द्रा त्याग करके, इस पाषण्ड का सफल विरोध करते हुए, सम्पूर्ण भारत में समान गुणवत्ता पूर्ण, सर्वव्यापक और निः शुल्क शिक्षा तथा उसे ग्रहण करने की समार्थ्य अथवा पात्रता के अनुरूप पाने के सार्वभौम अधिकार की मांग उठा कर, उसे मनवाना ही होगा। तभी जन्म की आकस्मिकता के स्थान पर सायास अर्जित योग्यता और फिर सर्वोत्कृष्ट गुणों के आधार पर वर्ण विभाजन का वास्तविक आधार पुनः सुप्रतिष्ठत हो सकेगा। इसकी सार्वकालिक प्रतिष्ठा के लिए, पूर्वजों द्वारा अर्जित उपाधियों अथवा उनके व्यवसाय सूचक अभिधानों के प्रयोग का आत्यन्तिक निषेध करके, व्यक्ति को उसके निजी नाम और वैयक्तिक गुणों के आधार पर ही पहचानना—पहचनवाना अनिवार्य भी करना—करवाना होगा।